

पातञ्जलयोगसूत्र की संस्कृत-व्याख्याओं

का

एक आलोचनात्मक अध्ययन

[A Critical Study of Sanskrit Commentaries
on Pātañjala Yoga-Sutras]

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० उपाधि के लिये शोध-प्रबन्ध)

सोधकर्ता

नीलकण्ठ श्रीवास्तव

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद



निर्देशक

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अगस्त १९७३

में उन सभी विद्युत्-ऊर्जाओं के प्रति हार्बिक जागरूक करती हुई जिनके उपयोग से ऐसी अर्थबोध, उद्योग एवं सेवाओं के दृष्ट में सहायता होती है । उन सभी महासुधारों के प्रति भी हार्बिक कुतन्त्रता व्यक्त करती हुई । जिनकी सहायताओं से मुझे सबसे शीघ्र-कार्य में प्रबल उत्साह मिलता रहा है । अपने दूर्य प्रतिवेक के प्रति भी मैं अपना अदृष्टा समन्वित प्रयत्न साँझित करती हुई जिनकी उद्योगवर्धन-श्रेणियों और जिनके असाध्य उपयोग से तु इसी की अनेक कठिनाइयों एवं बाधाओं को पार करने हुए मैं इस शीघ्र-कार्य को पूरा कर सकने में सफल हो सकी ।

अब मैं, मैं अपने टैक प्रबोध के प्रति जागरूक प्रवर्धित करती हुई जिनकी बड़ी लगन एवं अतिशय मनोयोग के साथ टैककार्यालय किया । टैक प्रवर्धित में टैककार्य की प्रवर्धित के कारण बंधनकारक को अनुभवार्थिक के प्रकार ही प्रकट करना पड़ा है । विद्युत्-ऊर्जा इसके लिए क्या करेगी ।

नीतम सीधास्तुतः

		<u>पृष्ठसंख्या</u>
<u>प्रथम अध्याय</u> (ऐतज्यप्रवेश)	पारतन्त्रयोगसूत्र	
	1 - योगसूत्रों का स्वरूप	2 - 4
	2 - योगसूत्र का रचनाकाल	4 - 14
	3 - योगसूत्र का स्वरूपगत वैशिष्ट्य	15
<u>द्वितीय अध्याय</u> -	योगसूत्र की व्याख्याओं का स्वरूप	
	1 - योगसूत्र की व्याख्याएँ	16 - 24
	2 - योगसूत्र की व्याख्याओं का कर्तृत्व निरूपण एवं कालनिर्धारण	24 - 44
<u>तृतीय अध्याय</u> -	व्याख्याओं की श्रमभरती	45 - 74
<u>चतुर्थ अध्याय</u> -	व्याख्याओं के योगविषयक सिद्धांतों की तुलनात्मक समीक्षा एवं शास्त्रीय- संगीत का निर्णय ।	
	1 - योग का महत्त्व	75 - 89
	2 - बुद्धिनिरोध	90 - 98
	3 - बुद्धिनिरोध में दुर्लभतास्वरूप	99 - 109
	4 - बुद्धिनिरोधों का स्वरूप	110 - 119
<u>समाधि-पाठ</u>	5 - योग के उपाय	120 - 143
	6 - सञ्जयसमाधि	144 - 161
	7 - असञ्जययोग	162 - 183
	8 - ईश्वर का स्वरूप निरूपण	184 - 205
	9 - योग के विघ्न	206 - 218
	10 - समाधील	219 - 238
	11 - सतम्बरप्रणव	233 - 239
	1 - ऋषियोग की उपयोगिता	240 - 245
	2 - कर्मोत्तमदुष्कर्म	246 - 254
	3 - गुरुबुद्धिनिरोध अथवा गुरुबुद्धिनिरोध	255 - 297
<u>सप्तमपाठ</u>	4 - वृत्तवर्षा का स्वरूप तथा हेतु	257 - 263
	5 - संधेय का स्वरूप तथा हेतु	264 - 275
	6 - शक्तिप्रथा विकल्पप्रति	276 - 280
	7 - प्राप्तभूमिप्रकाश	281 - 288

	- 8 - योग के आठ अंग	289	- 293
	9 - अस्मन	294	- 297
	10 - प्राणायाम	298	- 306
	11 - योग के त्रिविध साधनों की व्यवस्था	307	- 313
	1 - धारणा, ध्यान और समाधि तीनों सम्बन्धित-योग के अन्तरंग साधन हैं और अस्मत्काल के अन्तरंग । कैसे ?	314	- 319
विश्रुतिपाठ	2 - योगसाधना काल में होने वाली चित्त के परिवर्तनों का वर्णन	320	- 336
	1 - निर्माणाद्य और निर्माणादित्त का विवेचन	337	- 348
कैवल्यपाठ	2 - चर्मोपलसमाधि	349	- 356
	3 - क्रम का स्वल्प	357	- 364
	4 - कौशल का स्वल्प	365	- 378
<u>पंचम अध्याय</u>	- व्याख्यानों का प्रायोगिक महत्त्व	379	- 398

<u>श्लोक का पूर्ण रूप</u>	<u>अपूर्ण रूप</u>
तन्वक्षेत्रात्तरी	त०वे०
पार्तयलयोगसूत्रपुक्ति	प०यो०सू०पृ०
योगवार्तिक	यो०वार्०
योगदीपिका	यो० दी०
योगसूत्रार्थवृत्तिनी	यो०सू०वृ०
योगसिद्धान्तचन्द्रिका	यो०सि०च०
संक्षिप्तनारायणनाथ	सं०न०ना०

विषयसूची

सर्वविद्ययात्म पर आधारित इस योग प्रक्रिया का स्वच्छ बने ही उपनिषदों गीता और महाभारत श्रृंखला में यज्ञ-तन्त्र विद्यारा हुआ मिलता है किन्तु इस सर्वविद्ययात्म योग प्रक्रिया के स्वच्छ का व्यवस्थित एवं स्पष्ट विवेचन व्याख्यान और निर्धारण पतञ्जली के पूर्व कहीं की दृष्टिगोचर नहीं होता । पतञ्जली के पूर्व भी योगशास्त्र के अनेक ज्ञाता और उपदेश्य अधित या द्विरव्यगर्ष के परचात् भारत में हो चुके थे, जिनमें से विश्वार्थ गौतम को सर्वविद्ययोग की शिक्षा देने वाले क्षतारकलाय ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं । किन्तु इनमें से किसी ने योगप्रक्रिया को व्यवस्थित रूप में प्रवचन नहीं किया । यह वेद महर्षि पतञ्जली को प्राप्त हुआ । पतञ्जली के इस महानोद्य एवं युगधर्मात्मक ग्रन्थ को 'पातञ्जल योगसूत्रम्' 'पातञ्जल योगशास्त्र' और 'पातञ्जल योग-सूत्र' श्राव्य नामों से जाना जाता है ।

योगसूत्र का स्वच्छ
१९६६-६७ ७७-७७७७७७७७

पातञ्जल योगसूत्र में कुल 195 सूत्र हैं, जिनमें चारपादों में विभक्तित करके प्रस्तुत किया गया है । प्रथमपाद में कुल 51 सूत्र हैं । विषय-विवेचन के आधार पर इसपाद का नाम 'समाधि-पाद' रखा गया है । इस पाद में अघोषित विषय प्रतिपादित किए गए हैं । योगशास्त्र का प्रारम्भ, योग का लक्षण एवं पन्त, चित्त-वृत्तियाँ, योग के उपाय अभ्यास और बेराय, समकाल-समाधि, असमकालसमाधि, समाधि-सिद्धि की आत्मानन्द, ईश्वरप्रविचलन, ईश्वर निष्ठा, योग के अन्तराय, चित्त के परिचर्य, सतुर्विध समापत्तिवर्णन, निर्निचारात्मसमापत्ति का उत्कर्ष, सतम्भरायज्ञ, सतम्भरायज्ञान्य संस्कार तथा निरोधसमाधि इत्यादि विषय क्रमशः सूचित किए गए हैं ।

द्वितीय-पाद का नाम साधन-पाद है । इसमें कुल 55 सूत्र हैं । पाद के प्रारम्भ में ही यह निर्देश दिया गया है कि व्युत्थितचित्त वाले साधक भी योग प्राप्त कर सकते हैं । सूत्र उनकी चित्तवृत्ति बचत होती है अतः उसके निरोध के लिए क्रियार्यों का अनुष्ठान अनिवार्य है अघोषित है । इस पाद में क्रमशः अघोषित विषय सूचित हुए हैं ।

क्रियायोग, पञ्चकोशवर्णन, अविद्यानिवृत्त, अविमलतन्त्र, रागताम्र, द्वेषनिवृत्त, अविनिवेशतन्त्र, शैवीनिवारणस्वच्छ, कर्माशयनैव, कर्मलोपिद्यान्त, दुःखपाप का विवेचन, हेयनिवृत्त, हेयहेतुनिवृत्त, दुःखस्वच्छ निवृत्त, इन्द्रस्वच्छनिवृत्त, इन्द्र की निवृत्त का वर्णन, प्रकृतपुराणसंयोग का वर्णन, इन्द्र का स्वच्छ, इन्द्रोपाय, योग के शाठश्रेणों का निवृत्त, यमों की सिद्धियाँ, नियमों की सिद्धियाँ, आसन और उसकी सिद्धियों प्रणायाम और उसकी सिद्धियों, प्रत्याहार और उसकी सिद्धि ।

सुतीर्थपाव का नाम 'विभूतिपाव' है । इस पाव में कुल 35 सूत्र हैं । इस पाव में प्रतिपादित मुख्य विषय यह हैं — धारणा, ध्यान, समाधि वर्णन, तथ्यम का अन्तरगत, त्रिविध चित्तपरिणाम, धर्मलक्षणवस्था परिणाम, धर्म का स्वच्छ, परिणामकम तथ्यम की सिद्धियाँ, महतिवेहाङ्गुलि, भूतजय और उसकी सिद्धियाँ, इन्द्रियजय और उसकी सिद्धियाँ, सत्त्वपुराणान्यपाद्यायित और सिद्धियाँ, वेदतातो का निवृत्त, विवेकजनन-निवृत्त, केवल-निवृत्त ।

चतुर्थापव में केवल 34 सूत्र हैं¹ । इस पाव का नाम 'केवलपाव' है । यद्यपि केवल का निवृत्त 'वात-जतयोगवर्णन' के चारों पावों में मिलता है, फिर भी केवल-भागीय वाचना केवलानुक्तचित्त की अवस्थाओं और केवल की दशा का प्रधान सूत्र से विवेचन इसी पाव में किया गया है । इस पाव में उपनिषद् विषयों में मुख्य विषय इस क्रम में हैं — पञ्चविधसिद्धियों, जाद्यन्तर परिणाम, निर्मलचित्त, चतुर्विध कर्म-वाचना, वाद्ययवर्णों की सत्ता, पुरुष में चित्तद्रष्टृत्व, जीवमुक्त की मनोवृत्ति, धर्म-मेघसमाधि, परिणामकमतमाधि और केवलस्वरथ व्यवस्था ।

.....

1 - चतुर्थपाव में सूत्रों की संख्या 34 मानने वाले भाष्यार्थ-विद्वानाचार्य, उनके अनुयायी तथा हरिहरानन्द आर्य्य आदि हैं । बीजरान ने 16वें सूत्र को माध्य का एक वाक्य मानते हुए इस पाव को कुल सूत्रसंख्या 33 ही स्वीकार की है । वाक्यार्थीमम भी इस 16वें सूत्र—'नयेकीचित्ततन्त्र' वस्तु तत्प्रमाण' तथा किं स्यात्'—को माध्य के वाक्य के रक्ष में ही व्याख्यात किया है ।

इस प्रकार योगसूत्रक संघर्षी विषयों का सौष्ठवपूर्ण प्रतिपादन वतःजीतमुनि ने 195 सूत्रों में ही सम्पन्न करके योगगिणानु तथा योगगिणतापी व्यक्तियों के लिए महनीय कर्षण किया है। जिसके कारण युग-युग से महर्षि वतःजीत का नाम बड़े सम्मान तथा प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है।

योगसूत्र का रचनाकाल
1950-1951 A.D.

व्यावहारिक रूप से यह प्रश्न उठता है कि योगशास्त्र के इतिहास की अविनाश विधा प्रदान करने वाले इस ग्रन्थ का रचनाकाल क्या रहा होगा ? इसके रचयिता वतःजीत कौल से, जिन्होंने अपनी मुख्य व्यापक ड्रिफ्ट से इस तत्त्वज्ञान सूत्र ग्रन्थ में 'योगसूत्र' का अर्थ वाले सुबोध विषय के लिए सर्वथा सुबोधित किया। योगसूत्रों का रचनाकाल भी भारतीय इतिहास के कालक्रम की एक सुबोध पहेली है। इसके कालक्रम का निर्माण करने में कतिपय पक्षपात एवं पौरुष विद्वानों ने यथामति बड़ा परिश्रम किया है। इस संदर्भ में कतिपय प्रसिद्ध मतों का अस्तुतिगत करने के परवात् ही हम किसी निर्णीत तथ्य पर पहुँच सकते हैं।

दोनों वतःजीतियों के विन्मत्व का सम्यक मत --

इस प्रसंग में सबसे पहले जे०एच०बुड्स का मत प्रस्तुत किया जा रहा है। जे०एच०बुड्स महर्षय के मत का लक्षण यह है कि योगसूत्रकार वतःजीत और वेदाङ्गण महाभाष्यकार वतःजीत दोनों बुद्ध-पुण्य व्यक्ति थे। उनका कहना है कि 'इन्द्र' का लक्षण दोनों रचनाओं-योगसूत्र और महाभाष्य-में विन्म-विन्म मिलता है। मतः इन्द्र सिद्धांत के अन्तर्गत पर यह दोनों रचनाएँ एक ही व्यक्ति की नहीं हो सकतीं। दोनों रचनाओं के रचयिता विन्म-विन्म व्यक्तित्व सपन्न दो विन्म व्यक्ति ही हो सकते हैं। अपने इस विचार को तर्कवन्त सिद्ध करने के लिए बुड्स महर्षय ने कुछ और तर्क भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से प्रमुख यह है --

1. - जे०एच०बुड्स महर्षय ने " योग सिस्टम् ऑफ वतःजीत" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हार्वर्ड यूनिवर्सिटी (प्रिन्सटन संस्कारणी) में किया है, उसी की श्रुति में उनका यह मत उपलब्ध होता है।

1 - 'योगसूत्र' के चोपेयाव में बसुबन्धु के विज्ञानवाच का जन्म मिलता है । अतः इस आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि का जीवनकाल बसुबन्धु के परचात् मानना चाँडर । बसुबन्धु का जन्म विद्वानों के द्वारा श०ई० निश्चित किया गया है । अतः चौथी श०ई०के बाद ही योगसूत्रकार पतञ्जलि का जन्म माना जाना चाँडर । अतः प्रथम श०ई०के प्रमाणिक रूप से सिद्ध वेदाकरण पतञ्जलि से चौथी श०ई०के बाद के योगसूत्रकार पतञ्जलि अशक्य ही निम्न रहे ।

2 - वाचसपतिमिश्र ने भी यह स्वीकार किया है कि पातञ्जलयोगसूत्र के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में "विज्ञानवाची विचारधारा" का जन्म किया गया है । अतः यह मत निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना चाँडर कि पातञ्जलि योगसूत्र की रचना विज्ञान-वाचीविचारक बसुबन्धु के जीवनकाल के परचात् हुई होगी । अर्थात् वाचसपतिमिश्र के अनुसार भी योगसूत्रकार का समय चौथी शताब्दी ईस्वी के परचात् का ही है ।

3 - नागार्जुन के ग्रन्थों में योगसूत्रकार पतञ्जलिमुनि का कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है अतः यहाँ निर्णय स्थापनकप्रतीत होता है कि पतञ्जलिमुनि नागार्जुन के परवर्ती थे । क्योंकि यदि पूर्ववर्ती होते तो अवश्य कहीं न कहीं किसी न किसी ग्रन्थ में उनका उल्लेख नागार्जुन के द्वारा किया गया होता ।

4 - जैन शास्त्र उमास्वाती ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसिद्धिमसूत्र' में योगसूत्र के तृतीय-पाद में से २२वें सूत्र का उल्लेख किया है । इस आधार पर योगसूत्रकार का जीवनकाल 'उमास्वाती' से पूर्व का मानना चाँडर । उमास्वाती का जीवनकाल छठी शताब्दी के पूर्व में माना गया है । अतः इस आधार पर पतञ्जलिमुनि का जीवनकाल चौथी शताब्दी के पूर्व में माना जाना चाँडर ।

5 - श्वेताश्वकी ने योगसूत्रकारपतञ्जलि और वेदाकरण महानाथकार पतञ्जलि को विष्णु-निष्पन्न व्यक्ति माना है । इस संकल्प में श्वेताश्वकी महोपाय ने यह प्रमाण दिया है कि वैदिक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं किया है जिससे दोनों रचनाओं के रचयिता की अतिमता सिद्ध हो । अतः दोनों पतञ्जलि को विष्णु-निष्पन्न व्यक्ति मानना ही उचित होगा ।

6 - 'शिशुपालवध' में योगसूत्रों के प्रथम-अध्याय के 33^{वें} सूत्र का उल्लेख प्राप्त है । इस आधार पर यह सुनिश्चित किया जाता है कि योगसूत्रों की रचना 'शिशुपालवध' की रचना के पूर्व ही हुई थी । शिशुपालवध के रचयिता महाकवि माघ का जन्मकाल सातवीं शताब्दी में है अतः पतञ्जलि मुनि का जन्म निश्चय ही इनके पूर्व हीना घटित है ।

7 - योगसूत्रकार पतञ्जलि का जन्म गौड़पाद के पूर्व हुआ । इस विचार की प्रामाणिकता गौड़पाद के ग्रन्थ से सिद्ध होती है । गौड़पाद के सांख्यिकीरका के भाष्य में योगसूत्र के द्वितीय पाद के 30, 32 सूत्रों का उल्लेख किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि पतञ्जलि गौड़पाद के पूर्ववर्ती हैं और पतञ्जलि योगसूत्रों की रचना गौड़पाद के पूर्व ही हुई थी । गौड़पाद का समय 700 ई० के आसपास का माना जाता है अतः इनके पूर्ववर्ती पतञ्जलिमुनि का जीवनकाल 700 ई० के पूर्व का मानना घटित है ।

इस प्रकार कुछ महोपपद के तर्कों के आधार पर 'योगसूत्रों' का रचना काल छठी तथा सातवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व निश्चित होता है ।

प्रो०के०पी० प्रो०के०पी० इत्यादि अनेक विद्वानों ने भी महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार को दो विन्म व्यक्ति माना है । इनके मतानुसार महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि, योगसूत्रकार पतञ्जलि से सर्वथा विन्म हैं । इन विद्वानों ने योगसूत्रकार के जीवनकाल के संबंध में कोई विवेचन नहीं किया है । केवल दोनों रचनाओं के रचयित्वों की विन्मता मात्र का ही प्रतिपादन किया है । प्रो०के०पी० ने पतञ्जलि शब्द की अविन्मता का उल्लेख जिन तर्कों के आधार पर किया है उनमें से कतिपय तर्क ये हैं :-

1 - महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि दो विन्म-विन्म व्यक्ति हैं, जिनका जन्म विन्म-विन्म शताब्दियों में हुआ था । पतञ्जलि योगसूत्रों के द्वितीय अध्याय के सत्रहवें सूत्र में 'स्नेहवाद' के सिद्धान्त का संकेत अस्मिता है जिसका विस्तृत विवेचन व्यास-भाष्य में उपलब्ध है । योगसूत्रकार के पूर्व 'स्नेहवाद' का सिद्धान्त व्याख्यात था जिसके प्रवक्तृकर्ता महाभाष्यकार पतञ्जलि थे । इस आधार पर यह निर्णय किया गया है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से विन्म व्यक्ति थे और पर्याप्त पर्याप्तवर्ती थे ।

2 - योगसूत्रों में अन्तःकरण के विस्तृत का स्वीकार तथा 'परमाणुओं' का विशेषण यह सिद्ध करता है कि योगसूत्रों की रचना वैशेषिक धर्म के परात्तु हैं । वैशेषिकधर्म का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी से तृतीयशताब्दी तक में हुआ । मतः योगसूत्र की रचना इसके बाद की हुई । इस प्रकार योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से कई सौ वर्ष बाद हुए होंगे ।

3 - 'काल' की सत्ता की सांख्यिक और 'दोनों' की सत्ता की वास्तविक मानना 'सैश्वान्तिक' मत का प्रभाव है । दोनों का लौकिक सम्बन्ध तन्त्रशास्त्र के कुम्भारक्षत के द्वारा प्रतीत किया गया था । इनका समय महाभाष्यकार पतञ्जलि से बाद का है मतः योगसूत्रकार उनसे भी बाद के ठहरते हैं । इस प्रकार दोनों पतञ्जलियों का एक हीना असम्भव है ।

इन सब तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर प्रो० जैकोबी ने योगसूत्रकार पतञ्जलि की महाभाष्यकार से निम्न व्यति सिद्ध किया है तथा महाभाष्यकार के परात्तुत्वों होने के कारण योगसूत्रकार का जीवनकाल तीसरी और चौथी शताब्दी ई० बताया है । ए०बी०कीय महोदय भी इसी मत के समर्थक हैं ।

दोनों पतञ्जलियों के अभिन्नत्व का समर्थक मत—

इस प्रकार की मान्यता का खण्डन करने वाले विद्वानों का अभिमत इससे निम्न है । इन विद्वानों की दृष्टि में दोनों पतञ्जलि अभिन्न हैं । इन विद्वानों में सर्वप्रमुख नाम डॉ०एस०एन०वासुदेव का है । वोटे हेरनेव के सन् १८०१ वासुदेव के ही मतों का समर्थन की आता प्रसाद, रिचर्डगर्थे, श्री श्री०साधुविद्या और मरकिया इतियड आदि विद्वानों ने किया है ।

-
- 1 - इष्टक्य -- डॉ०एस०एन०वासुदेव का मत 'योग फिलॉसफी' ।
 - 2 - इष्टक्य -- श्री अन्ताप्रसाद का मत 'इष्टिकयन एपिस्टेमोलोजी' की बुनियाद ।
 - 3 - इष्टक्य -- श्री एम०धरियरका मत 'इष्टिकयन एपिस्टेमोलोजी' पृ० 371 ।

डा० बसुगुप्त, श्री आत्माप्रसाद, रिचर्डगार्थे महोदय, श्री श्री ० साहिनिया
 और मरफिया शरीर विद्वानों में योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतञ्जलि को एक ही
 व्यक्ति स्वीकार किया है। इन विद्वानों के मतानुसार योगसूत्र का काल दूसरी शताब्दी
 ईस्वी पूर्व सुनिश्चित हुआ है। ये विद्वान इस विचार को ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार
 पर इस प्रकार प्रमाणित करते हैं कि दोनों पतञ्जलि एक, अभिन्न व्यक्ति हैं। भाष्यकार
 पतञ्जलि शुंगवंशीय राजपुत्र्यभिन्न के समकालीन थे। अतः 'योगसूत्र' का भी समय
 पुत्र्यभिन्न के समकालीन ही मानना उचित है।

डा० बसुगुप्त ने योगसूत्र के चतुर्थपाद को प्रथम विद्वान् किया है। इनका
 कहना यह है कि 'योगसूत्रों' में विज्ञानवादी विचारधारा का कहीं भी अंश नहीं किया
 गया है। अर्थ के जितना भाग में ऐसा अंश प्राप्त होता है उसे योगसूत्र के मूल भाग का
 और नहीं स्वीकार किया जा सकता। केवलपाद में 16वें सूत्र में विज्ञानवादी विचारधारा
 का अंश दिया गया है। अतः चतुर्थपाद को मूलग्रन्थ का भाग न समझने का एक
 स्वच्छगत प्रत्यक्ष ही है। यह यह है कि जब पहले, दूसरे और तीसरे पादों में
 50 से ऊपर ही सूत्र हैं तो चौथे सूत्रों वाला यह पाद उस ग्रन्थ का भाग कैसे हो
 सकता है। दूसरा कारण इस पाद के प्रथित होने का यह है कि ये विषय प्रथम
 द्वितीय और तृतीय-पादों में बनाये गए हैं उन्हीं का विष्टेयत्व ही इस पाद में
 उपलब्ध होता है। इसलिए भी यह भाग मूलग्रन्थ का आवश्यक भाग नहीं प्रतीत होता।
 इसपाद की प्रथितता को सिद्ध करने वाला एक अक्षर्य तर्क यह भी है कि तृतीय
 पाद अर्थात् विधीनपाद के अन्तिम सूत्र के अंत में 'चित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है।
 जब कि पहले और दूसरे पाद के अन्तिम सूत्रों के अंत में 'चित्त' शब्द का प्रयोग नहीं
 हुआ है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तृतीय पाद के अंत में 'चित्त' शब्द का प्रयोग
 अतः योगसूत्रकार ने कर दिया है और चौथापाद पाद में लोगों ने जोड़ दिया।
 इसलिए विज्ञानवादी के अंश के अन्तर्गत पर योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्यकार
 पतञ्जलि से परवर्ती या विन्न नहीं कहा जा सकता।

 । - ' न वैकीर्तितत्त्वं यदनु तवयमभावं सदा किं स्यात् '
 योगसूत्र 4/17 ।

श्री अज्ञानप्रसाद जी ने इस 'विज्ञानवाच-कण्डन' वाली समझ का एक दूसरा ही समझान प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि चतुर्पदाव के प्रक्षिप्त न होने पर भी पतञ्जलि को विज्ञानवर्तियों के कण्डनकर्ता और उनके परधर्ती मनने की आवश्यकता नहीं प्रस्तुत होती क्योंकि जिसे केन्द्रपाद का सोलहवाँ सूत्र माना जाता है वह सूत्र ही नहीं है प्रस्तुत व्याख्यानवाच्य का एक वाक्यान्वय है। अतः माघ उस धीरे को लेकर पूरे पाद का प्रक्षिप्त नहीं चर्चित किया जाना चाहिए। उक्त धीरे को 'योगसूत्रों' की श्रेणी में रखा ही नहीं जा सकता। उसमें 'दूषितों' की स्वाभाविक विशेषताओं का सर्वथा अभाव है। पहले तो 'सूत्र' में क्लिपापद का प्रयोग ही नहीं होता और न ही सूत्र धनोत्तररौपि में होते हैं। ये दोनों ही बातें प्रस्तुत वाच्य में विद्यमान हैं। अतः इसे योगसूत्र के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इस तथ्य की दृष्टि के लिए मौल की योगसूत्रों पर 'राजमार्तन्धवृत्ति' की दृष्ट्य है। यह वृत्ति योगसूत्रों पर ही है, अतः इससे ही योगसूत्रों की संख्या और प्रामाणिकता की निश्चय हो सकती है। श्रीजगद्गुरु में केन्द्रपाद के सोलहवें सूत्र को ग्रहण ही नहीं किया गया। इससे यह खल्ल अनुमान लगाया जा सकता है कि यह वाच्य सूत्र नहीं है। जगद्गुरुजी ने योगसूत्र के चारों पादों पर व्याख्या लिखी है। चतुर्पदाव में कुल तीससूत्रों पर व्याख्या लिखी है। उन्हेनि यौतिस के स्थान पर तीससूत्र ही स्वीकार किए हैं। श्रीक मौल ने चारों पादों पर वृत्तियाँ लिखी हैं अतः चारोंपाद सूत्र-ग्रन्थ के जीव हैं। इस प्रकार चतुर्पदाव के प्रक्षिप्त न होने पर भी दोनों पतञ्जलियों की किम्मत नहीं दिव्य होती है।

इस संभव में बालमुक्त शरीर विद्वानों का कहना यह है कि यद्यपि नागार्जुन ने पतञ्जलिमुनि के नाम का उल्लेख नहीं किया है परन्तु 'योग' का उल्लेख ब्राह्मिक मतवाद के स्वरूप में अवश्य किया है। इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि योगसूत्रों की रचना के पूर्व योग विषयक विचारधाराएँ बने ही रही हैं किन्तु योग की वर्णनात्मक के स्वरूप में पतञ्जलिमुनि ने ही प्रतिष्ठित किया था। अतः बहुत संभव है कि नागार्जुन ने 'योगसूत्रों' में प्रतिपादित 'योग' का ही उल्लेख किया है। इस अन्वय पर यह कहना कि योगसूत्रकार पतञ्जलि नागार्जुन के परधर्ती थे हरिगुण दीप्त नहीं है।

विद्वान्नाग ने अपनी रचना में पतञ्जलि का उल्लेख नहीं किया है परन्तु इस आधार पर पतञ्जलि को विद्वान्नाग का परवर्ती नहीं कहा जा सकता क्योंकि योग-सूत्रकार पतञ्जलि एक तार्किक के रूप में प्रतिष्ठित न होकर एक क्रियात्मक साधना के व्यवस्थापक-रूप में वास्तविक जगत में प्रतिष्ठित थे इसलिए प्रतिपक्षी या मार्गदर्शी नेनी रत्न में विद्वान्नाग से सम्बन्धविच्छेद न होने के कारण विद्वान्नागसूत्र ग्रह अनुसूक्त पतञ्जलि के आत्मनिर्णय में कोई भी प्रकृता उल्लेख में सर्वथा असमर्थ है ।

योगसूत्रों में 'स्पष्ट' का अर्थ है उल्लेख नहीं है, इस लिए इस आधार पर पतञ्जलि का उल्लेख नहीं किया जा सकता । व्याससूत्रभाष्य में उपलब्ध स्पष्टभाव के अर्थ से यह निश्चित करना अर्थहीन अस्मय है कि योगसूत्रकारपतञ्जलि, वेदाकारण पतञ्जलि के परवर्ती थे । अन्तःकरण के विभूत के सिद्धान्त के त्त पर योगसूत्रों के वैशेषिकवर्ग से प्रभावित नहीं माना जा सकता क्योंकि वैशेषिक-वर्ग में अन्तःकरण के विभूत का अर्थ हीना गया है । इसी तरह परमाणुओं की मान्यता भी वैशेषिक वर्ग का सिद्ध करने में समर्थ नहीं है क्योंकि जैन और बौद्ध वर्गों में भी परमाणु सिद्धान्त का विवेचन प्राप्त है । जैन और बौद्ध वर्गों का विकास महाभाष्यकार के शीघ्रार्थ के बहुत पहले ही हो चुका था । अतः यह मानना आवश्यक नहीं है कि योगसूत्रकार ने परमाणु सिद्धान्त वैशेषिक-वर्ग से लिया हो । अस्तुतः विचार करने पर योगसूत्र के प्रथमपाद के शीघ्रार्थ सूत्र में 'परमाणु' शब्द के ज्ञान से भी योगसूत्रों को परमाणु नहीं कहना उचित नहीं है । क्योंकि उक्त सूत्र में 'परमाणु' शब्द परम अनु परिमाण अती तन्मत्रों का ही अर्थ सिद्ध होता है । भाष्यकार स्वयं ने भी ही तन्मत्रों के अन्वय 'परमाणु' का अर्थ हीना योग की विशिष्टाकारिणा में कर लिया है । किन्तु भाष्यकार को उक्तार्थ के त्तपर सूत्रकार पतञ्जलि का आत्मनिर्णय करना सर्वथा असंगत होगा ।

अब महाभाष्यकार और योगसूत्रकार को अर्थहीन व्यक्ति सिद्ध करने के हेतु कुछ तात्पर्य प्रमाण दिए जा रहे हैं । उड़ी शतकवी रत्नो के वेदाकारण वर्तुडारि के 'शतपथीय' नामक ग्रन्थ से यह शब्द उक्त उपलब्ध होता है कि 'वेदाकारण'

। - " कायवाभुविचिकया ये मताः समुपस्थिताः ।

दिकिस्तान्नागाद्यात्मनाकोसेभा विद्वान्नागः ॥ "

शतपथीय ब्रह्मसंहिता 1/148 ।

"स्वाकरण" और "योग" के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं और वह हैं 'वसन्तोत्तमुनि' । मुनि ने इन तीनों ग्रन्थों की रचना एक विशेषयोजन से की थी । शक्तिरूप शक्ति के लिए 'हरकलहिता', शक्तिरूप शक्ति के लिए 'महाभाष्य' को और भक्तिकर शक्ति के लिए योगसूत्रों की रचना की है । ग्रन्थों के नाम क्रम के आधार पर 'योगसूत्र' की रचना 'महाभाष्य' के बाद हुई ऐसा प्रतीत होता है ।

पश्चात् १० उच्यते इत्यादि ने ऋषिजी के उक्त श्लोक से ऐसा अक्षय निकालने का विरोध किया है । परन्तु अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क या प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है । ऋषिजी के इस अर्थात्त महाय की पुष्टि वाच्य शक्ति के टीकाकार पुष्कराने ने ऋषिजी की 'वाक्ययोग' पर आप्तक व्याख्या के इस वाच्य से की है । ---

'यथैव हि तारो वापसिक्तं श्लोकवाच्येषु च बोधप्रतीकारसामर्थ्यं बुद्ध्या
 चित्तिसाक्षात्कम् आरम्भम्, रागवीर्य बुद्धेरव्यपन्नानवयथा तदुपधातहेतु
 सानोपाधवृत्तव्यव्याख्याकाराणि उपनिषद्व्याप्ति, तपैवमीष साधुनाम्बुवचः
 तत्कारणात् प्रापनार्थमपत्रंशात् बोधवातनात् आगम्यं तत्तन्मन्त्रव्यम् । "

योगसूत्र कृतिकार मीन ने जो महाभाष्यकार और योगसूत्रकार को अर्थात्त व्यक्ति माना है । यह व्यक्ति मुनि वसन्तोत्त हैं । कृतिकार मीन ने इस मत का निर्देश अपनी 'राजमार्तकवृत्ति' के धारम्भ में महाभाष्य' में किया है ।

'हरकलहिता' के टीकाकार अक्षयिण वस्तु जो धारकवीं शक्तिरूपी १० के हैं 'वसन्तोत्त' को ही इन तीनों ग्रन्थों का रचयिता स्वीकार किया है । उन्होंने वसन्तोत्त को बन्दना करते समय उन्हें 'शैव' नाम का अक्षर स्वीकार किया है और योगसूत्र, वेदाक्षर्य महाभाष्य तथा हरकलहिता का कर्ता स्वीकार किया है ^१ ।

१ - "इत्येवामनुशासनं विवदता, पातञ्जले कर्तुं --
 बुद्धिं रागद्वेषद्वेषादिभिर्बुद्ध्यात्कृता, स द्युके ।
 वाक्यैस्त्रिपुराणां साः एवाहुतुं पञ्च येनैवमुक्तं --
 हर श्रीरक्षेत्रे द्युगतानुपस्येति ज्ञान्युज्ज्वलताः ।।"

२ - "पातञ्जलमहाभाष्यकारकृतिकृतैः ।
 भनीवाक्यवाच्यार्था इत्येतिपत्ये नमः ।।"

सोहबकी शताब्दी के प्रकाश व्याकरणवेत्ता नागेशबट्ट ने अपनी 'वैयाकरणसंग्रहशुभाशुभा' में पतञ्जलि को ही उक्त तीनों शब्दों का रक्षायत्त व्यंकार किया है । वे लिखते हैं -

- (क) " तदुक्तं चरके पतञ्जलिना मेन्द्रियं क्षेत्रम् इव्यं निरिन्द्रियमन्वेषतम् "
- (ख) " गण्ठो नाम अनुसूयेन वसुतत्कञ्च कस्त्रिंशन् निश्चयवाद् रागाविवक्षाधी मन्वेषयाधादी यः य ' इति चरके पतञ्जलिः । "
 वैयाकरणसिद्धान्तशुभाशुभा पृ० 12 f
- (ग) " योगसूत्रे पतञ्जलिः "
 महाभारतभाष्ययोग पृ० 58 f

अद्वैतश्री शताब्दी के लेखक श्री रामब्रह्म दीक्षित ने अपनी रचना 'पतञ्जलिपरिचय' में पतञ्जलि की उल्लेखना इन शब्दों में की है -

" योगेन भित्तव्यं पदेन धार्यं क्तं शरीरस्य च वेद्यकम् ।
योऽप्यकारोक्तं धारं मुनीनां पतञ्जलिं पतञ्जलिरामसोऽपिम् ।।"

अर्थात् " योग द्वारा भित्त की आवृष्टि, पद से तानी की आवृष्टि और वेद्यक शब्द द्वारा शरीर के क्तों को दूर करने वाले मुनियों में केच पतञ्जलि मुनि की उल्लेखना करता है । " इस उल्लेखना के आधार पर यह प्रतीत होता है कि तीनों शब्दोंके रक्षायत्त एक पतञ्जलि ही हैं ।

अपराधःपराधःपराधःपराधः¹ का कथन है कि उक्त तीनों शब्दों को साधसौती में पर्याप्त समानता है, अतः इस आधार पर यह स्वीकार्य है कि तीनों शब्दों की रचना एक पतञ्जलि ने की होगी । महाभाष्य में कुछ इस जैसे हैं जिनमें सहाययोग के सहायक विषयों का विधान भरपूर मात्रा में किया गया है । इन विषयों में से कुछ विषयों के नाम ये हैं - महाभाष्य का गुणनिश्चयत, सकार्यवाद, कालविषयक सिद्धान्त और बुद्धिपरिचामों का सिद्धान्त । यह प्रकार तीनों शब्दों के सहायक की समानता को

1. " I have assured myself by an examination of the 'Lakshyas' that there is nothing in it which can warrant us in saying that the two Patañjalīs can not be identified."

देखते हुए यह निर्धारण स्व से करा जा सकता है कि 'महाभाष्य' और 'संक्षिप्तयोग' के रचयिता पतञ्जलि ही थे ।

भाष्यकारव्यास ने भी पतञ्जलि को ही दोनों ग्रन्थों का रचयिता माना है । इस निर्णय को तब सिद्ध करने के लिए इन्होंने दोनों ग्रन्थों की सम्यक्तताओं का उल्लेख किया है । महाभाष्य का प्रारम्भ " अथ शङ्खानुशासनम् " सूत्र से हुआ है । इसी तरह 'योगसूत्रों' का भी प्रारम्भिक सूत्र " अथ योगानुशासनम् " है । योगसूत्रकार पतञ्जलि को विविध भाषाओं का ज्ञान था । इनकी विद्वत्त्व से ही प्रसिद्ध डॉक्टर विद्वानों ने इन्हें सार्वज्ञिकत्व अर्थात् शंखाक्षर नाम दिया होगा । इन्हें शंखाक्षर के अतिरिक्त पक्षिपति और जम्भ नाम की विद्वानों ने ही दिया होगा । तेरहवें शताब्दी के लेखक मीरानाब ने योगशास्त्र को " पद्मगम्भोगुम्भ " भी कहा ही है । पतञ्जलि नाम के व्यर्थि अनेक व्यक्ति हो चुके हैं परन्तु शंखाक्षर स्व से प्रसिद्ध योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतञ्जलि ही हैं । इस तथ्य से ही योगसूत्रकार और महाभाष्यकार के रचयिता की अभिन्नता प्रमाणित होती है ।

इतना निश्चित हो जाने पर कि दोनों पतञ्जलि एक हैं हम योगसूत्रकार के जीवन के संक्षेप में निम्नलिखित बातें निर्दिष्ट स्व से कह सकते हैं । पतञ्जलि शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे क्योंकि पतञ्जलि के महाभाष्य में " पुष्यमित्रं पञ्चमो " । " पुष्यमित्रं राजयास्य " इत्यादि वाक्य मिलते हैं । जिनसे महाभाष्यकार पुष्यमित्र के समकालीन माने जाते हैं । पुष्यमित्र का जीवनकाल विद्युतीय शतकवी इस्वी पूर्व है । अतः इनके समकालीन पतञ्जलि का भी समय विद्युतीय शतकवी इस्वी पूर्व ही है ।

पतञ्जलि कश्मीर के निवासी थे । क्योंकि महाभाष्य में कुछ पक्षिपतियों के उल्लिखित हैं जिनसे यह निश्चय हो जाता है कि ये मूलतः कश्मीर के हैं—

- 1) " शङ्खमोगान्, गीमथ्यामो देवदत्त । तत्र एकान्, परधामः "
- 2) " शङ्खमोगान् देवदत्त । यम्, कश्मीरेषु वन्यामः । "

कुछ विद्वानों ने उन्हें 'गोष्ठा' नामक स्थान का निवासी मान कर इन्हें गोनदीय 'कहा है । किन्तु महाभाष्य का अनुशीलन, परिशीलन करने के उपरान्त

यह बात ही न हो कि पतञ्जलि गौतमीय मठों के कौटिल्य उन्हेनि महाभाष्य में कई स्थानों पर गौतमीय भाष्य का उल्लेख किया है । ये कश्मीर के 'माधु' जति के ब्राह्मण मठ में पैदा हुए होगे ह्यो तिर उनको 'शेखतार' या 'नागरज' इत्यादि नाम दया जात ।

योगसूत्रकार पतञ्जलि के गौतम्य महाभाष्य का उन्हेनि ही एक ही एक प्रमुख वेदाङ्गकों में ज्ञान हो प्रचलित एक परभारत है जिसके अनुसार महाभाष्य का यह प्रारम्भ करके के पूर्व निम्नलिखित मंगलपाठ किया जाता है और उस दिन सोनों भूमियों के तिर सरसों और दही की जति हो जाती है । मंगलपाठ का स्वस्त्व यह होता है :-

“ वाचिकारं वरत्सर्वं वाच्यकारं पतञ्जलिम् ।
 पाणिनिं सूत्रकारं च प्रकृतोऽस्मि भुवित्रयम् ॥
 योगिनो जितेश्वरं पंचमं वाचां भक्तं शरीरकां च वेदवक्त्रेण ।
 योग्यपाठरोत्तं पञ्चमं भुविनां पतञ्जलिं पञ्जजीरानतोऽस्मि ॥”

- 1 - पातञ्जलमहाभाष्य में 'सहितं त्वग्यसिम्' वाकिकं पठितं है, जिसमें 'गौतमीयस्वस्त्वहं सत्यमेतत् सति तु अन्यस्मिन् पठितं' ।

पाठमठ 1/1/2 F

- 2 - द्रष्टव्य - पीठसंशुद्धिमय्य आलोचन "Lectures on Patañjali's Mahābhāṣya, Vol. I" — को धर्मिका ।

योगशास्त्र का स्वतन्त्रता विचार
योगशास्त्र का स्वतन्त्रता विचार

दान-तपस के व्यवस्थापक सूत्राचार्यों में पातञ्जलयोगसूत्र का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य मत वैशेषिक्य यह है कि यह उन सभी में जेदा है। इसमें कुल 195 सूत्र हैं। सूत्रों का प्रकार भी कुछ सूत्रों को छोड़कर काफ़ी जेदा है। सूत्रों की भाषा भी अथेवसकृत सरल है तथा कईन समसायिक विषयों को जेटलता से रहित है। उन सूत्रों में तर्क-बैतर्क और छद्म-प्रश्न को प्रश्नको का भावय बहुत कम जैता गया है। सैषी-पाद में जित्त को स्वागतता एवं चित्तप्रन्तर ज्ञयता ज्ञान के प्रश्नों को छोड़कर सूत्रयक एवं उत्तरपाद की जिज्ञासकतयना एवं बहुस्थिति निर्धारण का उत्तरबायित्य अद्योताओं पर कदाचित् कर्तव्य नहीं गइता। सीधी सी बात सीधे ढंग से लिखित शब्दों में कह जा जाता है। इसका बहुत कुछ शेष योग-दान के रचनात्मक स्वभाव का है। योगदान किसी मतभाव की जिज्ञास के लिए अथ दानों को ज्ञान बहुत उन्नम के साथ नहीं प्रस्तुत होता है। जतः छद्म-प्रश्न का बायित्य जे उतना नहीं गइता करना गइता है। उत्तरपाद का एक साधना पद्धति का व्यवस्था निर्देश करना है, जतः पद्धति सरलता का अङ्गण रखते हुए वह अपनी बात 'सूत्रोक्ती में प्रतिपादित करने में सर्धया समर्थ बना रहता है। साधना क्रम के निर्वाचन में एक भी तथ अनुक अथवा अनियमित न रहने देने के कारण योग-सूत्रों का सूत्रा वैशेषिक्य उनकी सर्वाङ्गीयता है। साधना क्रम में जने वाले सभी शक्ति, उपाद्यों तथा उनके लिए वातायिक साधनों की संयोजना योगसूत्रों में तथपूर्व कोशल के द्वारा की गई है।

जत प्रकार दुःखता, जेटलता, सैष, ज्ञान्ति, विरोधता इत्याय से सर्धया ज्ञाने तथा सर्वाङ्गीयान्ति पदनात्मक अथवा क्रियात्मक पद्धति के अतिशय प्रामाणिक एवं पूर्णतः से कायस्थायक इत तथुकाय कि तनु जगत् महत्त्वशान्ती वातायिक अन्वयल में जयमी अज्ञेयतीय महत्तर एवं सर्वायिक उपाधेयता के कारण माताय विज्ञानजगत् में अनुत्तम कौर्त घात कर रती है और हती के परिणाम स्वस्य अनेक प्राणों व्याख्याकारों एवं व्याख्याता साधार्थों के द्वारा समय-समय पर उदात्त स्तु में व्याख्याता होता रहता है।

योगदा के लाभार्थों का सार

योगसूत्र की व्याख्या
 ~~~~~

प्रत्येक सूत्र ग्रन्थ की व्याख्या समस्त विषयों के सम्बन्धकरण के लिए आवश्यक होती है किन्तु ऐसे सूत्रों पर जो अपने प्रतिपाद्य विषय के विशिष्टात्मक स्वरूप के अनिश्चित क्रियात्मक स्वरूप का भी प्रतिपादन करते हैं, व्याख्या की अनिवार्यता सर्वथा निश्चित है। योगसूत्र अपने प्रतिपाद्य विषय के क्रियात्मक स्वरूप का निर्वचन करता है। अतएव योगसूत्रों पर अनेकानेक व्याख्याओं का समय-समय पर लिखा गया अत्यन्त व्यापक था। इन व्याख्याग्रन्थों की शैली और व्याख्यापद्धति में बड़े बड़े के फरक इनमें से कुछ को बाध्य कहा गया है, कुछ को दीर्घ कहा गया है, कुछ वार्तिक नाम से प्रसिद्ध हुए और कुछ को वृत्ति तथा विवृति इत्यादि नाम सन् सन् व्याख्याकारों ने दिया है। इन सभी प्रकार की व्याख्याओं को सामान्य रूप से "व्याख्या" कहा जा सकता है। अतएव यहाँ योगसूत्रों पर उपलब्ध सभी पश्चिम व्याख्याओं के विषय में विशेषतः कहना समझिये होगा। व्याख्यात्मक से इन सबका ग्रहण करने का एक ठोस आशय यह है कि व्याख्या का लक्षण यह माना जाता है—

"एवमैतद्वाक्यार्थोपनिर्दिष्टोक्तोक्तं प्रत्ययोजनम् ।  
 आशेषस्य समर्थानां व्याख्या पञ्चविंशत्युक्ता ॥"

शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दार्थ का कथन, समर्थों का विमर्श, वाक्यों का अन्वयन, और पूर्वाश्रय की उद्भावना लीटत उत्तरपक्ष की स्थापना यही व्याख्या के पंच लक्षण हैं। योगसूत्रों पर लिखे गए भाष्य, वार्तिक, वृत्ति और विवृति इत्यादि सभी व्याख्यान शून्यलिपि में इन पंचों लक्षणों से युक्त हैं, अतएव इन सभी व्याख्यानग्रन्थों को व्याख्या नाम से भी शीघ्रतः किये जा सकते हैं। एक परम्परा के अनुसार इन सबको टीका ही कहा जा सकता है। जैसा कि रज्जुशेखर के अर्थों कल्पयोगिता में व्याख्याओं के प्रकारों का लक्षण बताया हुआ टीका का लक्षण दिया है—

"यथासंभवमर्थस्य टीकान् टीका ॥"



टीका धातु गवर्णक होती है, इसलिए 'वर्णधटोक्त' का अर्थ हुआ 'वर्णध' या लघुवर्णित करना । सूत्र के अर्थों का बोध करने के कारण भाष्यविषयकी व्याख्याओं को टीका शब्द से लघुवर्णित किया जाता है । किन्तु वस्तुस्थिति संस्कृत वाक्य में यह नहीं है कि किसी भी शास्त्र के सूत्रों पर सत्तत् टीका नामकी व्याख्या कभी न ही लिखी गयी । सूत्रों पर भाष्य लिखे जाते रहे हैं, कुतर्था को लिखी गई हैं किन्तु टीकाओं, भाष्यग्रन्थों, कथकों और फलरत्नानों इत्यादि पर ही प्रसिद्ध हैं—जैसे शबर के शोभाशा भाष्य के अन्तिम अक्षर पर सुयतिरेल को 'दुर्' टीका, वेदान्त के 'शांकरभाष्य' पर वाचस्पतिमिश्र की 'शाम्भो' टीका, वेदाङ्गण महाभाष्य पर शाम्भु वा अय्यविद्या की 'काशिका' टीका और सत्त्वकर्तारकाओं पर वाचस्पतिमिश्र की सत्त्वतन्त्रकीमुदी या महात्मनाम किशो भाष्य को मुक्तिदीपिका अर्थात् टीका । वर्तमान पर भी टीकाएँ लिखी गई हैं, जैसे— उद्योतकर के 'व्याख्यानवर्तिनी' पर वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका । इस प्रकार के गुरुवार भाष्य वर्तमान लघुवर्णित को टीका शब्द से लघुवर्णित करना उचित नहीं प्रतीत होता है।

संस्कृत भाषा में लिखी गयी योग-सूत्र की इन सभी व्याख्याओं में कुछ तो सीधे फलानुसृत इन योग-सूत्रों के अर्थों का साक्षरान व्याख्यान करने वाली व्याख्याएँ हैं और कुछ योगसूत्र को प्रथम व्याख्या व्याख्यान 'योगभाष्य' की व्याख्याएँ होने के साथ साथ आनुषंगिक रूप से सूत्रगत अर्थों का भी व्याख्यान करती हैं । इन दो प्रकार की टीकाओं में से पहले प्रकार की व्याख्याओं को 'योगसूत्र' की साक्षात्-व्याख्याएँ और दूसरे प्रकार की व्याख्याओं को 'योगसूत्र' की 'परोक्ष-व्याख्याएँ' कही जा सकती हैं क्योंकि इन व्याख्याओं में सत्तत् व्याख्यान तो योगभाष्य के अर्थों और वाक्यों का ही किया गया है ।

### योगसूत्र की साक्षात्-व्याख्याएँ -

योगसूत्र की साक्षात् व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सचलिक प्राचीन व्याख्या 'सत्त्वप्रयत्नभाष्य' है । यह भाष्य 'योगभाष्य' के भी नाम से प्रसिद्ध है । इसके रचयिता 'ध्यास' अथवा 'व्यासदेव' नाम के कोई पुरातन गुरुजी हैं । इसीलिए इस भाष्य को कभी-कभी 'व्यासभाष्य' भी कहा जाता है । योगसूत्रों पर अन्य किशो



योगसूत्र की तपस्वीयत परीक्षा-व्याख्या -

इस कोटि की व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध व्याख्याएँ शार्वाय्य वाचस्पतिमिश्र-कृत 'तत्त्ववेत्तारवी' नामक 'पातञ्जलशाब्द व्याख्या' और शार्वाय्य विभानमिश्रकृत 'योग-शाब्दवार्तिक' नामक व्याख्या है। ये दोनों व्याख्याएँ योगशास्त्र के अध्ययन में अमूल्य साहाय्य प्रदान करने वाली तथा योगसूत्र एवं योगशाब्द की अर्थबोध कराने में अतुल्य महत्त्व वाली मानी जाती हैं। योगशास्त्र के दो प्रमुख वैचारिक-संस्थापकों का नेतृत्व ही यही दोनों व्याख्याएँ करती हैं। योगशाब्द के माध्यम से परम्परावादी योगसूत्र का अर्थबोध कराने के कारण होते ही इनका बर्गिकरण योगसूत्र की परीक्षा व्याख्याओं के रूप में किया जाय किन्तु इनके निरतिशय महत्त्व के कारण योगशास्त्र का कोई भी अध्ययन इन दो व्याख्याओं को अमूल्यवर्धित किए बिना अधूरा एवं विकलाङ्ग ही माना जायेगा।

इस कोटि के व्याख्याओं में शक्तिरहित 'पातञ्जलयोगसूत्रस्य विवरण' और अपेक्षाकृत पर्याप्त अवधिनि श्री हरिहरानन्द आरभ्यकृत 'भाष्यति' नाम की टीका भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से 'भाष्यति' टीका तो पर्याप्त व्यापितमय और विश्वज्ञानविरहित है किन्तु 'विवरण' की प्रसिद्धि उतनी नहीं है। विवरण के रचयिता कोई 'शार्वाय्यशक्तिर' थे किन्तु इन्हें 'शारदारकशाब्द' कर्ता शार्वाय्य शक्तिर से अविन्न मानना सर्वथा प्राप्तिपूर्ण है।

1 - बौद्धया संस्कृत सोरिण् बरारत्तसे से 'शाङ्गयोगवार्तिम्' नामक ग्रन्थ में अथ्य कई व्याख्याओं सहित सन् 1934 ई० में, और 'पातञ्जलयोगवार्तिम्' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत योगसूत्र, व्यासशाब्द और 'योगवार्तिक' सहित 'भारतीय विद्याप्रकाशम' बाराणसी से सन् 1971 में प्रकाशित। तत्त्व-वेत्तारवी' के और भी कई संस्करण अनेक स्थलों से प्रकाशित मिलते हैं।

2 - अत्राय गर्वनरेण्ट औरिण्टल सोरिण् बनारस से सन् 1952 में प्रकाशित।

तथाकथित परोलब्धाध्यायों की अपेक्षणीयता —

इन व्याख्याओं में दृश्यी भाष्य के पदों तथा बल्यों का साद्वोपादान विवेचन हुआ है किन्तु फिर भी ये व्याख्यात्मक सूत्र के पदों का अर्थवैशेष्य, सूत्र में प्रयुक्त पदों की संगति, उपयोगिता एवम् उपावेद्यता अलग से भी निरूपित करते हैं । इस तथ्य को तन्त्रवेत्तारकी योग्यतिरिक्त, विवरण और भाव्यता - इन चारों व्याख्याओं में प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है । विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ किसी सूत्र की स्पष्टार्थता के कारण या तो योग्यभाष्य है ही नहीं और यदि है भी तो अत्यन्त अज्ञानाकार । ऐसे सूत्र सघोषित हैं —

- 1) "प्रमत्तविपर्यय विकल्पनिद्रासुप्तयः ।" - सप्तमिपाद 6 ।
- 2) "यमनियमस्नानप्राणायामत्याहार -  
चारभाष्यानि सप्तधर्मोद्भाव्यन्ति ।" - साधनपाद 29 ।
- 3) "अहिंसा प्रतिशब्दा तस्मिन्वीचैरत्यागा ।" - साधनपाद 30 ।
- 4) "सन्तोषावमुत्समसुखतायः ।" - साधनपाद 42 ।

इनमें से नं० 1 सूत्र की उत्पत्तिका तो प्रायकार ने 'तः किञ्चित्तत्त्वविकल्पित-  
इव च-उपायुक्तयः' रूप में की है किन्तु इस सूत्र पर प्रायकार ने व्याख्या नहीं की है,  
फिर भी 'तन्त्रवेत्तारकी' कार ने इसकी व्याख्या की है —

"तः स्वसंज्ञाविस्तीर्णवर्ति - प्रमत्तविपर्ययविकल्पनिद्रासुप्तयः ।  
निर्वी यथात्मधर्म विग्रहः । चर्षिं सुखं सुखः समसि इतरेतरयोगे - - - ।  
एतावन्व एव वृत्तयो मापरः। सन्तोषित चर्षित भवति ।"

त०वे०पृ० 28 ।

योग्यतिरिक्तकार भी इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं -

"पूर्ववृत्तेषु सः योग्यार्थं तः किञ्चित्तत्त्वविकल्पित-  
इव च-उपायुक्तयः' इति  
'प्रतिशब्दोत्तर' सूत्रं पठ्यते - प्रमत्तविपर्ययविकल्पनिद्रासुप्तयः । सुगमं सूत्रम् ।"

योग्य०पृ० 28

इस सूत्र का अर्थान्तरण करते हुए 'विवरणकार श्रेयः' वाक्योक्ति'कार उच्यते' कहते हैं -

" काः पुनस्ततः फिलभ्याकिल्भ्याः पंचप्रकारानुसृत्य इत्यादि -

'ब्रह्मविपर्ययविकल्पनिश्चास्युत्तय' इति । एतावत् एव वृत्तयः । 'विवरण पृ० 18 ।

" ब्रह्मविपर्ययविकल्पनिश्चास्युत्तयः " इतिपंचवृत्तयः किल्भ्या क्वणिन्, अकिल्भ्या वा क्वनिन्, चित्तस्य प्रबलत्वेनवर्तकत्वस्यभावाद् यथा रत्नं किल्भ्य' वा प्रमाणं किल्भ्य' रागवशेन निर्वलकप्रमाणमकिल्भ्यम् । "

इस सूत्र की शैली अन्य तीनों सूत्रों पर भी इन व्याख्याओं में भाष्यनिरपेक्षस्वरूप से पूरा अधीनवचन दिया है । इतना ही नहीं समस्त सूत्रों पर भाष्य से अलग इन व्याख्याकारों ने व्याख्या की है । ऐसी यह अपवाहर्ण गर्व है कि पहले सूत्र का अर्थान्तरण पाठ दिया जाता है, फिर उसकी व्याख्या की जाती है । इसके अनन्तर 'व्याचष्टे' 'तद्व्याचष्टे' श्रेयः 'विवृणोति' इत्यादि पदों के द्वारा भाष्य का अधीनवचन प्रारम्भ दिया जाता है । उदाहरणार्थ एक-एक स्वतः पदों कीतीपुलाकन्याय से उद्धृत किए जाते हैं ६-—

तद्व्याचष्टारथी -

" अनुवृत्तिव्यपत्तिप्रमोषः स्मृतिः । ब्रह्मविपर्ययानुवृत्ते विषये योऽन्यत्रमोषोऽस्तेयं वा स्मृतिः । संस्कारमाध्वनयः किं ज्ञानस्य संस्कारकारणानुव्यावहारितो विषयमात्मीयः, तदधिकविषयपरिगृहस्तु संप्रमोषः स्तेयं । कर्मणात् सङ्गृह्यात्, मुच्ये स्तेये इत्यस्मात् प्रमोषपदव्युत्पत्तेः । एतदुक्तं भवति - - - सोऽयं कुर्वन्तरापीयसोपः स्मृतेरिति । विवृणोति किं व्यस्येति । " पृ० 43 ।

योगवर्तिनकम् -

" परिकर्मोन्मथलेतंब्रह्मण्ड - 'परममुपरममन्वन्तोऽयं वशीकारः' । अथ परिकर्मंतयेतसः परमं महत्त्वं येषां पुरज्जोनीज्ञं ते परममहत्त्वाः । व्याचष्टे सूत्रेऽप्यपरिगम्ये चित्तस्य निवेशनमवस्थानमधीप्सोरित्यर्थः । "

विवरणम् :-

“ इदानीं विकल्पं सर्पाति - इन्द्रवज्रानुपाती वस्तुभूयो विकल्पः ।  
 इन्द्रवज्रं इन्द्रवज्रानुपाती, वायव्यवज्रकनिधयेन वायव्यसायुषावज्रानुपाती, तदनुपातितुं शीतमूर्ध्वीति  
 इन्द्रवज्रानुपाती । वस्तुभूय इति । यथावायव्यार्थेभूयः, यथा इन्द्रवज्रं इन्द्रवज्रानुपाती  
 तदनुपातितुं यथावस्तुभूय इत्येव इत्येव इति यावत् । यथावस्तुभूयार्थेभूयः इति विकल्पनं  
 विकल्पः । तद्य इन्द्रवज्रानुपातित्वावगमत्तः पतिञ्च प्राप्तम्, अत आह । ”

पृ० ३५ ।

भाष्यती -

“ तत्र प्रारिप्सितस्य योगशास्त्रस्य प्रथमं सूत्रम् -  
 ‘ अथयोगानुशासनमिति ’ शिष्टस्य शासनमनुशासनम् । ”

पृ० २ .

इस विवेचन से योगसूत्र की इन चारों तथा कथित परोक्ष व्याख्याओं की  
 उपाधेयता पर पर्याप्त दृक्ता पड़ता है । साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होता  
 है कि बने ही 'योगशास्त्र' की व्याख्याओं के रूप में इनका ग्रहण किया जाए,  
 तथापि 'योगसूत्र' की व्याख्याओं के रूप में भी अलग से इनका ग्रहण न किया जाना  
 वस्तुस्थिति की उपाधेयता करना ही होगा । जब योगसूत्रों पर स्वतन्त्र रूप से इनमें व्याख्यान  
 किया गया है, योगसूत्रों के श्लेषार्थ, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य का अलग से विवेचन किया  
 गया है और योगसूत्र के पदों को यथोचित व्युत्पत्ति एवं अर्थपरकता निरूपित की गई  
 है तो इन्हें 'योगसूत्रों की 'परोक्षव्याख्या' का स्तर देना भी संगत नहीं प्रतीत होता  
 अतः ये चारों भी योगसूत्रों की व्याख्या परस्पर में निर्विशेष रूप से परिगुह्यता की जाती  
 चलीं हैं । इस प्रकार पहले प्रकार की योगसूत्रव्याख्याओं से इनका अन्तर साक्षात्  
 और परोक्ष होने का नहीं बल्युत योगसूत्रस्य ही व्याख्या और योगसूत्र की व्याख्या होने  
 के साथ-साथ योगशास्त्र की भी व्याख्या होने का है । निष्कर्षतः इन चारों व्याख्याओं  
 का निरतिशय महत्त्व एवम् अनल्पउपाधेयत्व द्विष्ट में रहते हुए और योगसूत्रों के  
 स्वतन्त्र व्याख्यानपरक होने से इनकी भी 'योगसूत्रों' की संस्कृत व्याख्याओं के रूप में समो-  
 चीन विवेचन किया गया है ।

उक्त सभी इष्टियों से विचार करने पर योगसूत्रों की प्रयोगविहित व्याख्या इन शोचनीयस्थ में व्यपन्न विवेचित की गयी है :-

|                               |   |                        |
|-------------------------------|---|------------------------|
| 1 - योगभाष्यम्                | - | व्यासवेषकृतम् ।        |
| 2 - तत्त्वसारकी               | १ | वाचस्पतिमिश्रकृतम् ।   |
| 3 - राजमार्कबृहत्सूत्रम्      | - | भोजररःकृतम् ।          |
| 4 - विश्वरथम्                 | - | शंकरकृतम् ।            |
| 5 - योगवर्तिकम्               | - | विद्यानिबन्धकृतम् ।    |
| 6 - योगदीपिकासूत्रम्          | - | माधवाग्नेयकृतम् ।      |
| 7 - पारतन्त्रयोगसूत्रसूत्रम्  | - | नागेश्वरकृतम् ।        |
| 8 - श्रीवदभा                  | - | रामानन्दकृतम् ।        |
| 9 - योगसिद्ध्यान्तर्निष्पन्ना | - | शारदाधरकृतम् ।         |
| 10 - योगसूत्रार्थबोधनी        | - | नारायणतीर्थकृतम् ।     |
| 11 - भास्वती                  | - | हरिहरानन्दशारदाकृतम् । |
| 12 - स्वामिनारायणभाष्यम्      | - | शंभुशिवलयाचार्यकृतम् । |

योगसूत्रों पर कुछ अन्य छोटी-छोटी साक्षात् व्याख्याएँ प्राथमिक काल में लिखी गयी हैं। सर्वप्रथम पण्डितों की इन प्रशिक्षण व्याख्याओं में से प्रथम 'केदातागस केदातागेरम' में लक्षित (1) प्रथमकृत 'योगसूत्रार्थचन्द्रिका' (2) स्व-वेषकृत 'पारतन्त्रयोगसूत्रभाष्य' (3) स्ववेषकृत 'योगसूत्रवृत्तिसिद्धयन्त्र' (4) उग्र-पण्डितकृत 'योगसूत्रवृत्ति' (5) ज्ञानानन्दकृत 'योगसूत्रवृत्ति' (6) शिवशंकरकृत 'योगसूत्रवृत्ति' और (7) सर्वप्रथम ब्रह्मण्डकृत 'पारतन्त्रयोगसूत्रवृत्ति' या 'योगसूत्राकर' का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु इन व्याख्याओं में न तो प्रवेष्टित अर्थसिद्धीकरण का यत्न किया गया है और न ही कोई नयी तार्किक जानकारी का ही आविष्करण हुआ है। कदाचित् इसी नग्नता के परिणामस्वरूप और पाण्डुलिपियों की अनुपलब्धता तथा मुद्रितपूर्वक के हेतु से कियो ने इन्हीं प्रकाशित कराने की कोशिश नहीं की। इनमें से प्रत्येक तो प्रथमकृत के द्वारा लक्षित मन्त्र हैं और लक्षित पूर्वकालों से सम्बन्ध करने पर मुझे तो निराशा ही होय गयी, इनके अस्तित्व के संभव में भी मुझे

कोई निर्णयात्मक उत्तर नहीं प्राप्त हो सका । अतः ऊपर समीक्ष्य लेखी में गिनती गयी बाध्य एवं तत्त्ववेत्तारथी शक्ति खरह आकर व्याख्याओं की मर्यादा एवं मौलिकता का विचार करते हुए आरेख के द्वारा इन संकीर्णत सर्वाधिक टोक - टिप्पणियों की आलोचना प्रस्तुत निम्न में नहीं की जा सके ।

योगशास्त्र की व्याख्याओं का सर्वोत्तम तत्त्व एवं माननिर्धारण  
 तत्त्ववेत्तारथी का मतः तत्त्ववेत्तारथी का मतः तत्त्ववेत्तारथी का मतः तत्त्ववेत्तारथी का मतः

### योगशास्त्रम् -

योगशास्त्रों के प्रथम व्याख्यान 'योगशास्त्र' अथवा 'संक्षिप्तवचनशास्त्र' के रचयिता 'व्यास' या 'व्यासदेव' हैं । ये व्यास कौन थे और कब थे- यह निर्णय करना कठिन है । भारतवर्ष में 'व्यास' नाम से तर्कशास्त्र परिसर व्यक्तित्व 'वेदव्यास' का है जिन्होंने वेदों की व्यवस्थिति की, महाभारत की रचना की और वेद में उपनिषद् अर्थों का पुराणों में व्याख्यान किया है । ये व्यास वेदव्यास या कृष्णवक्षेपायन व्यास कहे जाते हैं । देखना यह है कि क्या यही व्यास योगशास्त्र के भी रचयिता हो सकते हैं ? तत्त्ववेत्तारथीकार वाचस्पतीमिश्र योगशास्त्रकार व्यास को महाभारतकार कृष्णवक्षेपायनवेदव्यास ही मानकर योगशास्त्र में इस प्रकार की सम्झना करते हैं :-

" तस्मात्पतंजलिगुरुं वेदव्यासेन शशिषे ।  
 संक्षिप्त स्पष्टवद्वत्तया भाष्ये व्याख्या विधीयते ॥ " 2

परन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर 'योगशास्त्र' के रचयिता व्यास तदा 'महाभारत' के रचयिता वेदव्यास भिन्न-भिन्न व्यक्ति निर्धारित होते हैं । महाभारत की रचना योगशास्त्रों से बहुत पूर्व की है । योगशास्त्रों का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व निश्चित किया गया है । तृतीय-शताब्दी ईस्वी पूर्व में घनवेश में गयी बोद्ध चरुत्कर्षों में महाभारत का उत्सव प्राप्त है । इसके आधार पर महाभारत का काल तृतीय शताब्दी ईस्वी से पूर्व का ही निर्धारित किया गया है । इतना तो सर्वमान्य है कि महाभारत के रचयिता कृष्णवक्षेपायन व्यास थे

- 1 - इष्टव्य - परिभाषाएँ धारों पाठों के भाष्य के जन्म में ।
- 2 - इष्टव्य - तैलकखारथी का योगशास्त्र श्लोक संख्या 2 ।
- 3 - इष्टव्य - संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय ।
- 4 - इष्टव्य - शतसाहस्र साहित्याय वेदव्यासनिर्णयम् " ।



'महाभारत' और योगसूत्रों के रचनाकाल में अनेक शताब्दियों का अन्तर है । महाभारत के कम से कम 600 वर्ष बाद योगसूत्रों की रचना हुई और उसके बाद उनपर बाध्य विचार गया जसः यही मानना सर्वगत एवं बुद्धिबल है । 'योगशास्त्र' के रचयिता और 'महाभारत' के रचयिता सर्वथा विभिन्न व्यक्तित्व थे । मते ही दोनों ग्रन्थकारों का नाम ब्याप्त हो रहा हो ।

योगशास्त्रकार कहे थे ? इस सम्बन्ध में विद्वानविद्वु का कहना है कि बादरायण ब्यास ने ही 'योगशास्त्र' की भी रचना की है किन्तु 'ब्रह्मसूत्रों' में शब्दे हुए 'एतेमयोगः प्रत्युक्तः' सूत्र के द्वारा योगमत का अन्वय देवकर यह विश्वास नहीं होता कि योगशास्त्र को ज्ञान समझने तथा ज्ञान प्राप्त करने वाले बादरायणब्यास ने 'योगशास्त्र' लिखा होगा । योगशास्त्र में योग के प्रति महान् आदर एवं उत्सुकता है जस भी " सखिययोगवसुधाराधः । " और " तत्रसूत्रं योगिन एव परमार्थासादकम् " वाच्युपादानम् । " इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रकट होता है जिससे लगता है कि योगशास्त्र के रचयिता ब्यास और ब्रह्मसूत्र के कर्ता ब्यास एक व्यक्ति नहीं हो सकते । उस तर्क यह है कि किसी व्यक्ति को प्रवर्तित करने वाले सूत्रशास्त्र की रचना करने वाला कोई व्यक्ति किसी दूसरे धार्मिक प्रवचन पर सूत्र या शास्त्र लिख ही नहीं सकता क्योंकि वो विरोधी धर्मों को ब्याख्या करना एक व्यक्ति के द्वारा तो संभव है परन्तु वो विरोधी धर्म प्रवर्तित करना सर्वथा असम्भव है । इसलिए योगशास्त्र के रचयिता ब्यास को बिना किसी और धार्मिक साधक के ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायणब्यास से अभिन्न नहीं माना जा सकता । इस सम्बन्ध में जैसे बादरायणब्यास का ब्रह्मसूत्र साधक योगशास्त्रकर्ता ब्यास के कृष्णदक्षिणायनब्यास सिद्ध करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार विद्वानविद्वु के द्वारा अशुद्ध योगशास्त्र के रचयिता का बादरायणब्यास होना भी सर्वथा तर्कहीन एवं निश्चयपूर्ण बात है ।

फलतः यही स्वीकार करना निर्विवाद प्रतीत होता है कि योगशास्त्र के रचयिता देवक्यास और बादरायणब्यास दोनों से विभिन्न कर्ता ब्यास थे । किन्हीं पाण्डुलिपियों में इन ब्यास को ब्यासदेव भी कहा गया है । बहुत संभव है कि यह 'देव' शब्द ब्यास के प्रति बादरायणब्यास का श्रद्धालु भाव है । अब प्रश्न यह उठता है कि यह ब्यास कब हुए और कब इनोंने अपने योगशास्त्र की रचना की ।

इस विषय में प्रचीनत सभसे प्रमुख कल्पधारणा जे०एच०मुद्गल महोदय के द्वारा  
रचने " योगसिद्धि अथ पतञ्जलि " नामक ग्रन्थ को प्रथम में इस प्रकार प्रस्तुत  
की गई है ।

जे०एच०मुद्गल ने व्यासनाथ्य का समय चौथी शताब्दी ईसवी के पर्याप्त  
मानते हुए यह कहा है कि व्यासनाथ्य में वार्धक्य के मतों का उल्लेख मिलता है ।  
वार्धक्य बहुबन्धु के समकालीन थे । बहुबन्धु का समय तीसरी - चौथी शताब्दी  
ईसवी है । अतः इनके समकालीन वार्धक्य के मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यास-  
नाथ्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईसवी है अतः इनके समकालीन वार्धक्य के  
मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यासनाथ्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईसवी के  
बाद होना चाहिए । परन्तु मुद्गल महोदय का यह विचार है ठीक नहीं है क्योंकि  
वार्धक्य महाविपरीतानि से भी प्राचीन आचार्य थे । अंग्रेज पण्डितों ने " गणेश-  
योग " सूत्र के उपाख्यान में 'वार्धक्य' शब्द को उद्धृत किया है । पण्डितों  
का समय सातवीं ई०पू० है अतः वार्धक्य का समय इससे भी पूर्व का निश्चित होना  
चाहिए । इस प्रकार 'वार्धक्य' के उल्लेख के आधार पर व्यासनाथ्य को बहुबन्धु  
के बाद का मानना सर्वथा अनुचित है ।

माध के 'विज्ञानवाक्य' में एक श्लोक ऐसा प्राप्य होता है जिसमें  
योगसूत्र २४में पर लिखे नाथ्य की पंक्तियों का प्रभाव विचार्य पड़ता है, अतः योग-  
नाथ्य निश्चय ही माध से बहुत पूर्व ही रचना है । माध का समय सातवीं  
शताब्दी ई० है अतः योगनाथ्य की रचना सातवीं शताब्दी ई० से बहुत पूर्व की  
होनी चाहिए ।

योगनाथ्य में अनेक शक्तों पर 'विज्ञानवाक्य' का उल्लेख हुआ है । विज्ञान  
वाक्य तृतीय शताब्दी ई० में मेलेयनाथ्य के द्वारा प्रोत्पिठित एवं व्याख्यात किया जा  
सकता है इसीलिए तीसरी शताब्दी ई० के पहले योगनाथ्य की रचना मानी ही नहीं  
जा सकती और न तो विज्ञानवाक्य के उद्भवके आधार पर योगनाथ्य को  
'बहुबन्धु' के बाद का मानना ही आवश्यक है क्योंकि बहुबन्धु विज्ञानवाक्य के पहले  
आचार्य नहीं थे।

योगनाथ में आयी हुई पत्रिका - " यथेका रेखा शतकल्पने शतं परम्यानि  
मौलं चेतकल्पने । " (योगभा० 3/13) से सूचित वसन्तकाल पर्यन्त के प्रयोग  
के कारण 'योगनाथ' को ऊठीं शताब्दी ई० के बाव की रचना मानना भी मे० एच०  
बुद्धस मंडोशय की बड़ी भूल है, क्योंकि वसन्तकाल पर्यन्त का प्रयोग और शून्य का  
उपयोग भारतवर्ष में ई० की पहली शताब्दी में ही हो चुका था ।

तोतिरो शतकयो ई० के आचार्य वात्स्यायन ने अपने व्याख्याननाथ्य  
(न्यायसूत्र 1, 2, 6 परमार्थ) में योगनाथ के एक वाक्य को उद्धृत किया है ।  
' सौम्यं विकारो व्यक्तेरपि नित्यत्ववर्तितेषाम् । अप्येतोप्याप्ते विनस्यप्रतिपिप्रात् । "  
यह पत्रिका यत्किञ्चिद् अन्तरके साथ योगसूत्रनाथ्य 3/13 का है । पाँचवीं शताब्दी  
ईस्वी के आचार्य विद्वांस ने अपने प्रमाणसमुच्चय नामकग्रन्थ में अनेक स्थलों पर  
वात्स्यायन नाथ्य के अनेक श्लोकों को आलोचना तथा लच्छन किया है । इतना  
विद्वान्नाथ्यकार वात्स्यायन का समस्त चौथी शताब्दी ई० के बाव का नहीं माना जा  
सकता । फलतः योगनाथ्यकारकायमय अक्षि से अक्षि तोतिरो शताब्दी ई० के बाव का  
नहीं मानना चाहिये ।

। - इच्छ - \* हिस्ट्री ऑफ़ प्रिन्सिपल फिलॉसफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न \*

पृ० 438, 433 f

तत्त्ववेत्तारथी

'योगशास्त्र' के माध्यम से योगसूत्रों पर पड़ती व्याख्या 'तत्त्ववेत्तारथी' है। इसकी रचना वाचस्पतिमिश्र ने की है। वाचस्पतिमिश्र के संबन्ध में जिज्ञासा होती है कि वे वाचस्पतिमिश्र कौन थे ? भारतीयदर्शन साहित्य में वाचस्पतिमिश्र नाम के तीन व्याख्याकारों का नाम मिलता है। वाचस्पति द्वितीय श्री हर्ष से नवीन थे क्योंकि श्री हर्ष के 'अष्टमस्कन्धाक्षर' पर इन्होंने 'अष्टमोद्धार' नामक टीका लिखी है। इनकी धृतियों से इनका समय निर्धारित होता है। वाचस्पति तृतीय सबसे प्राचीन थे। इन्होंने 'विवाचिन्तामणि' 'व्यवहारचिन्तामणि' 'मातृचिन्तामणि' 'तीर्थचिन्तामणि' इत्यादि ग्रन्थ लिखे हैं। प्रथम वाचस्पतिमिश्र का नाम भारतीयदर्शन में प्रस्ताविक भावर और सम्मन के साथ दिया जाता है। इन्होंने आस्तिक तथा नास्तिक सभी धर्मों पर विवेकमत्तक टीकाएँ लिखी हैं और एही कारण है जिससे वे 'व्याख्याकारानन्दचिन्तन' के नाम से परिच्युत हैं। इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :-

- 1 - व्यादपण्डित ।
- 2 - तात्पर्यटीका ।
- 3 - तत्त्वविन्दु ।
- 4 - धामतो ।
- 5 - तत्त्ववेत्तारथी ।

वाचस्पतिमिश्र प्रथम के विद्यागुरु अत्रोचन थे। अत्रोचन का सभ्य महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जो ने नवीं शताब्दी ईसवी निर्धारित किया है। वाचस्पतिमिश्र के दृश्य में अपने गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी। वाचस्पतिमिश्र प्रथम को ही सुदृशवाचस्पति की भी संज्ञा दी गयी है। इनके संबन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि महान्तर्गतिकार सुरेश्वरराचार्य ने शांकरशास्त्र पर टीका लिखने का निश्चय किया था परन्तु वे लिख नहीं सके और इस कार्य को फिर विना ही उनका देहावसान हो गया। अपनी इतनी अग्रणी उद्यम को पूरा करने के लिए उन्होंने वाचस्पतिमिश्र प्रथम के स्वर में जन्म लिया। किन्तु इस तथ्य का इतिहास से कोई संबन्ध नहीं हो सकता। वाचस्पतिमिश्र ने

अपने विषय में अपौरुहित श्लोक के अतिरिक्त कोई उल्लेख नहीं किया है ।

“ व्यायसूची निबन्धोऽसावकारे सुधिया मुके ।

धीधापस्मितीमयेन वक्ष्यद्भूमक्षरे ॥

व्याय-सूची-निबन्ध ।

इस श्लोक के अन्वय पर इनका समय 898 विक्रम संवत्  
अर्थात् 841 ई० के आसपास का माना जा सकता है । वक्ष्यस्मितीमय का अन्वय इनके  
अनुसार नहीं शतशब्दी है और ' तत्त्ववेत्तारवी ' की रचना का काल भी नवों  
शतशब्दी ही निर्दिष्ट होता है । धावस्मितीमय विधित्त के रहने वाले थे ' तस्मिन् '  
महीये महनीय कीर्त्तौ धीमन्मृगेवकारि मया निबन्धः । ” इस वाक्य के अन्वय पर  
वेङ्कय नामक राजा के दरबार की विस्तृत रचना है ।

' तत्त्ववेत्तारवी ' में योगशास्त्र संवन्धी तथो वास्तविक विषयों का  
विस्तृत विवेचन किया गया है । जिन सूत्रों का स्पष्टीकरण योगशास्त्र में नहीं प्राप्त  
होता है उनको भी व्याख्या ' तत्त्ववेत्तारवी ' में उपलब्ध होता है । संक्षेप में यह  
फटना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि ' तत्त्ववेत्तारवी ' योगशास्त्र के अटल रहस्यों को  
उद्घाटित करने वाली अनुपम व्याख्या है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चारेश्वर भोजराज विरचित 'राजमार्तण्डवृत्ति' योगसूत्रों पर साक्षात् वृत्ति है । 'राजमार्तण्डवृत्ति' ही 'भोजवृत्ति' के नाम से भी परिचित है । भोज की जीवनी के संक्षेप में निरूप्य करना बहुत दुष्कर नहीं है । यद्यपि भारतीय इतिहास में अनेक कालों में उत्पन्न अनेक 'भोज' वर्धित हुए हैं तथापि/ उनमें से 'योगसूत्रों' पर वृत्ति लिखने वाले भोज काल ये और इनका जन्म कब हुआ या यह ज्ञातव्य है । प्रो०ए०बी०कीथ के अनुसार चारानरेवा भोजदेव का समय 11वीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध हो सकता है<sup>2</sup> । भोज के शृंगार प्रकृत तथा 'सरस्वतीकव्यनरत्न' नामक ग्रन्थों की रचना की थी । ए००के०डे ने अपनी पुस्तक में चाराधीन भोज का समय 1010 ई० से 1055 ईसवी तक माना है<sup>3</sup> । 10वीं शताब्दी गुप्त में एत वृत्ति का समय 10वीं शताब्दी बताया है । प्रो०डि०रियन्स ने 'भोजवृत्ति' का समय 1000ई० निर्धारित किया है । प्रो०बुद्धसू को सूचना इस दिषय में यह है कि यद्यपि अनेक भोजदेव हो चुके हैं, परन्तु चाराधीन जिनको उनकी प्रविष्ट रचनाओं के कारण पतञ्जलि की समस्त प्राप्त हुई है वे ही 'राज-मार्तण्ड' नामक वृत्ति के रचयिता हैं जिनका समय 10वीं शताब्दी ईसवी है<sup>4</sup> ।

-----

- 1 - उक्त निवेदन के लिए श्री०वेस्टर्न डेकन की लिखी पुस्तक "दि भोजवृत्ति" पृ० 190 F
- 2 - इष्टव्य - 'लौकिक संस्कृत सारसंग्रह' - १० श्री०कीथ F
- 3 - इष्टव्य - 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोलीटिक्स' भाग I पृ० 147 F
- 4 - बुद्धसूक्त 'योगसिस्टम् ऑफ़ पतञ्जलि' पृ० 14

इस प्रकार धारोत्तरभोज या जीवन-काल वसुधै इताम्बो ईदयो  
 हो निदर्शित होता है । अतः भीष्मृत 'राजभारत-श्रुति' का भी रचनाकाल  
 वसुधै इताम्बो में ही माना जाना चाहिए । 'योगसूत्रों' पर की गई यह व्याख्या  
 ग्रन्थ 'योगशास्त्र' की तुलना में संक्षिप्त है परन्तु सूत्रों के अर्थ का सशुद्धीकरण करने  
 में यह श्रुति बड़ी सहायक है । वहीं तत्पर विद्वानों के बीच इस श्रुति का भी  
 बहुत आदरणीय स्थान है ।

### योगसूत्रशास्त्रविवरण -

विवरणकार शंकर के जीवनकाल के बारे में कोई व्यष्टि सकेत  
 दुष्प्राप्य है, अतः यह किस शताब्दी के वास्तविक है, यह कहना शक्यतः दुष्कर  
 कार्य है । डॉ इतना तो निश्चित है कि ये शंकर आठवीं शताब्दी के अश्वेत-  
 वेदान्तो शंकराचार्य से सर्वथा विन्म है । इस संकल्प में कई ऐसे तथ्य मिलते हैं  
 जिसे यही विश्वास होता है कि दोनों शंकर विन्म-विन्म व्यक्तिगत वाले थे । सर्व-  
 प्रथम इन दोनों दार्शनिकों के विन्मन का श्रेष्ठ दृष्टक्य है । अश्वेतवेदान्तो भी शंकरा-  
 चार्य ने 'अश्वेतवेदान्त' को ही अपनी वैचारिक स्थापना का कर्म विन्दु बनाया था ।  
 ये सश्वेतयोग और 'श्वेतवेदीयक' दर्शन के प्रकृत विरोधी थे । जब कि दूसरे शंकर  
 'सश्वेतयोग' और 'श्वेतवेदीयक' से पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं । अश्वेतवेदान्तो  
 शंकराचार्य को 'योगसूत्रशास्त्रविवरण' का रचयिता न मानने के तत्पर अद्योतित  
 तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :-

शांरोरकशास्त्रकार शंकराचार्य एकमात्र 'अश्वेततत्रहम्' के अनुयायी थे । उनके  
 अनुसार अन्तिम वस्तु 'ब्रह्म' 'निर्गुण' 'निश्चितक' तथा 'निश्चिन्म' है । इन्होंने

अपनी किसी भी व्याख्या में किसी 'देवता' की स्तुति में कोई मंगलरत्नक नहीं लिखा है । इनके मन्त्रबुधकारिकाभाष्य के प्रारम्भ में मिलने वाले मांगलिकरत्नक निर्गुण ब्रह्मस्वरूप ही है, किसी भी देविक या स्मार्त देवो-देवता की बन्धना उन रत्नको में भी नहीं है । इसके विपरीत 'विवरणकार' ने 'विवरण' में कुछ बगवान की बन्धना मांगलिकरत्नको के द्वारा की है । 'विवरण' के प्रारम्भ और अन्त दोनों स्थलों में कुछ बगवान की स्तुति की गई है । इस आधार पर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि विवरणकार शक्ति शारीरकभाष्यकार से सर्वथा भिन्न शक्ति थे ।

1 - " प्रजानां प्रसूतानेः विवरणरत्निकरव्यापिकर्माद्य तोकान् ।  
 बुद्ध्या भोग्याभ्याप्यन्तुपुनरपि विषणोर्वशात्तत्कामजपान् ।  
 योऽपि सुवर्तिष्ठान्भ्यापित मधुरबुधभाषया भोग्याभ्या  
 मया संख्यातुरीय परममृतमजं ब्रह्म यस्तस्मात्प्रियम् ॥ १ ॥  
 यो विवरणात्पि विधिः प्रियपदान् सुख्य भोग्याभ्याप्यन्तु ।  
 परबुद्ध्याभ्याप्यन्तुपुनरपि योऽपि सुख्यम् ।  
 सुख्यन्तुपुनरपि इतिः श्वेतकेतुः स्थापयित्वा  
 द्विधा सर्वान्ब्रह्मविष्णुशक्तगुणान् यान्ब्रह्मा नस्तुरीयः ॥ "

माध्वबोधोपनिषद्, शतह्वरभाष्य पृ०-20 ।

2 - " यस्मिन् सतः कर्मवृत्तौ यतः शक्तिः  
 सैवा यस्मिन् नानमलद्वया निहितानाम् ।  
 नाथदिव्यः सुखसुखः यः कस्यभ्या  
 लोकेशोऽसौ कटक्यात् प्रथमम् ॥ "

पातञ्जल योगसूत्रभाष्यविवरणम् पृ० । १

" शक्तिरो यस्तु वक्तुं सम्यक्तरं फलेः कर्म यस्मात्सर्वं  
 निष्कर्मत्वात्पुण्यं घटयति सकलं यः क्लेश विघ्नानाम् ।  
 शान्तानामोपरो यः कश्चित्कवचिद्यत्नद्विघ्नानां विघ्नानां  
 व्यापन्नः सुखितमान् व्यपनुदतु तरां कृष्णमानं स कृष्णः ॥ "

बड़ी - पृ० 370 ।



इस संबन्ध में नीतिरा लर्न यह है कि 'विचरणकार' ने 'सम्बन्ध' संबन्ध को मान्य ठहराया है यथा— " तदा विचरिष्य एव संबन्धः सम्बन्धाख्यः संपोषाख्यश्चेति न युज्यते ॥ " जब कि अष्टमे तलेवाप्सी शंकर ने शारीरकशास्त्र में सम्बन्ध को संबन्ध ही नहीं माना है और जम्कर ने दार्शनिकी नामक 'सम्बन्ध' का अर्थ ही किया है ।<sup>1</sup> इस विषय में धोन्मुख<sup>2</sup> तृतीयपरव के 17वें सूत्र के विचरण में आर दुर स्पेटवाव के प्रसङ्ग से भी सहमतता मिलती है । इस स्थल में 'स्पेटवाव' के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यहाँ पर विचरणकार शंकर ने कुमारिल<sup>3</sup> और साय जी पार्षसाराधिमा<sup>3</sup> के भी विचारों का अर्थ ही किया है ।

-----

1 - " युतिसिद्ध्यर्थे संबन्धः संपोषो युतिसिद्ध्यर्थेन सम्बन्ध इत्यवमशुपरगमो भूयैव तेषाम्, इच्छिसिद्ध्यस्य कर्वाकारणव्याप्युत्तिसिद्ध्यस्तानुपपत्तैः । "

ब्रह्मसूत्राकारणान्य पृ० 428 ।

2 - " वर्णा वा एवमयो वापि स्पेटं न पववाथियोः ।  
 व्यर्जित्त व्यक्तत्वेन यथावीपप्रकारयः ॥  
 सत्त्वात् घटाविषयत्वेति साधनानि यथासीध ।  
 तौकिकव्यतिरेकेण कश्चित्तुर्धे व्यर्जित्त हि ॥  
 नार्थस्य बहिष्कः स्पेटो वर्णव्यो व्यतिरेकतः ।  
 घटाविषय इच्छित्त विरोधो व्यर्थोसिद्धतः ॥  
 प्रतिषेधेत्यु यो वर्णात्तन्नामन्तरोद्भवत् ।  
 इच्छित्तव्यो वैतत्तद्य साधनान्निषेधत् ॥  
 वर्णव्यो वा=व्यथीरेथा तन्नामन्तरोद्भवत् ।  
 यावन्ती सतिव्यथा हि द्वावैरेव बहिष्कपी ॥ १ ॥  
 वीपव्यथा क्काराविदग्धवैः इतिपावकः ।  
 सुव प्रतीयमान त्वास्तत्पूर्व प्रतिपावनात् ॥ "

3 - " अग्निमात्रोपादाने शक्तिव्यवधाने स्पेटोऽपि क्तव्यस्य परेरनिष्ठत्वावी सिद्ध्यनाप्यत्वं कारत् । तन्मा कृषितीत पववाथयोतिरिति श्लोकात्, पववाथयोर्षत्तमना वर्णा एवमयो वा स्पेटं नास्तिव्यवन्तीत्यन्वयः " ।  
 इति श्लोकावार्तिक व्याख्यायां न्यायारत्वाकरे पार्षसाराधिमाः ।

पार्षसादीनिम ४ शरद्वी शताब्दी २० के शीर्षक के आचार्य के मतः विवरणकार को 12वीं शताब्दी के बाद का ही मानना पड़ेगा । इसीपर 8वीं शताब्दी के लेखनी शंकराचार्य से योगसूत्राभ्याशिवरणकार शंकर का सर्वथा अलग हीना विस्तृत निश्चित है ।

'विवरण' के अन्त में " योगिन वित्तव्य पद्म वार्ध मत् शरीरव्य तु वेद्यं योऽपाकरोत्तं प्रवर्त मुनीनां पतञ्जलिं प्राणिसरानतोऽ

यह श्लोक 18वीं शताब्दी के लेखक श्री राममहर्षीद्वारा लिखे गए पतञ्जलिपरित में उपलब्ध होता है । लेखक ने इस श्लोक में 'पतञ्जलि की कथना की है । इस श्लोक के आधार पर विवरणकार का समय 18वीं शताब्दी के बाद मानना युक्तिपूर्ण होगा क्योंकि अन्वकी शैली और भाषा इस प्रकार की मान्यता के अनुसृत महों है । तबता है मन्त्र की पञ्चदशतिपि तैय्यार करने वाले किसी सन्मन ने पतञ्जलि के संक्षेप में प्रथमतः प्रकाशना इस श्लोक को अन्वन्त में उपनिबद्ध कर दिया है ।

विवरण के चारों पारों की युष्मिकाओं के आधार पर विवरणकार शंकर का समय निश्चित कर लम्बा हुआ है । इन युष्मिकाओं में 'विवरण' नामक कृति के रचयिता अक्षैतन्नेवास्ती शंकर को बताया गया है और उनके गुरु का नाम श्री गौतमिन्दबगवत्पाद बताया गया है ।

-----

1 - " तत्र पार्षसादीनिमः द्वावशतकश्वो (12शत0)प्रियता-निवासी प्रकण्ठपण्डितश्च । "   
 कविराजश्रीमदाचार्यपण्डितविष्णुनेत्रनाथ शास्त्रिणः विरचित 'संस्कृतसाहित्य-विमर्शः " पृ० 231

2 - इति श्रीगौतमिन्दबगवत्पादश्रीशिवरण परमहंसपरिश्रान्तशार्यश   
 श्री शंकरभगवतः कृतै   
 पतञ्जलयोगसूत्र (शास्त्र) भाष्य विवरणे   
 अक्षुर्वाः कैवल्यपादः ।

इस प्रकार उक्त विवेचन के अक्षर पर यह निष्कर्षित किया गया है कि विवरण के रचयिता शक्ति 'मध्वैतमेवति' के महान विचारक शक्तिरत्न से किन्ना शक्ति है। विवरणकार शक्ति का समय 12वीं शताब्दी के बाद कभी का भी हो सकता है।

### योगवार्तिकम्

'योगवाक्य' के माध्यम से योगसूत्रों की दूसरी व्याख्या 'योगवार्तिक' है। 'योगवार्तिक' की रचना विश्वामित्र ने की है। विश्वामित्र का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। उन्होंने संप्रतिष्ठितस्य, व्यक्त्यर्थ, वेद, वेदांग तथा तत्त्व भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। ये एक स्वतंत्र विचारक थे। उन्होंने साध्यसूत्रों पर 'सद्धिप्रबन्धनाथ्य' तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर विश्वामित्रनाथ्य' उपनिषदों का वाक्य, 'ईश्वरगीतानाथ्य' और 'योगसारसंग्रह' जैसे प्रौढग्रन्थों की भी रचना की है।

विश्वामित्र का जन्म कब हुआ था? इस संबंध में विद्वानों के किन्ना-किन्ना विचार इस प्रकार हैं। प्रो०कीच के अनुसार विश्वामित्र का समय 16वीं शताब्दी है। अपने दूसरे ग्रन्थ में उन्होंने विश्वामित्र का समय 17वीं शताब्दी में निष्कर्षित किया है। प्रो०कीच द्वारा निष्कर्षित समय परस्पर विरोधी है। एक ही व्यक्ति का समय इन्होंने अपनी दो रचनाओं में किन्ना-किन्ना प्रतिपादित किया है जो उचित नहीं ज्ञान पड़ता है।

डॉ०वी०के०गोडे ने विश्वामित्र का समय 16वीं शताब्दी माना है। इस निर्णय का आधार विश्वामित्र के वाक्य ब्रह्मण्येस के द्वारा इस्तकरीरत वाराणसी का एक निर्णयपत्र है। इस निर्णयपत्र पर एक स० 1505 (1583ई०) अंकित है। इस पर उस समय के ब्राह्मणवर्ग के मुखियों का इस्तकरीर है। इसी आधार पर गोडे महोदय ने विश्वामित्र का काल 16वीं शताब्दी ईसवी निश्चित किया है।

गोडे महोदय तर्कभाषा को टीका तत्त्वप्रबोधिनी के रचयिता गौडानदीशित को तथा ब्रह्मण्येसदीशित को अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। प०उदयचोरबाबू ने 'सद्धिदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में गोडे का खरबस खण्डन किया है। ये कहते हैं कि तत्त्वप्रबोधिनीकार गौडानदीशित तथा 'ब्रह्मण्येसदीशित' दोनों अभिन्न

व्यक्ति नहीं हो सकते कारण दोनों आता पिता किन्-किन् व्यक्ति थे । इसके अतिरिक्त विज्ञानविद् के शिष्य का नाम केवल भावाग्नेश है ऐसा उनकी पुस्तकों से मालूम होना है । दीक्षित पद भावाग्नेश के नाम के साथ नहीं लगा है । अतः भावाग्नेश और अग्नेश दीक्षित किन् व्यक्ति नहीं हो सकते । हाल और अग्नेश महोदय ने भी दोनों को किन्-किन् व्यक्ति ही स्वीकार किया है ।

पं० उदयवीरशास्त्री ने गौडे महोदय द्वारा प्रस्तुत निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर संबंधित प्रश्न का भी उत्तर दिया है । उनका कहना है कि उस पत्र पर जो हस्ताक्षर प्राप्त है वह विज्ञानविद् के शिष्य भावाग्नेश का हस्ताक्षर नहीं है क्योंकि निर्णय पत्र पर निर्णय-पत्र-पर 'बापये अग्नेश दीक्षित' नाम का हस्ताक्षर है । 'भावा' और 'बापये' वो किन्-किन् पद हैं । इन दोनों पदों को रचना किन्-किन् है, अतः निर्णयपत्र पर प्राप्त हस्ताक्षर से विज्ञानविद् के समय का निर्णय नहीं हो सकता ।

पं० उदयवीर शास्त्री विज्ञानविद् को कभीर निवासी सदान्धरणी का पूर्ववर्ती मानते हैं । वे इस संबंध में तर्क देते हैं कि सदान्धरणी ने अपनी रचना में विज्ञान-विद् के नाम का उल्लेख किया है । इस आधार पर विज्ञानविद् का समय सदान्धर-णी से पूर्व का ही होना चाहिए । सदान्धरणी का जीवनकाल १०२०-१०३० ई० में १५०० ई० निर्धारित किया है । अतः विज्ञानविद् को १५०० ई० के पूर्व का ही माना जाना चाहिए । इस प्रकार उन्होंने विज्ञानविद् का समय १५९० ई० के आस-पास माना है ।

किन् विज्ञानविद् के समय के बारे में पं० उदयवीर शास्त्री द्वारा दिए गए तर्क तथ्य से भ्रष्ट हैं, क्योंकि कभीर निवासी सदान्धरणी ने 'देवान्तसार' की रचना नहीं की थी । 'देवान्तसार' की रचना सदान्धरणीगोत्र के जो भी जो १५वीं शताब्दी के थे । ये सदान्धरणीगोत्र जिनका समय १५०० ई० के आसपास का माना जाता है, विज्ञानविद् के परवर्ती नहीं हो सकते ।

विश्वामित्र ने वन सदानम्बदयोगेन्द्र के 'वेदान्तसार' के एक प्रयोग का नामनिर्देश किया बिना<sup>1</sup> ज्ञान की किया है। अतः विश्वामित्र वेदान्तसार के रचयिता से तो पीछे के हैं। रहीं बात अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार 'सदानम्बदिति' की तो उनका समय विश्वामित्र ने 'रघुनाथशिरोमणि' का उल्लेख करने के कारण प्रमाणपूर्वक 17वीं शती सिद्ध किया है।<sup>2</sup> अतः विश्वामित्र का कालनिर्धारण इन दोनों सदानम्बों के बीच में सर्वसंगत रूप में किया जा सकता है। विश्वामित्र ने 14वीं शताब्दी के शोकभट्ट जिन्होंने वेदान्तपूर्वों पर शैवशास्त्र लिखा है, का भी ज्ञान किया है।<sup>3</sup> अतः विश्वामित्र के समय की पूर्वसीमा 15वीं शताब्दी ठहरती है। उनके समय की परवर्ती सीमा का निर्धारण करने के लिए 1583 ई० का शावागमेश नामक उनके शिष्य के इस्तखर वाता वाराणसी का निर्णय पत्र और 'संवत् 1680 वि० (1623 ई०) शिवो सुदि की समाप्त की गई उनके ग्रन्थ 'सख्यसार' की एक पाण्डुलिपि पर्याप्त है। इस प्रकार इनका जीवनकाल 16वीं शताब्दी का अन्तिम तीन चतुर्दशी स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दृष्टिगोचर होती है।

1 - " अथ च शब्दः सम्प्रतिशब्दो न समनुभवत् किन्तु पितृपुत्रवेदवा "

योगशास्त्र 213 F

2 - दृष्टव्य - 1810 सुरेश चन्द्र शोभाशक्त्य कृत 'शावापि विश्वामित्र और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' पृ० 39 F

3 - " अतएव वेदान्तः शैवसख्यसिद्धिकृतो विश्वाम्बद्वैतपरिचय पराशरमहेश्वरसिद्धिः ब्रह्मसमीपित्तकः विश्वाम्बद्वैतपरतया व्यापकत इति स्पष्टवत् । "

वि०शा०पृ० 139 F

योगदीपिकाश्रुतिः

भावाग्लेश तथा उनकी रचनाओं के समय का निर्धारण ज्ञेयसङ्गत सरसता के साथ हो जाता है । यह सर्वविधित है कि ये विद्वान्मिश्र के शिष्य थे तथा उन्हीं के समकालीन भी थे, अतः भावाग्लेश का समय भी यत्निश्चित अन्तर के साथ वहीं है जे विद्वान्मिश्र का है । भावाग्लेश के जीवनकाल के निर्णय के संबन्ध में सहायक प्रमाण पूर्ववर्तित तथा अन्तर में प्राप्त 158 उ ई० का निर्णय - पत्र है । विद्वान्मिश्र के जीवनकाल का निरूपण करते समय यह निश्चय हो चुका है कि इस निर्णय पत्र पर प्राप्त इस्ताहर भावाग्लेश का ही है । अतः इस निर्णय पत्र के आधार पर भावाग्लेश का जीवन काल 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध 17वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सुविधा से माना जा सकता है । भावाग्लेश वाराणसी के रहने वाले 'वीक्षित' उज्ज्वलित के ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम विश्वनाथ और इनकी माता का नाम श्वानी था । ये लोग कर्मकाण्ठी ब्राह्मण थे । इनके पिता ने स्वयं कई पत्र लिखे थे । इनकी ख्यातुगत संज्ञा 'भावा' वा 'भाले' थी ।

भावाग्लेश ने 'पातञ्जलयोगसूत्रों पर जो द्वालि लिखी है वह 'योगदीपिका' के नाम से प्रख्यात है । व्याख्या का यह नाम 'योगदीपिका' के प्रथम पाठ की पुष्पिका में उल्लिखित है । कुछ विद्वानों के अनुसार इस व्याख्या का नाम 'योग सूत्रदीपिका' भी है । 'योगदीपिका' एक संक्षिप्त व्याख्या है । इस व्याख्या को आश्रित ने 'योगानुशासनसूत्रद्वालि' संज्ञा दी है । भावाग्लेश के अन्य प्रतिद्व प्रथ्य है 'तत्त्वसमाप्त-व्याख्यार्थदीपन' और ब्रह्मोपनिषद् की 'द्विचन्द्रिका' ।

1 - प्रुष्टव्य - महार जायन्त्री कुलेटिन, फरवरी 1944 ई०

2 - भारतीय बालोपनाभासुविधिवितया रामहृणो निधिः  
सताहकार्या विनीतीयविधिगुननिधिभिलनाषोऽनुनिर्ण  
सत्याव्यातातरोतीविधिषममंहुतः प्रावुरासीदुन्वान्याम्  
कीमदायी ग्लेशो भुविधिवितगुप्तस्यविधिविधिकास्तु ता

द्विचन्द्रिकाटीका प्रथम संस्करण

पार्वन्तयोगसूत्रवृत्तिः

नारोत्रामद्वय कृत्वा रचित योगसूत्रों की व्याख्या 'पार्वन्तयोगसूत्रवृत्ति' के नाम से प्रचलित है। नारोत्रामद्वय हरिदोशित के शिष्य के और हरिदोशित प्रतिग्रह व्याकरणभाष्यार्थ बट्टीजिजीवित के पोते थे। हरिदोशित का समय 17वीं शताब्दी ईसवी में माना जाता है। इस आधार पर नारोत्रामद्वय का भी जीवनकाल 17वीं शताब्दी या 18वीं का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए। नारोत्रामद्वय का जन्म महाराष्ट्र के तालगाँव नामक स्थान में हुआ था। परन्तु अपने जीवन का अधिकतम भाग इन्होंने वाराणसी में ही व्यतीत किया। इन्होंने व्याकरणसाहित्य का गहन अध्ययन किया। इन्होंने संस्कृत व्याकरण पर अत्यन्त उल्लेखीय के अनेक ग्रन्थ लिखे। जिनमें सवर्णिक प्रतिग्रह वेदाकरणसूत्रा, तत्पुत्रसूत्रा, परिभाषासूत्रा, तन्त्रेसूत्रा, तद्युक्तसूत्रा हैं। चतुर्जीव के महाभाष्य पर लिखी गई केन्द्र की 'प्रबोध' नामक टीका पर नारोत्रामद्वय ने 'उद्योत' नामक सुविश्लेष व्याख्या लिखी है।

संस्कृत व्याकरण पर की गई इनकी व्याख्या का मुद्रित में रचकर कीर्तारोत्र न होशय ने इन्हें आधुनिक युग का सबसे बड़ा वेदाकरण माना है। साहित्यशास्त्र में भी इनका योगदान पूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने मध्य के 'कल्पप्रकाश' पर लिखी गई गोविन्दबट्टकुर की 'प्रबोध' टीका पर भी 'उद्योत' नाम की विश्वरसा-पूर्ण व्याख्या लिखी है। इन्होंने ये अपनी रचनाओं में ही तत्काल की कल्पनाकर संतुष्ट थे। इन्होंने अपनी पत्नी को सन्ततिरहितत्व का दुःख दूर करते हुए कहा था :-

" तन्त्रेसूत्राः पुत्रः, मनुष्या दुहितः तव ।  
एतयोः सनिधाने हि कीदृशी मनसो रजा ॥"

नारोत्रामद्वय की कृतियों को हम सुविधा से 17वीं शताब्दी के अन्त में और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रच सकते हैं।

। - इष्टव्य -

" Studies in Indian Literary History." Vol. III

— Dr. P. K. Gode. P. 213.

## मभिप्रभा

मभिप्रभा की 'योगसूत्रों' पर ही माहात्-व्याख्या है। इसके लेखक 'रामानन्ददास' थे जिसके गुरु का नाम गोविन्दानन्द था। इसके बारे में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है कि ये कब और कहाँ पैदा हुए थे। 'मभिप्रभा' की भाषा-शैली और विचारों का अवलोकन करने से केवल इतना जर मितबल ही प्राप्त है कि ये विश्वनाथसु के भाव के ही लेखक हैं। नारायणतीर्थ की व्याख्याओं में मभिप्रभा का बहुत अधिक उपयोग हुआ है, इससे भी यह मभिप्रभा काल ही होती है कि यह व्याख्या 16 वीं और 17वीं शताब्दी के बीच की रचना है।

मभिप्रभाकार ने 'पातञ्जलयोगसूत्र' में आए हुए सूत्रों के पाठ को दोहरे बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। यथा प्रथम-पाठ के 26वें सूत्र में से 'स तथा' पद का छोड़कर केवल 'पूर्वैर्भाषीय गुरुः कतिमानवच्छेवात्' ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने विभूतिपाठके 43वें और 44वें सूत्र को संयुक्त करके दोनों को एक ही सूत्र के रूप में स्वीकार किया है। यथा—  
 "अद्वैतकीर्त्यात् सुखित्तमहाविदेहा ततः प्रकृतावरणव्ययः क्लृप्तस्वस्थ सुहृन्निवार्य-  
 वत्सर्गमावृत्तजयः ।"

योगसूत्र पर यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है न अतिसंक्षिप्त। विषय का विश्लेषण इसमें कतों भी नहीं किया गया। इस पर भाष्य तथा तत्त्ववेत्तारकी का प्रभाव पूरी तरह से स्पष्टीकृत होता है।



योगसिद्धान्तचन्द्रिका -  
योगसुधारवैतथनी

इन दोनों व्याख्याओं के रचयिता नारायणतीर्थ हैं। इन्होंने 'सद्य-  
करीकानों' पर 'सद्यचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या  
वाचस्पतिमिश्रकृत 'तत्त्व-तत्त्वकौमुदी' की तुलना में बहुत संक्षिप्त है परन्तु संक्षिप्त  
होने पर भी इसमें अर्थबोध की श्रमता पर्याप्त मात्रा में है। इन्होंने इसके  
श्रीतीर्थक भक्तिचन्द्रिका, भक्त्यधिकरणमहा, तत्त्वचन्द्रिका, स्याद्वक्तुमान्जीव्यव्याख्या,  
सिद्धान्तयोगसुधारव्याख्या तथा वेदान्तसूक्तटीका 'विभावना' इत्यादि ग्रन्थों की  
रचना की है। नारायणतीर्थ ने 'भक्तिचन्द्रिका' के भाग एक के 28 लेखों पर  
वक्ति की एकाका सूक्तियों का नामनिर्देश 'भक्तिरसायन' के तीन श्लोकों के द्वारा  
किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि नारायणतीर्थ मधुसूदन सरस्वती के  
परमर्त हैं। मधुसूदन सरस्वती का समय ईसा की 16वीं शताब्दी है। अतः  
नारायण तीर्थ का समय 16वीं शताब्दी ई० के काफ़ी बाद में हीना बतियाए।

इसके श्रीतीर्थक अनन्तवेश द्वितीय ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिनिर्णय' में  
नारायण-तीर्थ द्वारा रचित 'भक्तिचन्द्रिका' में से भक्तिबोधक पंक्तियों को उसी  
स्थ में उद्धृत किया है। नारायणतीर्थ अनन्तवेश के पूर्ववर्ती हैं। अनन्तवेश  
द्वितीय के ज्ञाप्यवशात् बालकठापुरचन्द्रबोध है। उनके एक दानपत्र के आधार  
पर उनका समय 1787 ई० निर्धारित हुआ है। अतः इनका समय इनसे पूर्व का  
हो हीना बतियाए। इसीलिए नारायणतीर्थ को 17वीं शताब्दी ईसवी में मानना  
युक्तव्यक्त प्रतीत होता है।

भास्वती -

स्वामी हरिहरानन्द आरभ्य 19वीं शताब्दी के अन्तिम पक्ष तथा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य सांख्ययोग-वर्णन के प्रतिष्ठित अध्याय हुए हैं। स्वामी हरिहरानन्द आरभ्य एक साधक योगी थे। इन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग 'कूपतगुहा' में व्यतीत किया था। सन् 1926 से 1947 तक वह उसी 'गुहा' में रहे और अन्त में वहाँ इन्होंने अपने पारिव्य शरीर का त्याग किया।

इन्होंने वर्णन कीये अनेक पुस्तके 'गिद्धी', जिनमें से प्रमुख यह हैं - 'सखितत्वान्तर', 'भास्वती', (योग वर्णन के व्याख्यान की टीका) पंचसिद्धांतिकायां सखि-सुखम् (लक्षणायां) योगसंरिक्त, धर्मपदम् (पालोपम पद का संस्कृत अनुवाद)। ये सभी ग्रन्थ स्वामी हरिहरानन्द जी की प्रखर प्रतिभा के द्योतक हैं।

'स्वामिनारायणवाच्य' के रचयिता श्री कुम्भवतनारायण का जन्म पंचिम-भारत के सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्तमें देवतीग्राममें के निकट स्थित किरी राजघराने में हुआ था । इनके पिता का नाम 'गोपाल' देव था और माता का नाम 'कमलावती' केशी था । इसी प्रतिष्ठित राजकुल में सन् 1961 विजयो शिवनीशुक्लपंचमी को उनका जन्म हुआ था । 14 वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने गुरु श्री स्वामिनारायण से दीक्षा प्राप्त की और दीक्षोपरान्त कलसीनगरी में आकर शास्त्रों का अध्ययन किया ।

इन्होंने सधियायोग, देवान्त सौर न्याय श्रद्धि धर्मों का अध्ययन किया और बाद में इन्होंने ब्रह्मज्ञान ग्रन्थों पर इन्होंने कई व्याख्याएँ लिखीं । इन व्याख्याओं के नाम इस प्रकार हैं :- सन् 1986 में 'सधियाकरिकावाच्यम्', सन् 1987 ई० में योगसूत्र पर 'स्वामिनारायणवाच्यम्' सन् 1988 में 'दीक्षस्वामिनारायण देशान्तसारः' सन् 1990 में 'तर्कसंग्रह वीथिकाकिरणवाच्यो' सन् 1992 में सधियातत्त्वकोमुदीपिकरणवाच्यो और सन् 1993 में न्यायसिद्धांतमुक्तावली' पर 'किरणवाच्यो' । इन ग्रन्थों के प्रतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना इन्होंने की है जथा 'सौकुण्ठित' पर 'किरण नामक व्याख्या तथा 'सधियाकरिकागौडपादवाच्यकिरणम्' श्रद्धि

इन अनेक पवित्रग्रन्थपूर्ण ग्रन्थों की रचना के कारण विद्वानों ने उन्हें छठों धर्मों का ज्ञाथि स्वीकार किया है और इन्हें ब्रह्मज्ञानपरवानम-ब्रह्मज्ञानाचार्य - मन्वन्त्याचार्य - सधियायोगवेदान्तसौम्यशास्त्रि पण्डित' की उल्लेख उपाधि से विभूषित



1 - " भारत पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसंगते । 'देवताऽऽत्र'  
समाधारे 'कलसौराष्ट्र' विभूते । - - - श्रीमद् 'गोपाल' देवानीकृत  
पुण्यसतीं गृहे । धर्मपत्न्या की 'कमलावती' देव्या सुतीपकः ।  
वैक्रमे सन्मणीभित्तिर्भूयते 1961 वसन्ते शुभे । शिवनीशुक्लपंचमी पुत्रो  
दो जन्म तन्ववन् । "

किया है । इनकी रचनाओं में 'संविधिकारिकाभाष्यम्' के बाद 'योगसूत्र' पर लिखी गई 'व्याख्या' स्वामिनारायणभाष्य' का ही स्थान है ।

इस प्रकार यह भाष्य 'योगसूत्रों' की 20वीं शताब्दी ई० की व्याख्याओं का प्राथमिक प्रतिनिधिग्रन्थ कहा जा सकता है ।

स्वास्थ्यों की शोभा-शोभा  
स्वास्थ्यों की शोभा-शोभा :

### व्यासभाष्य

पारतन्त्र्ययोग सूत्र पर व्यासमुनि द्वारा विरचित भाष्य अत्यन्त तमसादृत है। पारतन्त्र्ययोगसूत्रों को सही रूढ़ि से समझने के लिए व्यासभाष्य में अपरिचित तत्त्वज्ञान प्रकृति है। भाष्य की भाषा शैली साफ़ तथा सरल है। भाष्य में तो बहुत विस्तृत है न प्रति स्पष्ट, प्रस्तुत विषय को समझने के लिए जितना विवेचन अपेक्षित है उतना वर्णन भाष्य में प्राप्त होता है। योगसूत्रों में निरूपित योग से सम्बन्धित समस्त विषयों का सांगोपांग विवेचन भाष्य में किया गया है। भाष्य की शैली प्रबलपूर्ण तथा प्रभावशाली है। सूत्रों की पारस्परिक क्रमिकता और उन की संगति का साफ़ टोकरण भाष्य से ही प्राप्त होता है। एक सूत्र को समझने होने पर दूसरे सूत्र में प्रतिपादित विषय पूर्वसूत्र के व्याख्यान के साथ ही प्रस्तुत किए गए उदाहरणभाष्य से स्पष्टतः स्फूर्तित हो जाता है। यथा - 'तस्य तालभाषिणीयस्यैव सूत्रं प्रवृत्ते-योग-चित्ततृप्तिनिरोधः ।'

शैली - विषय को संक्षेप शब्द करने के लिए भाष्यकार ने यथास्थान उदाहरणों, कथित, विष्णुपुराण आदि की उक्तियों को उद्धृत रूढ़ि में प्रस्तुत किया है। प्रथम-पाद में सूत्रीय सूत्र को व्याख्या शब्द करने हुए भाष्यकार लिखते हैं -

"स्वच्छप्रतिष्ठा तदानीं चित्ताभितर्पणा केवत्ये,  
व्युत्थानचित्ते तु सति तथैव भवन्ती न तथा ।"

अर्थात् जिस तरह केवत्ये की शब्दा में चित्ताभितर्पणा पुरुष अपने रूढ़ि में ही अवस्थित रहता है, उसी तरह चित्तव्युत्थायस्या में भी वह अपने साथ में तथैव स्थित रहता है। व्युत्थान-काल में चित्ताभितर्पणा पुरुष पूर्ववत् रहता हुआ भी वेदाग्र प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार प्रथम-पाद के चौथे सूत्र के बाध्य में बाध्यकार ने पक्षितान्ता-  
चार्य मुनि को उक्त को प्रस्तुत किया है । ' एकमेव सर्वं ध्यातितरेव सर्वम्'<sup>1</sup>  
इति । प्रथमपाद के तैत्तिरीयसर्वे सूत्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए परम् जीवि को  
गाथा को उद्धरण रख में प्रस्तुत किया है ।—

" प्रकाशप्रसादमस्त्वय आतोष्यः शोकतेज जनान् ।  
सुविध्यमिव रैस्तदाः सर्वप्रसन्नैः अनुपरायति ।।"

सूत्र है "निर्विचारवेशार एवेऽध्यात्मप्रसादः ।" अर्थात् निर्विचारसमाधि के वेशारण्य से  
अध्यात्म-प्रसाद होता है । सचित्कर्त, निर्वित्कर्त, सविचारा और निर्विचारा समाधिस्थितियों  
में से सविचारा समाधिस्थिति अधिक स्पष्ट है । निर्विचारा-समाधि के प्रसार से योगी को  
शुद्ध राजे, तमोगुण स्वरो मर्तों से अदेत होकर स्वच्छ हो जाते हैं और योगी को  
परमानु स्थ समस्त विषयों का क्रम के अनुरोध विना ही अर्थात् एक साथ ही  
पूर्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस प्रकाशतेज को ही अध्यात्मप्रसाद कहा गया है ।  
अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त योगी का स्वरूप क्या होता है इसका मतलब के लिए उक्त उदाहरण  
दिया गया है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार पर्वत पर स्थित बृहस्प शूषि पर  
स्थित पुराण को छोटे जलकार में देखता है उसी प्रकार शोकरहित प्रकाशप्रसाद को प्राप्त  
किया हुआ योगी अन्य प्रजानी पुराणों को शोकमुक्त देखता है । इस उदाहरण से  
बाध्य का अर्थ और भी स्पष्ट और प्रमाणिक हो जाता है ।

48वें सूत्र के बाध्य में सूत्रस्थित पदों का सुस्पष्ट विवेचन करने के  
अभिप्राय से सूत्रों में से एक श्लोक उदाहरण रख में प्रस्तुत किया गया है -

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।  
त्रिधा ब्रह्मपश्यन्नात्तमेतं योगमुत्तमम् ॥

- 
- 1 - सूत्रस्थ - आत्मबाध्य सू० 18 F  
2 - सूत्रस्थ - वही सू० 125 F  
3 - सूत्रस्थ - वही सू० 126 F

द्वितीय-अध्याय के पाँचवें सूत्र में शक्तिव्या के स्वस्व का विवेचन मिलता है । मानव शरीर के प्रतिमोड, मध्य शक्तिव्या के कोटिक शरीर रचना कैसे होती है यह ज्ञानकार शरीर के प्रति ज्ञान मान उत्पन्न होने लगता है । इस संदर्भ में भाष्यकार वेदाधिकारी भाष्य की उक्ति का प्रमाण देते हैं :-

“ स्थानाद्भोजीजापुपश्चत्वाभिन्नाः श्वन्वाग्निधनाश्वि ।  
कायभाषेय शोचत्वात्पण्डिता इत्युक्तिं विदुः ॥ १ ॥”

द्वितीय कोश 'शक्तिव्या' के निरूपण में श्री महर्षि पञ्चविद्याचार्य की उक्ति को उद्धृति इस प्रकार से उद्धृत किया है :-

“ बुद्धयः परं पुरुषमाकारशरीरगतिकर्षणं विभिन्नान्तरप्रपश्यन्तु कुर्यात्स्वामुक्तिं  
पोडेनेति । द्वितीय-अध्याय के ३ अं सूत्र के भाष्य में उद्धृत जन्मे वनीय और  
अपुपश्चत्वाभिन्नाय कर्मा का वर्णन लाया है । तृतीय पाव के छठे सूत्र में 'संयम'  
का विनियोग' किसमें होता है इसका वर्णन लाया है । यह निरक्षणभाष्य में बड़ी  
सूक्ष्मता के साथ मिलता है । भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा है कि संयम का परिवर्तन  
भूमियों से संबन्ध है । यहाँ पर भूमियों के पूर्व और पश्चात् के संबन्ध में शक्ति  
होती है कि कौन सी भूमि पहले जाती है और कौन सी पश्चात् उस शक्ति का समर्थान  
करने के लिए शास्त्रांतर से श्लोक उद्धृत किया गया है ।

“ योगेन योगी ह शक्तयो योगो योगात्प्रवर्तते ३

योऽप्रयत्नस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥”

भूमियों का ज्ञान योग से प्राप्त होता है शक्ति योग से ही योग ज्ञान जाता है ।  
योग बल से स्वयं पूर्व और पश्चात् भूमि का ज्ञान हो जाता है ।

- 
- |     |                     |         |   |
|-----|---------------------|---------|---|
| 1 - | दूरस्थ - व्यासभाष्य | पृ० 147 | । |
| 2 - | ब्रह्मस्थ - बही     | पृ० 151 | । |
| 3 - | दूरस्थ - बही        | पृ० 282 | । |



विभूतिपार में 44 के सूत्र में जार हुए स्वतः, सूत्रम प्रवचनों के स्वस्व  
 का विवेचन अत्यन्त ही सरल तथा स्पष्ट शैली में किया गया है । विवेचन की  
 दृष्ट और अधिक सुगम बनाने के लिए महर्षिपदविश्वनाथ के वचन का प्रमत्त किया  
 गया है - " तथा चोक्तम्—एकजातितमैश्वरानामेषां धर्ममात्रव्यापृतिरिति सामान्यविशेष-  
 समुदायोक्तवक्ष्यं ब्रह्मण्यम् । " अर्थात् प्रकृतियों इत्यादि जूनों को करने-संगने धर्मों  
 में व्यापृति होते हैं ।

पुनितयों का स्थान :- वाच्य में प्रमाणों का पिष्टृत विवेचन किया गया है ।

अनुमानप्रमाणों समझने के लिए आवश्यक युक्ति देने हैं - " अनुमेयस्य तुल्यजाती-  
 येभ्यमुक्तयो भिन्नजातियेषो व्याकृतः संख्यो यस्मत्प्रतीकया सामान्यावधारणप्रधाना  
 वृत्तिरनुमानम् । यथादेशान्तरप्राप्तेर्गीतमन्त्रतरकं चेतस्य, विन्दाश्वाप्रगीतरहितः १ "

अर्थात् अनुमेय के वस्तुत्वों में रहने वाला और विजातियों में न रहने वाला वे निर्णय  
 उसके जाल से सामान्य ज्ञान को मुझ सा से ग्रहण करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण  
 है । यथा चक्षुषा और तारे गीतमान हैं भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं के कारण ।  
 यहाँ पर अनुमान का लक्षण तो 'सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्' से ही  
 निकाला जाता है परन्तु यद्यपि वृत्ति किस प्रकार की होनी है इत्यादि स्पष्टीकरण वाच्य  
 में ही हुई युक्ति के द्वारा ही संभव हो सका है ।

इसी तरह क्लृप्त का लक्षण स्पष्ट करने के लिए वाच्यकार ने यह युक्ति  
 प्रस्तुत की है - " यस्मिन्प्रत्येकपि सावधाना ग्राह्यात्मनि क्वचनो व्यञ्जकारो दृश्यते, तद्वत्त्वा  
 'चेतस्य' पुरुषस्य स्वस्मृतिरिति । यथा चित्तिरेव पुरुषस्तथा किमत्र केन व्यपदिश्यते ?  
 नयति च व्यपदेशो वृत्तिः यथा 'चेतस्य गौरिति' तथा 'प्रतीतिव्यवस्तुधर्मा निर्दिश्यः  
 पुरतः' । 'तिष्ठति चालः' । स्थायति, 'श्चित' इति ।

- 1 - ब्रह्मण्य - व्यासभाष्य पृ० 365 F  
 2 - दृष्टव्य - इतानभाष्य पृ० 28 F  
 3 - दृष्टव्य - पत्नी पृ० 36 F

ईश्वर के वाच्यवाचक संबन्ध को बतलते हुए उल्लेख किया गया है -  
 'ब्रह्मोप प्रकृतत्वव्यतिथिर्मात्रम् ।' अर्थात् वाच्य (ईश्वर) और वाचक (ब्रह्म) में  
 संबन्ध सकलकृत है अर्थात् पहले से ही है जैसे वीथक में प्रकृतता पूर्व स्थित है ।

अन्य मतों की आलोचना - इतल-बल पर भाष्यकार ने योग सिद्धान्त  
 के विरोधियों की बड़ी-बड़ी आलोचना की है । अन्य विरोधी मतों को निराधार  
 सिद्ध करते हुए सूत्रसम्मत सिद्धान्त को ही सुष्ठु बताया है । प्रथम-पाठ में  
 सूत्र 32 के भाष्य में भाष्यकार ने वेदवैशेषिक मत का बरपूर खण्डन किया है ।  
 वेदवैशेषिकों का कहना है कि चित्त दृष्टिक्रिय है । ब्रह्म के साथ-साथ चित्त की  
 अवलता रहता है । अतः ब्रह्मके चित्त अपने-तपने निर्धारित समय तक के  
 लिए एकाग्र कहे जा सकते हैं अतः सभी चित्त एक ही हैं विशिष्ट नहीं ।  
 भाष्यकार ने इस मत का विरोध करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि  
 जब चित्त को सभी विषयों से खींचकर एक ही ज्ञानमय में समाहित किया जाता है  
 तब उस चित्त को एकाग्र कहा जाता है । दृष्टिक्रिय चित्त एकाग्र नहीं हो सकता  
 ब्रह्मकीनियत चित्त को ही वेदवैशेषिकों ने एकाग्रचित्त माना है । इससे विशिष्ट की चित्त  
 की अनुपलब्धि हो जाती है जो सम्भव नहीं है ।

1 - ब्रह्मसूत्र - व्यासभाष्य पृ० 82 ए

2 - ब्रह्मसूत्र - बहो पृ० 92 ए

अनः" एकम् अनेकार्थम् अव्यञ्जितम् चित्तम् इति । " अर्थात् अनेक अर्थों का प्रकट करने वाली एक व्याप्ति चित्त ही होता है ।

विभूतिपाद में । उर्वे गुरु के माध्य में बीजमल का छानना किया गया है । बीज-मल के अनुसार भूतिकर्मादि पदार्थों को निश्च भ्रष्टता धारित कोटि पर जब दृष्ट जाता है तब पुनः भूतिकर्मा के रूप को ही प्राप्त हो जाता है । अतः भूतिकर्मा दृष्टमित्ये है । परन्तु पाप-द्वान में इस प्रकार की भूतिकर्मात्मकता को प्रगणित नहीं माना गया है, योग के अनुसार चिन्तितमि में अतिरिक्त अर्थ कोई भी पदार्थ क्लृप्ति-निश्च नहीं माना जा सकता । इस संवेद्य में भाष्यकार ने सुचित ही है कि - भूतिकर्मादि तथो पदार्थों अर्थान् के द्वारा लभनये गते हैं और अन्त में वे लभ्य होते रहते हैं अतः नन्दस्य गुरु के कारण भूतिकर्मादि पदार्थ निश्च नहीं माने जा सकते ।

पर-  
विद्वान्तरापर अधिक अतः अर्थान् भाष्यकार ने माध्य ही रहना गुरु के अनुसार ही है । माध्य में वाचनता पर अधिक बल दिया गया है । सर्वप्रथम योग का है ? अतस्कार भाष्यकार ने योग प्राप्ति के लौन-लौन से साधन के तथो का विश्रुत विवेचन प्रस्तुत किया है । संभवतः इहां भूतिकर्मादि से पार्श्वगत योगसुर्वो का का विधान करते हुए प्रथमपाद को समाधिपाद किङ्करीय को वाचन-पाद, सुमीय-पाद का विभूतिपाद और अन्तिम अथवा अनुसर्वाय का कैवल्यपाद ना दिया गया है ।

समवेदितचित्त वाली योगों के निम्न अंशों पर वैराग्य का अभाव उत्तम साधन के निम्नके अथवा योगो लक्ष्यजन, असाधनता नास्ति समवेदियों का प्राप्त करत हुआ विवेकव्यापि को प्राप्त करता है तत्पश्चात् धर्मिय-समाधि को और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है ।



। - " अथमवेदियः । कश्चिन् ? अन्ततः शुभमयात् । तदेतत्कौटोर्वा व्यजेरपीति । निश्चप्रतिभेषात् । अवेतमप्यीति । निमासादीन्नेषात् । "

' भाष्यकार ने श्रुतियुक्तचित्त वाले साधकों के लिए 'क्रियायोग' का  
 विस्तार वर्णन किया है । असम्भ्रान्त-समाधि के आठ अंगों का उल्लेख भी किया  
 है अर्थात्-ध्यान, नियम, अस्ति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये  
 आठ योग के अंग हैं । जिनके अन्वयण से असम्भ्रान्त-योग की प्राप्ति होती है ।  
 इनमें से पूर्व के पाँच अंग सम्भ्रान्त-योग के अन्वयण साधन हैं और अष्टांग के तीसरे  
 अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि सम्भ्रान्त-योग के अन्वयण साधन हैं । निम्नलिखित -  
 पाद में इन तीनों अन्वयण साधनों का विस्तृत वर्णन किया गया है ।

भाष्य की ऐसी विवेचनात्मक है । पूरे भाष्य में योग विषयों सभी  
 विषयों का सम्यक् विवेचन है । उदाहरण के लिए योग का स्वस्व, सम्भ्रान्त  
 असम्भ्रान्त-योग, विवेकध्यान, धर्मियसमाधि और कैवल्य । कहीं-कहीं इनकी तर्क  
 पद्धति प्रयत्नों के वास्तविक भी शब्द एक प्रभावपूर्ण नहीं हो पाए हैं । जैसे :—  
 " द्वायंतेन तुहायोग्युगपत्कामित्तर्षप्रतिनर्षित, अर्थस्य विशुद्धत्वात् " यो भाष्य  
 भाष्य में विधानवादी शैलीवाच्यता में शैली शब्द लिए गए हैं जैसे 'स्वयन्काम्य',  
 परिष्कृत इत्यादि । भाष्य में वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं । भाष्य कहीं-कहीं अनावश्यक  
 शब्द से विस्तृत है । जिसके कारण सुत्रों का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट हो  
 जाता है । उदाहरणार्थ साधन-पाद में । अर्थ सूत्र का भाष्य अत्यन्त विस्तृत होकर  
 अस्पष्ट हो रहा है ।

3774 10  
 1918



317366

तत्त्ववैशारदी -

'तत्त्ववैशारदी' भाष्य के मध्यम ते योगदर्शनों पर की गयी व्याख्याओं में सबसे पहली तथा प्रथम व्याख्या है । 'तत्त्ववैशारदी' की भाषा-शैली बड़ी ही सुसजीत एवं साहित्यिक है । इसमें परिष्कृत संस्कृत का प्रयोग मिलता है । तत्त्व-वैशारदीकार ने योगशास्त्र विषयों का विवेचन अत्यन्त ही सुन्दरता से किया है । प्रत्येक विषय का विवेचन देने के पूर्व व्याख्याकार ने समझे परने सार्वभौम श्रुतियाँ रचीं हैं अतएव तत्त्व विषय का विस्तृत प्रतिपादन किया है । शब्दों की रचना समुचित है । बहुत अधिक लम्बे शब्दों का प्रयोग नहीं है ।

भाषा विवेचनात्मक और वर्णनात्मक दोनों ही प्रकार की है । विवेचनात्मक इस लिए कि इसमें 'योग' से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है । वर्णनात्मक इस लिए कि विवेचन को शैली विस्तृत तथा वर्णनात्मक है । स्थान-स्थान पर उद्धरण भी किए गए हैं । यथा प्रथमपाद के तृतीय-सूत्र के भाष्य की व्याख्या में बुद्धिबोधनाय पुरुष के स्वभाव की तुलना सूर्य के प्रकाश से की गई है — "पुरुषस्य बुद्धिबोधनाः स्वभावः सवितुरिव प्रकाशाः ।" प्रथमपाद के तीसरे सूत्र के भाष्य की ही व्याख्या में तत्त्ववैशारदीकार ने पुरुष के चैतन्य स्वरूप की तुलना स्वच्छन्दक-मणि से की है, यथा — जित प्रकार स्वच्छन्दक अपने निकट के पदार्थों से परिलम्बित होने लगती है उसी प्रकार पुरुष का शुद्ध चैतन्य स्वरूप जब उपस्थित होता है तब तत् तत् विषयों के अनुस्यू ही परिलम्बित होने लगता है — "पुरुषस्य हि चैतन्यं स्वस्वमनोपाधिर्न तु बुद्धिबोधः सम्ताविस्तः । उपस्थितो हि सः स्वच्छन्दकस्य स्वभावस्वच्छन्दकस्य जगत्सु मनोपाधोपाधिपरश्चैव ॥"<sup>2</sup>

1 - प्रच्छन्द - तत्त्ववैशारदी पृ० 16 F

2 - प्रच्छन्द - वही पृ० 16 F

प्रथमपाद के छठे सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्त्वशास्त्रकार ने सबसे पहले उसमें निहित व्याकरण का निर्देश किया है । प्रस्तुत सूत्र में ' चार्थेवृत्तम्बुज' समास है । यह विशेष उल्लेख है क्योंकि अन्य व्याख्याकारों ने इस सूत्र को धीरे धीरे छोड़ दिया है । किन्तु ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है । परन्तु वाचस्पतिमिश्र की सूत्रम दृष्टि में उसमें निहित व्याकरण की तरफ ध्यान आकर्षित किया है । व्याख्या की शैली सर्वत्र व्याकरण-प्रकार है । समासों के समुचित विग्रह के द्वारा पदों के समास होने की चेष्टा की गई है । " स्वर्गमन्त्ररत्नमन्त्र-मन्त्रो धर्मः स त्वात्मा । स्वर्गमन्त्रः स्वर्गः । स्वर्गमन्त्रः स्वर्गः । स्वर्गमन्त्रः स्वर्गः । " योगः पृ० २० ।

विद्यमानता और साधनाता दोनों पर का -- 'तत्त्वशास्त्र' की

में विद्यमानता का विवेचन भी पूर्ण विस्तार के साथ किया गया है और साथ ही साधना योग के साधना का विवेचन भी तत्त्वशास्त्र के साथ किया गया है, अर्थात् दोनों विषयों का पर्याप्त विवेचन किया गया है । वेदशास्त्रों के अन्तर्गत एकत्र चिन्ता का अन्वय किया गया है । अन्वय की शैली बड़ी स्पष्ट है । सीधे मत का अन्वय करने के पश्चात् सभी धारणा के मत का प्रतिपादन किया गया है ।

' विज्ञानवादी' धर्मशास्त्रों के कुछ शब्दों का प्रयोग भाष्यकार को वैदिक तत्त्वशास्त्रकार ने भी किया है । यथा -- परिकर्म, प्रत्यक्ष, स्वर्गमन्त्ररत्न इत्यादि ।

उत्तरज-प्रियता - तत्त्ववेत्तार दीकार 'सख्यवर्ति' से बहुत प्रभावित हैं। 'दृश्य' के स्वच्छ का विवेचन करते हुए 'वाक्य-कारिका' में से एक कारिका उत्पन्न की गई है।—

"अन्वेषितं लोहितं ननु मङ्गलं बहवोः प्रकः सुखमसौ गच्छाः ।

अन्योऽप्येको नु मयस्योऽनुमेत जातव्येन त्वत्तमोगात्स्नेह्यः ॥"

तत्त्ववेत्तारदो में वाचस्पतिमिश्र ने वाक्य के प्रत्येक पद को उत्तरा स्वच्छ प्रथं केपर समझाया है। विषय को समझने के लिए हमें ही सुखियों को अधिक सहायता नहीं ली है प्रत्युत अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक शब्द को व्याख्या करके अर्थ की वेष्टागम्यता बताया है।

### राजमार्तण्डश्रुति

राजमार्तण्डश्रुति पारमार्थिकयोगियों पर अत्यन्त सक्षिप्त व्याख्या है। परन्तु सक्षिप्त होने हुए भी इसमें विषय का प्रतिपादन बड़ी सरलता से किया गया है। इसको ज्ञान मरग है। जिना किसी प्रतिरिक्त महत्त्व के ही विषय समझ में आ जाता है। शैली में सरलता के साथ-साथ प्रवाह-मयता भी है। दुहितियों तथा उच्छ्रुतियों का भी प्रयोग मिलता है। विषय का विवेचन जिना भूमिका समार हुए स्पष्ट और सक्षिप्त रङ्ग में किया गया है। इसको भाषा उच्च कोटि की साहित्यिक नहीं है, अपितु साधारण है।

इ-1 व्याख्या में श्रुति, श्रुति और पुराण श्रुति के तर्कों का सक्षिप्त अथवा उल्लेख नहीं किया गया है। धेनादिकों और विज्ञानवादीयों के समों की

चर्चा तथा आलोचना नहीं की गई है। केवल सूत्र के पदों के भावार्थगतत्व के योग के विश्लेषणों का विवेचन किया गया है। विश्रुतान्त और साधनार्थ दोनों पर बराबर काट किया गया है। पदों के विश्लेषणों का उल्लेख किया गया है तथाचात् उनकी प्रकृति के लिए साधनों का उल्लेख किया गया है। इन व्याख्या में लगभग सभी सूत्रों का विवेचन प्राप्त होता है। केवल चतुर्षोडश के 16वें सूत्र की व्याख्या राजमार्ग बुद्धि में नहीं की गई है।

इन व्याख्या में दृष्टान्तों का प्रयोग भी मिलता है तथा -- पुरुष भी अतुल्यता का भेद चित्तधृतिवर्गों के साकार का भासित होता है। इस विषय के शब्दोक्ति के लिए व्याख्याकार ने युक्ति दी है कि -- जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप में अज्ञान भी वेदा ही प्रतिबिम्बित होता है उन्ही प्रकार पुरुष भी अतुल्यता का भेद चित्त धृतिवर्गों के अतुल्य भासित होता है।

सरतता, उक्ति, सुखी तथा प्रभावसाधिता रागम तर्कबुद्धि में सर्वत्र वर्तनीय है। इस व्याख्या की पद्धति तत्त्ववेत्तारों की ही मानी है। पहले सूत्रगत पदों को विशद करने के लिए तत्त्वचात् उनका अर्थ दिया गया है। तथा -- प्रथमपाद के 19वें सूत्र की व्याख्या बुद्धयुक्त है --

“ विवेकाः प्रकृतितयास्य चित्तधीवर्गुक्तं ह्युक्तं व्याख्याता, तेषां समीचीनत्वप्रत्ययः भवः संपादः स एव प्रत्ययः कर्णोपपत्त्य स मेलप्रत्ययः । अथार्थः मध्यमान्तरकृतं एव ते संतरे तथाविध समीचीनत्वो भवति ।” राजमा० बु०पृ० 30 ।

समाधानों की दृष्टि से तत्त्ववेत्तारों को योगवर्तिका तथा राजमार्गबुद्धि दोनों व्याख्याओं में अज्ञान-अज्ञान ज्ञान-ज्ञान स्थान रहती हैं। तत्त्ववेत्तारों



उद्धारणों का प्रयोग भी उपलब्ध है । इसके विपरीत योगवार्तिक<sup>11</sup> भाषा ऐसी स्पष्ट है । अतः प्रवाह में बाधा पड़ती है । विषय का विवेचन निरालम्ब विस्तार के साथ किया गया है । उद्धारणों और युक्तियों का बाहुल्य है । विज्ञानविशुद्ध युक्ति, स्पष्टि और पुराण से बहुत अधिक प्रबलित है । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्यानप्रतिष्ठा विन्म-विन्म है । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्यानप्रतिष्ठाओं की तुलना में बहुत सौख्य है । इसकी भाषा सरल तथा बोधगम्य है । उद्धारणों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में हुआ है । उक्त दोनों व्याख्याओं की तुलना में राजमार्तण्डवृत्ति अपनी सरलता तथा स्पष्टता के कारण अधिक लोकप्रिय हो पायी है, जैसे यदि साहित्यिक वैशिष्ट्यका नियम जैसे तो 'तत्त्ववेत्तारवी' का स्थान भी में ऊँचा है ।

व्याख्यान इन सभी व्याख्याओं की तुलना में अधिक प्राचीन है । सबसे प्राचीन तथा सबसे पहली व्याख्या होने के कारण इसकी भाषा उतनी साहित्यिक और प्राक्त नहीं है । बिना किसी सजावट के भाष्य में योगसूत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न भाष्यकार ने किया है । उद्धारणों का प्रयोग अधिकतर स्थानों पर मिलता है । परन्तु बढ़ने से यह बात होता है कि बिना उद्धारणों के भी विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है । उनके रहने न रहने से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है । भाषा ऐसी कहीं-कहीं सरल है और किसी-किसी स्थान पर दुस्तु हो गयी है । प्रथमपाद के उद्धरणों में भाष्य के चारण्य की बात बर्तियों तो आसानी से समझ में आ जाती हैं परन्तु बाद की सभी बर्तियों बहुत दुस्तु हो गयी हैं जो बिना किसी की सहायता के सुगम नहीं होती । जब हकार उक्त व्याख्याओं में से भाषा ऐसी की दृष्टि से तत्त्ववेत्तारवी का स्थान सबसे ऊँचा है क्योंकि इसकी भाषा सहज साहित्यिक है, अर्थ की सौती व्यवस्थित रूप से आती है ।

## विचारण

'योगसूत्र' वाच्य विवरणम् 'योगसूत्र' तथा 'योगशास्त्र' च विस्तृत व्याख्यानम् है । 'योग' से संबंधित जितने भी विषय हैं तब का वर्णन विवरणकार ने विषयानुसृत श्रमिका उपघाटित करते हुए तथा अन्य शास्त्रों से योगशास्त्र की तुलना करते हुए किया है । उदाहरणार्थ, 'योग का लक्ष्य' प्रतिपादित करने के पहले 'योगशास्त्र' की तुलना चिकित्साशास्त्र से की गई है । तथापि मुख्य विषय पर विचार निर्मा किया गया है ।

विवरणकार ने व्याख्या को तर्कसंगत बनाने के लिए कहीं-कहीं सूत्रों में पाठशेष की श्लोकार किया है । यथा — विस्तृत पाठ के 7 में श्लोक 8 में सूत्र में 'सुखानुभवासाधः' के स्थान पर 'सुखानुभवासाधः' पाठ उल्लिखित है । व्याख्याकार ने इस पाठ की व्याख्या करके 'अनुभवा' शब्द की सहायता से व्याख्या को प्रवेष्टाकृत अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है । इसी तरह 'सुखानुभावासाधः' के स्थान पर 'सुखानुभवासाधः', पाठ श्लोकित किया है ।

ये भाष्य और वैशेषिक शास्त्रों में इच्छित पत्रावली का प्रयोग करने में नहीं सिलकते हैं । व्याख्याकार को व्याख्या के समय इसकी तमिष की चिन्ता नहीं है कि व्याख्या बहुत विस्तृत हो रही है । इन्होंने निश्चित भाव से जितना भी उल्लेख सम्भव हो सका है किया है ।

‘ विवरण ’ में स्थान-स्थान पर उद्धरण भी पर्याप्त मात्रा में दत्त होते हैं । विवरणकार ने माध्य में उल्लिखित उद्धरणों को यों कथं यों उद्धृत किया है । प्रथम पाद में ३ श्लो० सूत्र और माध्य की व्याख्या के मध्य कूटकोपनिषत् तथा कठोपनिषत् के ये वक्तव्यों उद्धृत की गयी हैं - “येः सर्वज्ञः सर्वविद्” “ एको वशी ” । द्वितीय-पाद में योगदर्श के अनुष्ठान का वर्णन करते हुए मनु की उक्ति को उद्धृत किया है :-

“ प्राणायामिकी र्दोषान्पारणासिश्च कि त्विभान् १  
 प्रत्याहारेण सप्तगन्ध्यानेनानिवारणम् गुणान् २  
 ३ ”

योग के अष्टों साधनों का वर्णन करते समय कठोपनिषत् की एक वक्ति का उल्लेख किया गया है :- “ नातिरतेः सुखीरतत्प्राप्तः ” । कठोपनिषत् में से “ वेधां तपो ब्रह्मचर्यं यंभु सत्प्रतिष्ठितम् ” और गीता में से “ ब्रह्मचरिणो ज्ञेयः ” इत्यादि । द्वितीय-पाद के 17 वें सूत्र-माध्य की व्याख्या में स्पेन्टपाद के सिद्धान्त को समझाने के प्रयास में कुमुदिरितबद्ध के श्लोकान्तरिक 6 श्लोकों जर्पात् 12 वक्तव्यों को उद्धृत किया गया है ।

- .....
- |     |            |                        |           |
|-----|------------|------------------------|-----------|
| 1 - | दृष्टव्य - | योगसूत्रभाष्यविवरणम् - | पृ० 62 प  |
| 2 - | दृष्टव्य - | वही                    | पृ० 208 प |
| 3 - | दृष्टव्य - | वही                    | पृ० 268 प |

विवरण में साधनाती पर अधिक बल दिया गया है । प्रथमबाध के प्रथम युग माध की व्याख्या से योग के साधनों पर विशेष ब्याख्यान किया गया है । इन्होंने 72 ब्रह्म में केवल योगियों का ही विवेचन किया है । विवरण की भाषा-शैली अथेलासुत सरल है । श्रतिवाच्य विषयों को गम्भीरता और बाधिकावर्ण शैली के प्रयोग में तत्त्ववेदाहारवीकार और योगवर्त्मिककार से इनकी तुलना नहीं की जा सकती । इन्होंने सरल तथा छोटे-छोटे वचनों का प्रयोग किया है । इनकी शैली तर्कबद्ध एवं सात्त्विकानुसृत है । जहाँ कहीं किसी तर्क को प्रस्तुत करना होता है वे उससे संबंधित जितनी ही सम्भावनाएँ होती हैं उन्हें 'सपत्तिक' बयानों वचनों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं और प्रबलतर युक्तियों से उन्हें निरस्त करते चलते हैं । जैसे - " सपत्तिक स्यात् - अज्ञानस्याधिक विवरणमानस्य समाप्तिरस्य काष्ठाद्राप्यस्य तस्मिन्नीतमरे सिद्धिरिति - ज्ञान-विरोधान् । न हि ज्ञानज्ञानयोर्विरोध-पौरिक-स्मिन्निमित्तयोगोऽस्ति । न हि ज्ञाने अकार्षणीयं समाप्तं सम्भवति । । "

सांसारिक बनावली के प्रयोग के विषय में इस व्याख्या की शैली तत्त्ववेदाहारवी और योगवर्त्मिक से विन्म है । पूरे " विवरण" में कवाचित् ही कहीं से अधिक वचनों का समस्य देखने का मिलता है ।

1 - द्रष्टव्य - योग्युधमाध विवरणम् ४० २०४ से २३५ तक ।

२ - द्रष्टव्य - वही ४० २४ ।

योगवार्तिक -

भाष्य के मध्यम से योगसूत्रों पर यह दूसरी व्याख्या है । योगवार्तिक की भाषा अनेकाकृत सिद्ध है, जिसके कारण धार-धार अध्ययन करने पर भी विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण कठिनार्थ से हो जाता है । विशेषतः अक्षयिक विस्तृत है । उद्धारनों और युक्तियों का अधिक प्रयोग है । भाष्य में पुराण और स्मृति में से उद्धारण बहुत विरल हैं, अतः भाष्य विज्ञानविद् के लिए यह कहना उचित ही है कि ये पुराणों से बहुत प्रभावित हैं । कैवल्यवाद के 21वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में स्वयं ही लिखते हैं — “ भासिकैस्तु स्मृतिसंज्ञितव्याख्येनैतत्तत्त्वं अक्षेयमीतं भाषः ।। ” इन पंक्तियों से भी यह स्पष्ट होता है कि भाष्य की स्मृति, स्मृति और पुराण में बहुत बढ़ायी । स्मृति और स्मृति का उद्धारण मुख्य है —

“ यन्मनसा न मन्यते येनहनुर्मनो मतम् ।  
तमेव ब्रह्मत्वं ब्रह्मिण्य मेव यविवमुपासते ॥ ”  
स्मृति -

“ त्रय्यवताद्ये चित्तभासे विकारेऽर्चिर्गोचरति ।  
चेतनाद्येतन्मन्थत्वात्तन्मन एतन्मुच्यते ॥ ”  
स्मृति -

ये श्लोक कैवल्यवाद में 23वें सूत्र की व्याख्या में उद्धारण के रूप में विरल गए हैं । इसी प्रकार कैवल्यवाद के 22वें सूत्र के भाष्य की समाप्ति हुए पुराण का एक श्लोक उद्धारण रूप में ब्रह्मणुत किया गया है ।

“ नित्यः सर्वगतो ह्यात्मो बुद्धिस्थमिधिसत्तयाः ।  
यथा यथा भवेद् बुद्धिस्थतात्मा तद्व्यवहेष्यते ।। ”

शास्त्रार्थ में विवेचन को दृष्टि से साधनरूप पर अधिक धन दिया है । सिद्धान्तशास्त्र पर भी योगवार्तिककार ने पूर्ण विवेचन एवं चिन्तन द्रष्टुं किया है । योगशास्त्र के साधनों का विस्तृत विवेचन किया गया है । निश्चय ही योगशास्त्र की शक्ति है कि भाष्य नीरस लगने लगता है । पदों में स्थित अर्थों का विश्लेषण करने अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न यत्न-यत्न मिलता है । भाषा कुछ स्थिर है । शब्दों को व्यवहारी का भी उपयोग कहीं-कहीं मिलता है - यथा - पदार्थ, परिचय इत्यादि । भाष्य-रचना तब ही तब कहीं-कहीं दृश्य है ।

इतना सब होने पर भी विश्व इतिहास, सिद्धान्त-विवेचन एवं साधननिर्देश अर्थ को दृष्टि से योगवार्तिक ग्रन्थ सभी व्याख्यातों की अपेक्षा अधिक समर्थापूर्ण एवं जिज्ञासुतायक व्याख्या है । योगशास्त्र के वैचारिक एवं क्रियात्मक सभी पदार्थों को दृष्टि से 'योगवार्तिक' सर्वाधिक समर्थ एवं अधिकार्य योग सूत्र व्याख्या है ।

। - " ततः सर्वविधायाः निःशेषतः ज्ञेये सति, शास्त्रोक्तैस्तत्त्वतोक्तैश्चक्षुःमानो सुखप्रत्ययावेकस्मिन्पदार्थयोश्चित्तशेषाप्रतल्लक्ष्णैः बुधः परिणामोन्मत्त-सजातीय स्वयमेव पदार्थो नश्यति अन्धोऽप्युत्पद्यत इत्येव परिणामो भवति इत्यर्थः । "

## योगवीथिका

'योगवीथिका' 'योगज्ञान' पर अत्यन्त सक्षिप्त, साक्षात्-व्याख्या है परन्तु इसमें स्पष्टीकरण की पूर्ण क्षमता है। इसमें योग संबंधी विषयों का विवेचन अत्यन्त सक्षिप्त स्वरूप में किया गया है। तुलना करने पर योगवीथिका भोजसुक्ति से बहुत साफ़ रखनी है। भोजसुक्ति की ही भाँति यह व्याख्या भी अनावश्यक विस्तार से अछूती है। इसकी भाषा सुगम है। इसमें विषय का विवेचन आवश्यकतानुसार है, व्यर्थ का विस्तार नहीं है। वाक्य-रचना सदर्थानुसृत एवं समुचित है।

उद्धरणों की दृष्टि से देखा जाय तो इस व्याख्या में बहुत ही कम उद्धरण मिलते हैं। केवल कुछ ही ऐसे स्थान हैं जहाँ पर उद्धरण देने जा सकते हैं। सतुर्थ-अध्याय के उच्चैः सूत्र में, 'विष्णुपुराण' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। पूरी व्याख्या का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याख्याकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए सक्षिप्ततम व्याख्या-शैली को अवलंबा है। साथ ही व्याख्या के बीच-बीच में उद्धरणों को देना बहुत आवश्यक नहीं समझा है।

जहाँ तक विषय प्रतिपादन का संबंध है भावागमेश ने अपने गुरु विशानभिक्षु के ही मतों को इस व्याख्या में प्रस्तुत किया है। विशानभिक्षु के धार्मिक के मत से बिना कोई बात कही नहीं कही गई है। सब पूजा जाये तो यह व्याख्या 'योगधार्मिक' की ही एक सक्षिप्त प्रतिकृति है। भावागमेश ने इस तथ्य को स्वयं ही स्वीकृत ही किया है :-

“ भाष्ये परीक्षितो योगोऽर्थो धार्मिके गुरुनिः। स्वयम् । ”

योगवीथिका संग्रहालय ।

### पार्तक्ययोग सूत्रश्रुति

नागोजीभट्ट द्वारा विरचित 'पार्तक्ययोगसूत्रश्रुति' की योगसूत्रों पर साक्षात्-व्याख्या है। यह व्याख्या, 'योग-दीपिका' और 'राजगार्तक्यश्रुति' की तुलना में कुछ अधिक विस्तृत है। उक्त व्याख्याओं की तुलना में इस व्याख्या की भाषा कुछ शिष्ट है। इसमें विषय का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इस व्याख्या की भाषा, विचार तथा विवेचन की शैली 'योगवार्तिक' से मिलती जुलती है।

इस व्याख्या में उद्धरणों का प्रयोग बहुत कम किया गया है। चारों-बादों की व्याख्या में कुल मिलाकर 5, 6 उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं। उद्धरण श्रुति, कर्मपुराण और श्रुतियों में से लिए गए हैं। यथा — 'निद्राश्रुति' का निस्कर्तृ करने हुए श्रुति में से उद्धरण किया गया है — 'जागत्स्वप्न! सुषुप्तं च गुणतो बुधिसवृत्तयः ।' 'संश्रुतत्' समीध की चित्तकतिव श्रुतियों की उपयोगता को धारितरूप करने हुए भी स्मृत की एक शक्ति को उद्धृत किया गया है, यथा — 'इष्टे विनिर्जितचित्त' ततः सूक्ष्मं शानेनयेत् ।<sup>2</sup> अभिमतानुगतसंज्ञात समीध के वर्णन के प्रसंग में कर्मपुराण की कुछ श्रुतियों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है, यथा — 'यत्र वर्धति चात्यस्य स्य नित्यानम्भं निरर्जनम् । मात्रेण स महायोगो वर्धितः चारमेवम् । यत्र सत्तात्कवरयन्ति विमुक्त विवस्वमोषवर्म्' इति ।<sup>3</sup> उद्धरणों का प्रयोग इस व्याख्या में यदर्थीय कम किया गया है वरन् नू जितने उद्धरण दिए गए हैं उनकी सहायता से विषय के स्पष्टीकरण में बहुत सहायता मिलती है, अतः विधर्पाविवेचन को दृष्टि से इस व्याख्या में उद्धृत उद्धरण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

1 - इष्टय - पार्तक्ययोगसूत्रश्रुति पृ० १ ।

2 - इष्टय - वही पृ० 14 ।

3 - इष्टय - वही पृ० 15 ।



बाधा में कहीं-कहीं यज्ञशब्द को मिलती है । यथा - ब्रह्मिनिनीम  
 और विदेहों की चित्त का निरक्षण व्याख्याकार ने 'मन्वक' को चित्त से सादृश्य दिखाने  
 हुए किया है । यहाँ पर उपमा अन्तर्कार का उपयोग वृष्टि गोचर होता है यथा -  
 " प्राप्तावधयस्तु गुनः संसारे विरान्ति । यथा वर्धतिपति सुवर्त्सा मन्वकाः  
 पुनर्वर्धसिक्तेम मध्कवेदमनुभवन्ति तद्वत् । " 'विकल्पवृत्ति' के विवेचन में भी उपमा  
 अन्तर्कार का उदाहरण दिया गया है । यथा - " रात्रौ चित्तो, मन्व्यास्तु,  
 वाप्यस्तिष्ठतीति ।"<sup>2</sup>

इस व्याख्या की बाधा बरिष्कृत, संस्कृत है । साथ ही बाधा व्याकरण  
 बरक है । समासों का प्रयोग व्याख्या को इतनेक शक्ति में किया गया है । सूत्रार्थों  
 को छोटाने के लिए बर्षों में निहित समासों का विग्रह भी किया गया है जिससे बर्षों के  
 शब्दीकरण में बहुत सहजता मिलती है । उदाहरणार्थ - " विदेहब्रह्मिनिनिवामाम् '  
 बर्ष में निहित द्धम्ब्ससमस का विग्रह किया गया है यथा - " विदेहब्रह्मिनि-  
 तपारिषीत द्धम्ब्स ।"<sup>3</sup> व्याख्या में बाधा छिटे-छिटे हैं और कहीं-कहीं त मे-नमे  
 वायो भी योजना की गई है बरन्तु शैली को सरशीर्षतास्थित के कारण समे वायो-  
 रचना का अभाव बर कहीं दुष्प्रभाव नहीं बड़ा है । यथा -  
 " अतिशयि विपरिता हिंसाबयो या चित्तार्थ इति बरिष्कृततास्ते स्वयं कृतायेन  
 कारिता साधुसाधुमनुगीदता इति प्रिययासे पुनर्त्तौ कच्छमोहदुर्लक्ष्मेन प्रियियाः लोकावयः  
 पुनर्त्तौ प्रियया सुवयो मया अतिप्रमत्ता इति सर्वं जने दुःखं विवर्त्तयजानस्त्वमतान्" च  
 तस्यार मूलकारण का यथा है इति प्रतिबलभावनाया तथा बरिष्कारः कार्य इत्यर्थः ।"<sup>4</sup>

---

|     |             |                         |          |
|-----|-------------|-------------------------|----------|
| 1 - | ब्रह्मव्य - | पात ज्ञानयोगसूत्रवृत्ति | पृ० 16 प |
| 2 - | ब्रह्मव्य - | बही                     | पृ० 9 प  |
| 3 - | ब्रह्मव्य - | बही                     | पृ० 16 प |
| 4 - | ब्रह्मव्य - | बही                     | पृ० 53 प |

इस व्याख्या में तिष्ठान्तर्गत और साध्यवर्त पर बराबर बल दिया गया है । 'योग' संबन्धी जितने भी वि चर्चों का उल्लेख 'योग सूत्रों' में किया गया है उन सभी विचर्चों की उचित व्याख्या इस व्याख्या में की गई है । व्याख्याकार ने 'विघ्ननाश' तथा 'दुष्टदुष्टिनाश' का उल्लेख किया है । यह उल्लेख केवलसाधक के । श्रेय और । 6 में युक्त में किया गया है । 'केवल्य' के स्वस्व का निःस्वस्व करने हुए इन्द्रोक्त केवल्य संबन्धी वैशेषिक, और नैयायिक मतों की तुलना 'योग' में प्रतिपादि केवल्य के स्वस्व में की है । 'योग' के अनुसार 'केवल्य' का तात्पर्य है 'एककीकृत' जब गुणों से दुरन्त विद्युक्त हो जाता है तब सब के लिए वह इतिवृत्तस्वस्व उपाय से विद्युक्त होकर स्वस्वस्थित हो जाता है । दुरन्त का स्वस्व में अवस्थित हो जाता ही उसका केवल्य है । वैशेषिकों के अनुसार ज्ञानों का गुणों से पूर्ण स्व से विमुक्त हो जाता 'मोक्ष' है और नैयायिकों के अनुसार दुरन्तकी शान्तिविद्युक्त ही मोक्ष है । इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के साथ 'केवल्य' का निःस्वस्व किया गया है ।

दूसरी व्याख्या के संबन्ध में यह कहना उचित ही है कि व्याख्या में अनावश्यक विस्तार नहीं है । यह व्याख्या तुलनात्मक विवेचन बस्तुतः करती हुई चलती है । इसीलिए किंचित् विस्तृत हो गई है वरन्तु अनावश्यक की श्लेषगद्यता और सरसता के कारण यह व्याख्या भी विद्वानों के बीच उतनी ही लोकप्रिय है जितनी योगशास्त्रिक, राजमार्तण्डवृत्त और योगशास्त्रादि हैं । शैली में ब्रह्ममयता है ।

1 - ब्रह्म - भारत-योग सूत्रवृत्त ५० १३, १४ १

2 - " केवल्यमेककीकृत, - - - - - दुरन्तव्य तु स्वस्वप्रतिपत्त, सदा इतिवृत्तस्वस्वोपाधिना विद्युक्ता चित्तवृत्तितस्या तस्मैकत्वव्यवस्था ।" - - - - - देव्यात्मनि शोभाविशेष-गुणोत्थेयो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकः । तदपि नास्माकं विश्वद्वय - - - - - शान्तिनिशी दुःखनिवृत्तिमोक्ष इति नैयायिकाः ।" - - - - - वही ५० १३, १४ १

## मीमांसा

' मीमांसा ' की भाषा-शैली सरल है । इसमें उद्धारणों का प्रयोग बर्धन रूप में विद्यमान है । उद्धारण अधिकतर स्मृति, महाभारत, और विश्वपुराण में से लिए गए हैं । ब्रधमवाद के 2<sup>अं</sup> सूत्र में चाण्डुपुराण से उद्धारण लेकर ईश्वर में सर्वज्ञता के ध्येय का निरतिशय हीन सिद्ध किया गया है । यथा — " सर्वज्ञता ह्यभिरनादिधेयः स्वल्पतः नित्यमनुभूयते ।

अनल्पप्रतिभस्य विषोषविज्ञाः भडाहुरद्गतिनि महेश्वरस्य ॥ "

" ज्ञानवेरदशमैश्वर्यं तपः सत्यं समाप्तिः ।

अभूत्सवात्मनोऽथो ह्यविष्णुत्वात्समेत च ॥

अभ्यसति दशैतानि नित्यं त्रिभुक्तिस्त्रिकरे ॥ "

" अनादिनिदानं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सोऽप्यर्थं अनुष्मिन्त्यं सर्वभूः शान्तिसोऽविद्यया ॥ "

इन्हें ईश्वर को बुरस विरोध सिद्ध करने के लिए अन्त में यह भी कहा है कि " ईश्वर " बहुज्ञाति वेदतर्कों से भी विशिष्ट है । यैपी यात न तो व्यास ने, न तत्त्ववेदान्तकार ने और न ही योगवर्तिर्ज्ञानार और बुक्तिस्कारणौज ने ही कही है । ब्रधम-वाद के 2<sup>अं</sup> सूत्र को व्याख्या में किसी स्मृति का श्लोक उद्धृत हुआ है । यथा — " साध्यायाव्योगमसिंति योगस्य साध्यात्मनेत् । १  
साध्याय-योगसम्बन्धा परमात्मा प्रकल्पते ॥ "

द्वितीयपाद के 4<sup>अं</sup> सूत्र को व्याख्या में महाभारत से उद्धारण लिया गया है । तृतीय-प्रध्याय के प्रथम सूत्र को स्पष्ट करने के लिए ' विश्वपुराण ' में से 14 श्लोकों को उद्धृत किया गया है । इसी प्रकार अन्य अनेक श्लोकों पर

1 - प्रथम - मीमांसा ५० 14 F

2 - प्रथम - यज्ञी ५० 15 F

3 - प्रथम - यज्ञी ५० 50 F

विभिन्न उद्धारण प्राप्त होती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि व्याख्याकार को रामानन्दपर्यन्त पुराणों, महाभारत और गीता से बहुत प्रभावित है ।

दिए गए उद्धारणों में से कुछ उद्धारण ले कर जो स्पष्ट करने में सक्षम बनते हैं, जैसे प्रथम-पाद के 25वें सूत्र की व्याख्या में दिए गए उद्धारण से ईश्वर में सर्वज्ञत्व के निरात्मकत्व का विचार वर्णन प्राप्त होता है । किन्तु कुछ उद्धारण इतने विस्तृत हो गए हैं कि उनसे विषय का विवेचन स्पष्ट होने के स्थान पर बड़ा भ्रष्ट हो जा रहा है । यथा -

“ बाभायामेव पदमं इत्याह तैत्तिरीय-श्रुतिप्रथमम् ।  
 यशीपुत्रेण ततः सुप्रीतिस्तद्वचनं शुकामये ॥  
 मूर्तेः शक्यतो ह्यस्य सर्वोपायस्य-निश्चयम् ।  
 यथा देवैः शक्यते यत्किञ्च तत्र चायति ॥  
 तच्च मूर्तेः हरे ह्यस्य वापुक्त्वित्यर्थं नराधिप ।  
 तच्छक्यतांमनापारे चारभा मोक्षचतवृते ॥  
 ब्रह्मन्मन्वचनं धारणव्युत्पत्तिमिदमेतन्म ।  
 सुकपोलं सुविस्तीर्णतलात्फलकोऽयमस्य ॥

श्रीविश्वम्भरार ज्ञान-स्थान पर शक्यकार तथा तत्त्ववेत्तारहीकार से

प्रभावित विद्यार्थ बढ़ते हैं। योग के साधनों का पूरा निरूपण हमें उक्त दोनों व्याख्याकारों के ही समझ दिया है। डॉ० 'सर्वर' के स्वस्त्य का वर्णन अवश्य उन लोगों से विन्म किया है। श्रीब्रह्मकार योगशास्त्र की 'शेखरमणि' मानते हैं और सर्वर को ब्रह्मिण का प्रसन्न स्वीकार करते हैं।

श्रीब्रह्मकार में योग के विद्वत्पक्ष और साधनशास्त्र पर समान स्वरु से जोर दिया गया है। यह व्याख्या नितान्त सरल किन्तु अत्यन्त उपयोगी श्रेणियों की कड़ी जा सकती है। इसकी शैली व्याकरणसम्मत होने पर भी सुस्त और प्रभावपूर्ण है। भाषा परिष्कृत की और अधिक शुद्ध हुई है।

## योगसूत्रार्थबोधिनी

नारायण-तौर्य द्वारा विरचित 'योगसूत्रार्थबोधिनी' योगसूत्रों पर व्याख्यान-व्याख्या है। यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है और न प्रत्यक्ष तर्कित। नारायण-तौर्य व्याख्यान से बहुत प्रभावित हैं। स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पर व्याख्यान के लिए यह उद्धारकों को ही उद्धार कर दिया है। यथा-प्रकृत्या के अर्थ सूत्र में स्पष्टिकरण उद्धारकों काय से ही लिया गया है। इसी तरह अन्य स्थानों पर भी काय के अनेक उद्धारका उल्लेख होते हैं। अन्य विद्वानों को भी मनुष्य व्याख्याकार ने भी व्याख्या के बीच-बीच उद्धारकों का बहुत प्रयोग किया है। उद्धारण यादु गुरु, गोता अर्थ में से निर गत है। यथा-याद के 19वें सूत्र की व्याख्या में नायदुर त्प से उद्धारण किया गया है। व्यक्त्या विना उद्धारण के भी पूर्व ही परम्पु व्याख्याकार ने उद्धारण देना आवश्यक समझ कर विस्तार किया है। इन-अन्त-में-उद्धारण से अर्थ की बुद्धि में न तो कोई विशेष महत्त्वता मिलती है न कोई नया होती है।

एवं भी व्याख्यान, तत्त्ववेत्तार-विकार तथा योग-सामर्थिकार को तुलना में नारायण-तौर्य ने उद्धारकों का बहुत ही कम प्रयोग किया है। भाषा सरल है पर साहित्यिक नहीं है। व्याख्या स्पष्ट है। स्पष्टकर है। यथा-जेटे-जेटे तथा सरलता से समझने योग्य है। नारायण-तौर्य की दोनों व्याख्याओं पर 'मिथिलना' का पर्याप्त प्रभाव है। कितो-कितो सूत्र की व्याख्या तो मिथिलना से इतनी समानता रखती है कि बटकर यही लगता है कि 'योगसूत्रार्थबोधिनी' और 'योगसिद्धान्तसम्भिका' स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पर मिथिलना की सहायक इतिवृत्त हैं।

## योगसिद्धान्तसम्बन्धिका

यह व्याख्या सूत्रार्थवेत्तिनो को सुनना में विद्युत् तन्त्र किञ्चित् कठिन है । व्याख्या केवल चतुर्थपाद के तीसरे सूत्र तक की है । इसमें उद्धारणों का बाहुल्य और आकर शब्दों के इसलों की भरमार है । उद्धारण भी प्रायः बहुमपुस्तक, तिग पुराण, अन्व पुराण शब्द से अभिहित हुए हैं । किन्तु इस कलेबरवृष्टि के बावजूद 'योग सिद्धान्त सम्बन्धिका' में 'सूत्रार्थवेत्तिनी' व्याख्या से अधिक कोई शास्त्रीय बात नहीं जानी जा सकती । डॉ. भाष्यनी हर अधिक और इस व्याख्या में दिया गया है । इस कारण योग की सधना करने वाले लोगों के लिए इस व्याख्या का विशेष महत्त्व है । ब्रह्माचार्य और भवान् शब्द योगीनों पर अन्य व्याख्याओं में तुल्य सही मी का संज्ञा इस सिद्धान्त सम्बन्धिका में देखने का मिलता है । बहुत शेष है नारायण-तीर्थ ने योगशास्त्र के सिद्धान्तों का व्याख्यान करने के लिए अपने सूत्रार्थ वेत्तिनी व्याख्या लिखी हां और सब में साधना के लिए उपयोगी तथ्यों का वाक्येय वर्णन करने के लिए 'योगसिद्धान्तसम्बन्धिका' व्याख्या लिखी हां ।

इन दोनों व्याख्याओं की रैती में कोई बह नहीं है । विचार समान हीन आध्यात्मिक है । अतः यह प्रश्न स्वतः उठता है कि एक ही तरह की ये व्याख्या लिखने का का प्रयोजन रहा होगा । 'सूत्रार्थवेत्तिनी' में योगसूत्र के चारों पादों में जितने सूत्र हैं सबपर व्याख्या उपलब्ध होती है । किन्तु 'योगसिद्धान्तसम्बन्धिका' में केवल 4/3 सूत्र तक ही व्याख्या प्राप्त होती है और शेष में यह वाक्य लिखा मिलता है " एतन्मेष ग्रन्थः उपलब्धः " । अतः हो सकता है व्याख्याकार ने इस पाद के सभी सूत्रों को भी व्याख्या लिखी हो परन्तु किसी तरह शेष सूत्रों को व्याख्या नष्ट हो गई हो या फिर इनकी व्याख्या के अनन्तर नारायण-तीर्थ दिवंगत हो गए हों जिससे कि शेष लिख ही न सके हो ।

भास्वती .

“ भास्वती ” ‘ योगसूत्रों ’ और ‘ योगभाष्य ’ पर आधुनिकप्रवृत्तियों की उपयोगिता को नुष्ट से बढ़ी महत्त्वपूर्ण व्याख्या है । तत्त्ववेत्तारथी और योगवर्तित्त के पर्याप्त भाष्य और तद्द्वारा सूत्रों पर लिखी गयी एक तीसरी व्याख्या है । सरलोक्ति इसकी सबसे बड़ी विशेषता है । विद्वत्तत्त्वप्रधान या शास्त्रोपनिष्ठाओं का इलाहा बेना - ये दोनों भागों इस व्याख्या में नहीं मिलती । इसमें साधनता पर अधिक और दिया गया है । “ योग का सबसे प्रतिपादन करने के उपरान्त योग प्राप्ति के उपायों का विस्तृत एवं विविध विवेचन किया गया है । योग के ताठों साधनों का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है । इन साधनों का अनुष्ठान करने वाले योगियों को विशिष्ट अनुभूतियों से लाभ उठाया गया है । उदाहरणार्थ समाहित - चित्त वाले साधकों का योग की प्राप्ति अथास और वैराग्य नामक योग के साधनों के अनुष्ठान से ही हो जाती है ।

परन्तु व्युत्पत्तिचित्तवली साधकों के लिए दिया योग का अधिपन अत्यावश्यक है । क्रियायोग के द्वारा कोहीं को शोध करने के उपरान्त व्युत्पत्ति-चित्त वाले साधक भी अथास, वैराग्य से ही योग को प्राप्त करते हैं । अतः में वे साधक जो उस दोनों साधकों को सुलना में अवरकोटक हैं उनके लिए यमुनि यमु, आसन, ध्यानायाम और प्रत्याहार को अनुष्ठान करने के उपरान्त धारणा, ध्यान और समाधि का अनुष्ठान बतलाया गया है किन्तु द्वारा अन्य अधिकतरियों को ही योग को प्राप्ति हो जाता है । इस प्रकार पूरे योगवर्तन में ‘ योग ’ के साधनों का ही विशेष उल्लेख प्राप्त होता है ।

वास्तव में योग का व्यवहारिकज्ञान ही तो उपयोगिता को नुष्ट से सर्वोत्तम है । अतः इसे सभी देशियों के साधकों के लिए सुलन बनाने के हेतु विशिष्ट साधनों का शोध निरन्तर आवश्यक है । स्वामी हरिहरानन्द जी स्वयं योग के साधक थे अतः योग के बारे में उन्होंने को खोलने वाली व्याख्या लिख कर उन्हें ही विद्वानों और साधकों को योग लक्ष्यो जिज्ञासार्थी को मार्ग दिखा और योग की प्राप्ति के मार्ग को प्रकाश किया है ।



'वाच्यता' को भाषा में अन्तर्भाव को उल्टा तत्परता है । इसमें सूत्र और वाच्य को वाक्यों के सारे रसकों को खोल कर रखा दिया गया है । जिससे सूत्रों का समझने में बड़ी सहायता मिलती है । इनकी शैली स्पष्ट बोधपरक एवं आधुनिक विधानों को दृष्टि में सुष्ठुतम ढोंग के तथ्यों का स्पष्ट विवेचन वाच्यता में ही प्राप्त होता है ।

'वाच्यता' शैल्युक्ति को तरह केवल योगसूत्रों पर स्वतन्त्र कृति नहीं है यह सूत्रों को उद्घुत और व्याख्यात करते हुए वाच्य को भी विस्तृत और विवेचनमयक व्याख्या है । इसमें भी विषय विवेचन को दुष्ट करने के हेतु कृतियों, स्मृतियों और पुराणों से उद्धरण किए गए हैं । ये उद्धरण सदा में अधिकतम आवश्यक हैं परन्तु इनसे व्याख्या कहीं भी सम्बन्ध नहीं हुई है । अनेक उद्धरणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि स्वामी शरिहरामन्वतेभूमिगणों, स्मृतियों, पुराणों और उच्यन्तवर्णों का महान अध्ययन किया था ।

प्रथमपाद के ।। १० सूत्र और वाच्य को व्याख्या को सुष्ठु करने के लिए स्मृति से उद्धरण किया गया है ३

" तत्र धितान्तदुक्ता जिविषा वेदना कृता ।

सुत्रं दुर्येति यामा दुर दुःखा समुत्थेन च ।। "

प्रथम-पाद के श्लो १७ में सूत्र की व्याख्या में वे उद्धरण देते हैं -

" विचारो ध्यायिनां धीनाः सूक्ष्मार्थाद्यगमौ यत " इतरे प्रथम में किसी स्मृति से भी उद्धरण किया गया है :-

" इन्द्रियाणि मनस्वेव यथा पिण्डोकोत्थयम् ।

स्वप्नेव मनस्वेव संशयवर्गश्च भारत ।।

पूर्वं ध्यानवपे इत्याय नित्ययोगेन साक्षात् ।

न तत् पुरस्कृतरेण म च केचन केन चिद् ।।

सुखेभ्यति तत्तद्य पदैव सधित्तन्मनः ।

सुखेन तेन तदुभो रंशते ध्यानकर्मणः ।। "

के, 24वें सूत्र के साथ ही व्याख्या में श्वेत-तन्त्र उच्योक्त से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं :-

" अथि वसुतं कश्चित् पश्यतमो ह्यनेभिर्वर्ति " इति ।

प्रथम श्रवण के 2 श्रेणें सूत्र तथा साथ ही व्याख्या में अथर्व में से उद्धरण दिगा गया है :-

" हिरण्यवर्गः समवर्तं तस्मिन् निवसत्य जातः वसिरेक आसौ " इति ।

### स्वामिनारायणसाध

व्याख्याकार ने सूत्रों की व्याख्या अत्यन्त विस्तार के साथ किया है । सूत्रों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार विषय को भूल जाते हैं और अप्राम्य अनावश्यक बातों का उल्लेख अत्यन्त विस्तार के साथ करते हैं । गिाते सूत्रों में निहित सिद्धान्त स्वच्छ होंगे के स्थान पर अस्पष्ट हो रह जाते हैं । वाचक इच्छा व्याख्या बढ़ने से उच्च जाता है । भाषा न तो सरल है और न ही जनप्रियक विस्तार के कारण अवाङ्मय तथा स्पष्टीकरण की क्षमता से संपन्न है । उदाहरण के लिए योग सूत्र के प्रथम सूत्र का ही व्याख्यात्मक तीजिए, इस सूत्र को व्याख्या अन्य आचार्यों ने अनतीविरुद्ध और सरल रीति से की है, जब कि श्री कृष्ण-चक्रवर्ती ने इस सूत्र को व्याख्या करे 9 वृत्तों में की है । यहाँ पर प्रकृति, त्रिगुण त्रय

श्रीर अध्यात्म-वेरास्य - इन सभी का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया गया है ।  
 जिनकी अभी आवश्यकता नहीं है । इन सबसे संबंधित कुछ सौ श्लोक मिले हों,  
 अतः उस समय उनका विवेचन व्यापक-संगत तथा उचित होता है । इनकारण एवम—  
 स्थल पर यह व्याख्या अत्यन्त भरपूरकर श्रीर बभूव होंन हो गयी है ।

इतना होने पर भी यह व्याख्या योगशूत्रों को विस्तार से समझने के  
 लिए लायक है । विषय का विवेचन विस्तृत करने ही हो किन्तु उतना संतोषदायक  
 नहीं हुआ है ईश्वरार्थि व्यासभाष्य में, तत्त्ववेत्तारथी में या योगप्रतिष्ठा शक्ति में (पृष्ठ ६)।  
 व्याख्या में गम्भीर चिन्तन का प्रथम प्रभाव है, । व्यास भाष्य में विषयों का विवेचन  
 बहुत ही गम्भीरता से किया गया है, इसके अतिरिक्त तत्त्ववेत्तारथी-कार ने भी  
 विषय का विवेचन भाष्यकार से भी अधिक गम्भीरता के साथ किया है । भाष्य  
 को कोई विषय इनकी विस्तृत विचार बद्धति से पूरा हो ।

व्यवसाय के योगात्मक सिद्धांतों की व्याख्या तर्किक

एवं शारीर तर्किक व्याख्या

quibus  
quibus

इन अनेक व्याख्याओं में योगसूत्रों के सारे रहस्य खोले गए हैं ।

किसी व्याख्या में किन्हीं सूत्रों का उल्लेख स्पष्टीकरण एवं विवेचन हुआ है तो अन्य में अन्य सूत्रों का । योगसूत्रों के समस्त विषयों पर इन व्याख्याओं का अन्वीक्षण-वृत्ति से विश्लेषण एवं विवेचन है । कहीं-कहीं पर एक व्याख्याकार का दूसरे व्याख्या-कार से मतभेद है और कहीं-कहीं पर अनेक व्याख्याकारों का मतभेद । इन सारे तथ्यों का सम्पूर्ण रूप से आकलन एवं वर्गीकरण करने के लिए बड़े-बड़े सूत्र से संबंधित व्याख्याओं के अंतर्द्वारा एवं अंतर्द्वारा का निर्देश करने हुए विषय-विवेचन करना आवश्यक है । किन्तु इतने सूत्र के लिए व्याख्याओं का नामांतरण करने पर बड़ी सुनस्मित होगी क्योंकि अनेक विषय योगशास्त्र में ऐसे आए हैं जिनमें एक से अधिक सूत्र लिखे गए हैं । इसलिए इस योगशास्त्र में सूत्र के स्थान पर एक-एक विषय ही दिया गया है और उस-उस विषय के लिए जितने सूत्र योगशास्त्र में बहुधा हुए हैं, उन सब सूत्रों की व्याख्याओं का एकत्र आकलन किया गया है । समस्त ही तत्वात् विषय पर समस्त व्याख्याओं की संक्षेपसंगत एवं, अधिकतम संक्षेपता की ओर ही गंत करने हुए सूत्र-विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है । विषयों की प्रस्तुति का क्रम नहीं रखा गया है जो महर्षि वर्तमान ने अपने सूत्रों के लिए स्वीकृत किया है । इस प्रवृत्ति से जहाँ योगसूत्र के चारों धारों के समस्त अंतर्द्वारा विषयों का सम्बन्ध अनुसंधान ही जाता है वहीं इन समस्त व्याख्याओं की अंतर्द्वारा समीक्षा भी सम्पूर्णतः सम्भव हो जाती है ।

'योग' का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है । चित्तवृत्ति-निरोध को ही समीप की कहा गया है । अब हाकि उठती है कि क्या 'योग' 'समीप' का पर्यायवाची है ? वस्तुतः हाकि का समाधान व्यास ने अतीतिवित्त प्रकार से किया है । चित्त की वृत्ति, चिन्तित, सुख, एकाग्र और निरुद्ध ये चार श्रुतियाँ हैं । इन चारों श्रुतियों में चित्त-वृत्ति-निरोध यत्कीचित् माया में होता ही रहता है । बिना चर्यास किए ही हमें वाला यह वृत्तिनिरोध स्वतन्त्रताक होता है और नैसर्गिक रूप से खोड़ी पर चलता है फिर जीवन के कार्य कर्माणों के कारण लब्धित भी होता रहता है । इस वृत्तिनिरोध का गौरव प्राप्त करने में कोई योगदान नहीं होता मतः योग की दृष्टि से इतका कोई महत्व नहीं होता । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त की सभी श्रुतियों में हमें वाला वृत्तिनिरोध 'योग' नहीं है । केवल एकाग्र तथा निरुद्ध नामक श्रुतियों में हमें वाला चित्तवृत्ति निरोध 'योग' है । इसीलिए यह कहा गया है कि सभी समीपियाँ अर्थात् सभी वृत्तिनिरोध योग नहीं हैं, केवल कुछ विशिष्ट समीपियाँ ही 'योग' हैं । यह विशिष्ट समीपियाँ कौन हैं ? चित्त की एकाग्र और निरुद्ध श्रुतियों की समीप ही क्रमशः सम्भ्रान्त और असम्भ्रान्त कही जाती है और यही दोनों योग हैं । चित्त की एकाग्र श्रुति में धेय वस्तु का पूर्ण वैशिष्ट्यक ज्ञान हो जाता है, केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, मतः एकाग्र श्रुति में दुर्ब समीप को 'सम्भ्रान्तयोग' कहा जाता है । निरुद्ध श्रुति में चित्त की वास्तविक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है<sup>2</sup> । केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह असम्भ्रान्तयोग है । 'असम्भ्रान्तयोग' में किसी भी वस्तु का किसी प्रकार का ज्ञान वृद्धि को नहीं होता । इसीलिए इसको 'असम्भ्रान्तयोग' कहते हैं ।

- 
- 1 - " योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । " योगसू० १/२४  
 " तथावृत्तुः स्वल्पेऽवस्थानम् । " यही १/३१
  - 2 - " यस्त्वेकान्ते वेतसि सद्ब्रुतमर्थं ब्रह्मोत्पत्ति, विमोहित च वेतान् कर्म-  
 बन्धनाति हतव्यति निरोधमीभिर्गुणैः करोति स सम्भ्रान्तयोग इत्युच्यते । "
  - 3 - " सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्भ्रान्तः समीपः । " व्यासभाष्य सू० १ । ४  
 यहाँ सू० १ । ४

## तत्त्ववेदाहार दी.

शाब्दिकता की शैली वाचस्पतिमिश्र ने ही 'योगसमीधः' की मान्यता को स्वीकार किया है। वाचस्पतिमिश्र ने अपनी व्याख्या में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति को समझाते हुए कहा है कि 'योग' शब्द 'युज् + माधी' धातु से निष्पन्न है और यहाँ 'समीधः' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अब सवाल यह उठता है कि समाधि तो योग का अंग है और योग उसका अंग है फिर योग को समाधि कैसे कहा जा सकता है ? इस सवाल का समाधान यह है — धुंकि योग शब्द 'युज् समाधौ' धातु से उत्पन्न है, अतः 'योगसमीधः' कहा जाता है। सूत्र के अनुसार योग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ तो 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही है। 'समीधः' तो योग का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ है, प्रवृत्तिनिमित्तक नहीं। प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ उसे कहते हैं जिस अर्थ में जोर शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् उस शब्द का वाच्यार्थ। यहाँ अर्थ प्रवृत्तिनिरोध अर्थ का वाच्यतावच्छेदक ही कहा जाता है। अतः 'योग' शब्द का वाच्यार्थ चित्तवृत्तिनिरोध है, समाधि नहीं। जैसे 'गौ' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ है 'गच्छति इति गौः', 'गौ' धातु का अर्थ यह 'गौ' है। किन्तु यह प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ नहीं है। 'गौ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ है साक्षाद्विमान् पशु। प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ ही किसी वचन का वास्तविक अर्थ होता है। इसीलिए 'योग' का वास्तविक अर्थ हुआ 'चित्तवृत्तिनिरोध', न कि समाधि। इसलिये वाचस्पतिमिश्र शब्द प्रयुक्त इस 'समीधः' शब्द से केवल योगांगभूत-समीध का ही ग्रहण करते हैं और इसीलिए योग और समाधि को बर्बादची नहीं मानते। उनकी दृष्टि में समाधि अंग है और योग अंगी। इसीलिए दोनों की रिकल्पार्थकता स्वतः विरुद्ध है, अविरोधकार से बने ही 'योगसमीधः' कहा गया जैसे।

। - " व्युत्पत्तिनिमित्तकान्निवृत्तान् घेत्यन्त्युत्पत्तिनिरोधः अंगीगमोऽपि च विषया  
मात्रेण । प्रवृत्तिनिमित्तकं तु योगावच्छेदकं चित्तवृत्तिनिरोध इति चरमार्थः । "



इती तथ्य भी और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जब 'चित्तशुस्तिनिरोध'<sup>१</sup> ही योग है तब क्या चित्त की चिन्तार्थ भूमियों में ईद्वि वाला निरोध ही योग है ? इसका उत्तर यह है कि केवल लक्ष्म और निरुद्ध नामक भूमियों में ईद्वि वाला निरोध ही योग है । इन दोनों भूमियों में ही मधुमती, मधुप्रतीका, चिन्तोका और संस्काररोधा नाम की योग की अवस्थाएँ आ जाती हैं । 'लक्ष्मभूमि' में मधुमती 'मधुप्रतीका और चिन्तोका तथा 'निरुद्ध' भूमि में संस्काररोध अवस्था की स्थिति होती है । अतः योग का तत्त्व यह हुआ कि चित्त की जिस विशेषावस्था में प्रमाणावस्थितियों का पूर्ण निरोध होता है तब अवस्थाविरोध ही 'योग' है । यद्यपि चित्तशुस्तिनिरोध का निरोध ही परमावधिः योग है तथापि सभी प्रकार के चित्तशुस्तिनिरोध को योग नहीं माना जा सकता है । वस्तुतः जिस चित्तशुस्तिनिरोध में क्लेश-वर्मादी की निवृत्ति हो सके उस चित्तशुस्तिनिरोध को ही 'योग' कहा जा सकता है । इसीलिए निम्नलिखितार्थ यह हुआ कि केवल और कर्मस्थियों का परिपक्वी चित्तशुस्तिनिरोध ही योग है ।<sup>२</sup> योग के दो वैदों सम्मतात और असम्मतात को क्षाप्रस्थानिग्रह ने ही स्वीकार किया है ।

1 - " निरुद्धमे यस्मिन्प्रमाणादवृत्तयोऽवस्थाविरोधि चित्तस्य सोऽवस्थाविरोधो योगः । "

-- ता० वे० पृ० १०१

2 - " कोशकर्मिधि पाकज्ञायपरिपक्वी चित्तशुस्तिनिरोधस्तु तर्हिप तद्गुह्यज्ञानि । "

-- वही पृ० १०१

राजमार्तण्डवृत्त

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, स्फाम और निरन्ध्र के चित्त की भूमियों या अवस्थाएँ हैं। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त नामक अवस्थाओं में चित्त सांसारिक विषयों में ही मटकता रहता है, अतः चित्त की ये भूमियाँ योग के लिए उपयोगी नहीं मानी गयी हैं। चित्त की स्फाम और निरन्ध्र भूमि में वृत्तियों का जो निरोध होता है उसे 'योग' कहते हैं।

चित्त की स्फाम भूमि में चित्त की बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है। बाह्यवृत्तियों से तात्पर्य सभी प्रकार के सांसारिक विषयों से उत्पन्न राग, द्वेषपुष्यतवृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ राजस और तामस गुणयुक्त होती हैं अतः यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है।

निरन्ध्रावस्था में चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी नाश हो जाता है और चित्त प्रतिबोधपरिणाम द्वारा अर्थात् विलय की प्रक्रिया द्वारा अवकाश में लीन हो जाता है। निरन्ध्रावस्था में चित्त को समस्त वृत्तियों<sup>1</sup> अथवा समस्त वृत्तियों के लक्षणों का लय शून्यत्व में हो जाता है। इस प्रकार इन दो बाध की भूमियों में हुआ चित्तवृत्ति निरोध ही 'योग' है<sup>2</sup>।

1 - 'स्फामो' वीहवृत्तिनिरोधः । निरन्ध्रे च सर्वानि वृत्तीन्वा संस्कारानि च प्रविलय इत्यनयोरेव भूयोर्योगश्च सम्भवः ।"

र०मा०पृ० ५० ४ १

2 - चित्तस्य निर्मातृत्वपरिणामस्यैव या वृत्तयोऽदृशादिनां भाव परिणामस्य स्वतायां निरोधो वीहभूयोस्तस्य परिणतिविधौवाग्न्तर्मुक्तयश्च त्रितोमपरिणामस्य लक्षणेषु तयो योग इत्याख्यायते । "

- यहाँ - पृ० ४ १

शैल ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में सर्व शब्द के प्रयोग को लेकर कोई विशेचन नहीं किया है जब कि व्यास, वासस्पतिमिश्र और विशानभिकु सच्चे प्रसून में वृत्ति के पूर्व 'सर्व शब्द' का प्रयोग न होने के कारण 'संज्ञात' का योग्य विवृष्ट करते हुए इस सर्वशब्द को व्याख्या को आगे बढ़ाया है। शैल ने संज्ञात-योग असंज्ञात-योग का नाम निर्देश नहीं किया है परन्तु लकाडं और निरञ्जना-वश्या में हुए चित्तवृत्तिनिरोध से स्वयमेव संज्ञात और असंज्ञातयोग को उक्त प्रायतः स्वीकार को है।

### विवरण

चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है<sup>2</sup>। चित्त की क्षिप्तविभेद से पूर्व लकार की भूमिर्वा मानी गयी है जिनमें से केवल लकार और 'निरञ्ज' भूमि में किया गया वृत्तिनिरोध ही 'योग' माना जाता है। लकाडं भूमि में चित्त की राजस और तामस रस अविद्युत, राग, क्रोधा और कर्मादि वृत्तियों का निरोध होता है जहाँ चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है। सात्त्विक वृत्ति का स्वस्व आनात्मक तथा प्रकृत्यात्मक है। अतः केवल इस वृत्ति के रहने के कारण ही इस समीप में छेप-निषेध का सधकज्ञान प्राप्त होता है और यही कारण है कि इस समीप का नाम 'संज्ञात-समीप' है। जब कि सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब असंज्ञात-समीप होती है। इस समय बुद्धि के माध्यम से चित्तस्थित को कोई भी वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं होता।

1 - "अनयोर्द्वयोरेकाग्रानिरञ्जयोर्भूयोश्चित्तस्वैकमतात्म्हः परिरामः स योग इत्युक्तं भवति ।" रा० मा० सु० सु० ४ ।

2 - "चित्तवृत्तिनिरोधलक्षण इति वा वचनेष्वम् । नैष दोषः तस्यै तद्व्याख्यासात् ।"

विवरण - सु० १ ।

योगतत्त्वप्रतिपादक 'योगीश्वरवृत्ति-निरोधः' सूत्र योग की परिभाषा की दृष्टि से बहुत सार्थक तथा उचित है क्योंकि यह सूत्र में "तत्त्वित्तु-निरोधः" होता तो केवल अज्ञान-समाधि को ही 'योग' माना जाता वरन् सूत्र में 'सर्व' शब्द का अर्थयोग यह निर्दिष्ट करने से सिद्ध करता है कि अज्ञान-समाधि भी 'योग' है। इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा उन दोनों समाधियों का 'योग' के अन्तर्गत अव्ययन ही जाता है जो सर्वथा उचित है।

### योगवार्तिक

विशानभिक्षु ने जो वाचस्पतिमिश्र की मीति 'योग' शब्द को 'युक्तमार्गो यतु से व्युत्पन्न मत्ता है। चित्त की भूमियों के बारे में वाच्यकार के ही समान वार्तिककार ने भी चिन्त, मूढ, विचिन्त, क्लाम और निरुद्ध्य नामक चारि भूमियों मानी है। यत् किञ्चित् निरोध चित्त की सभी भूमियों में होना ही स्वीकार किया गया है अतः उक्त वाच्यकार की मीति वार्तिककार ने भी समाधि को चित्त का सर्वभौम धर्म माना है। इनमें से क्लाम और निरुद्ध्य भूमि में होने वाली समाधि को ही 'योग' कहा जा सकता है। चित्त की वृत्तियों के बारे में वार्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र के समान ही वृत्तियों का उल्लेख किया है और तबसा है कि चित्त की वृत्तियों वृत्तियों का निरोध ही 'योग' है। निरोध का तात्पर्य है वृत्तियों का अपने अस्तित्व में लीन हो जाना। यहाँ वर वार्तिककार का विशेषण उक्त दोनों विद्वानों ने चिन्त रख का है। वाच्यकार और वाचस्पतिमिश्र ने निरोध का अर्थ 'रोकना' किया है जब कि विशानभिक्षु ने अस्तित्व में लीन हो जाना किया है। विशानभिक्षु का कहना है कि निरोधकाल में वृत्तियों का स्वयं से नष्ट न होना ही जाना और न ही उनका अभाव हो जाना है प्रत्युत ये अपने कारण में लीन हो जाती हैं। चित्तवृत्तियों का जो निरोध

। - " वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिमहकारोभावस्याः । " अभावश्चाधिकारभा -  
वस्थीशोभमानस्यत्वाद्, निरुद्ध्यन्तेऽजगामवस्थायागिति व्युत्पत्तेर्ब । "

पुरुष की आध्यात्मिक स्वरूपावधारित का हेतु बनता है उसे 'योग' कहते हैं ।

'सम्भ्रान्त' याग के- अर्थात् शब्दीकरण करते हुए विद्वानमिदु कहते हैं 'सत्यं ब्रह्मयते साक्षात्कृत्यते ध्येयमपिमन्निरोधविशेषस्यै योगे इति नमसात्मो-योगः ।' जिस योग में ध्येय विषय का साक्षात्कार होता रहना है वह सम्भ्रान्त-योग है। जब इस साक्षात्काररूपीवृत्ति का भी निरोध हो जाता है उस योग को असम्भ्रान्त-योग कहते हैं । इस योग में कुछ भी ज्ञान नहीं होता इन्दीवर इत्यादि नाम असम्भ्रान्त है 'भूकिसिन्धुयोगे ज्ञायत इति यि गतेनासम्भ्रान्तनामा ज्ञेयं वाच्यार्थः' । " इस असम्भ्रान्त की स्थिति में भूकिसिन्धु के माध्यम से ज्ञेय वस्तु सारे ज्ञानों को अज्ञान होति पर भी 'ह' उस पुरुष ब्रह्मात्मस्वरूप हो स्थित रहना है उतका 'चेतन्य' स्वभाव नहीं बाधित होता बल्कि ही उसका वृत्त्य विषय कुछ न हो । वह अपने विषय रहित चेतन्य स्वरूप में अवस्थित रहता है ।

1 - ब्रह्म्य - योऽथाऽपु 7 1

2 - ब्रह्म्य - - बहो - पु 15 1

3 - " तवर्षिसम्भ्रान्तकाले ब्रह्मः चित्तान्तेः पुरुषस्य श्लाघ्ये निर्विषय चेतन्य माश्लेषमानम् । "

- बहो पु 7 1

### योगवीथिका

अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रयत्नविरोध से निरोध ही 'योग' है। ध्येयविभव के अतिरिक्त अन्य विषयवस्तु चित्तवृत्तियों का निरोध सम्बन्धत-योग है जब कि समस्तवस्तु को चित्तवृत्तियों का पूर्णनिरोध असम्बन्धतयोग होता है। योग के विद्विषय श्रेयों का समान महत्त्व स्वीकार करने में ब्रह्मसंहिता ने भाष्य का ही अनुकरण किया। वृत्तियों का उठकर विकसित होना और उनका निवर्तन होना अर्थात् सिक्कड़ते हुए निवृत्त हो जाना ही 'योग' है। यह सत्त्व दोनों योगशैलियों पर लागू होता है।

### भारतव्ययोगसूत्रवृत्तित्त

विश्वामित्र के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का निग्रह ही 'योग' है। ब्रह्मसंहिता ने वृत्ति के निवर्तन को वृत्तिनिरोध या योग स्वीकार किया था नागोजीबट्ट ने भी शब्दों का घेड़ा और हेर केप करते हुए योग का यही लक्षण बख्नुत किया है। ये वृत्ति-निग्रह को वृत्तिनिरोध कहते हैं। सम्बन्धत में राजस और तामस वृत्तियों के निरोधवस्तु और सत्त्विक वृत्ति अक्षिप्त रहती है। सम्बन्धत में सत्त्विकवृत्ति के भी निरोध के कारण चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही रह जाते हैं। यही चित्त की संस्काररोभावस्था कही जाती है।

1 - " चित्तव्यवस्थाः प्लव्य वक्ष्यमाना वा वृत्तयः ताभ्यां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । प्रयत्नविरोधवृत्तिनिग्रहस्थो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव । ध्येयविरोधवृत्तिनिरोधः अन्तःसु सर्ववृत्तिनिरोधः । "

2 - " साध्यायस्या तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव । "

- पाठ्योत्सु० पु० ३१

मभिप्राय

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध योग है । इसीलिए पद्यैव सम्प्रदायसमीप में रजोगुण तथा तमोगुण युक्त वृत्तियों का निरोध ही जाना है । केवल सार्थकवृत्ति अवशिष्ट रहती है । फिर भी सम्प्रदायसमीप में योग का उन तथ्य अव्याप्त नहीं है । असम्प्रदाय-योग में चित्त की सार्थकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । इस समीप में बुद्धि के माध्यम से कुछ भी ज्ञान नहीं होता । क्योंकि असम्प्रदाययोग की प्रकृति में बुद्धि द्वारा वर्तितवृत्तियों से चित्त-शक्ति का कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है । वस्तुतः बुद्धि सार्थकवृत्तिरहित होने के कारण संसार शंभावस्था में रहती है अतः कोई विश्व चिन्तात्मिक की वर्तित ही नहीं कर सकती । इसीलिए चिन्तात्मिक का बुद्धिवृत्ति के साथ सम्पर्क सर्वथा असम्भव हो जाता है । उस स्थिति में चिन्तात्मिक केवल अपने स्वस्थ में स्थित रहती है ।

सुप्रार्थभोगिनो

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध ही योग है । वस्तुतः व्याख्या में 'निरोध' का अर्थ 'इतिलोमपरिणामोपशमः' किया गया है । चित्त की वृत्तियों के द्वारा अव्यक्तवस्था को प्राप्त होते जाना, 'इतिलोमपरिणाम' है । वृत्तियों के इतिलोमपरिणाम की धर मावस्था ही उनका उपशम है । इस प्रकार उपशम का अर्थ हुआ वृत्तियों का पूर्ण रूप से शासन ही जाना ।

- 1 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो 'योग' इत्यर्थः । "
- मभिप्राय पृ० २१
- 2 - " सोऽयमसम्प्रदायसमीपः । अत्रैव न किञ्चित् प्रतीयत इत्यलम् । "
- वही पृ० ३१
- 3 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां वक्ष्यमत्पानां निरोधः इतिलोम-परिणामोपशमो योग इत्यर्थः । "

- सुप्रार्थभोगिनो पृ० २१

योगसिद्धान्तचन्द्रिका -

सम्बन्धतः तत्र असम्बन्धतः वेदोः समसिद्धिर्वा योगो कः अन्तर्गतः भवति ।  
 इतः व्याख्या में नारायण-तीर्थ ने अपनी सुवार्थबोधिनो में इतद्विषय योग के लक्षण का  
 विस्तृत विवेचन किया है । 'निरोध' का स्वस्थ बुद्धिगो का उपासक है । उस  
 उपासक को हृष्टान्त के द्वारा दृष्ट किया गया है जैसे इन्धनरहित जलमि अपनी  
 कारभावस्था को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार बुद्धियाँ भी अपनी कारभावस्था में  
 संस्काररहित से तीन हो जाती है । इस प्रकार के लक्षण की दृष्टि पूर्वपुराण में भवती  
 हुई भगवानाशिव की उक्ति से तथा गीता में भगवान कृष्ण के वचन से की गई है ।  
 नारायण-तीर्थ ने असम्बन्धत-योग को 'महायोग' की भी संज्ञा दी है । इसे छेप-  
 विधयरीष्टत्व के कारण 'निरात्म' समाधि भी कहा है । इन्हीं दृष्टि में असम्बन्धत-  
 योग ही 'राजयोग' है और उसी योग को गुरुकार के योगलक्षण का बहुल उक्त्य सिद्धांतित  
 किया है । किन्तु इस मान्यता से उक्त्यविद्ययोगलोककार स्वामी भाष्यमान्यता<sup>1</sup> निरोध नहीं  
 होता ।<sup>3</sup>

1 - इष्टव्य - योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ० ३१

2 - " राजयोगविनिश्चयपि वैव तद्व्यसूत्रमाह । "  
 - वही पृ० ३१

3 - " शब्देन विख्यात इति चेन्न । संज्ञात-प्रकृत्य, सामविद्ययति' निरन्तर  
 इत्युक्तर न्येनाविशिष्टबुद्धिनिरोधश्चैव तदर्थत्वव्यवहारः । "

- वही पृ० ४१



## भाष्य ती

शब्दतोषार में 'योग' का अर्थ करने हुए यह कहा है कि यह सब पुनसमाप्ति धातु से निम्न हुआ है अतः 'सयोग' अर्थात् इसके अर्थ नहीं है। 'योग्याशब्द' अर्थात् अर्थों को अभिमत 'सयोग' योग इत्युच्यते जीवहरमर-मात्मनोः अर्थात् जीवत्वा और हरमत्वा का संयोग ही योग है - शब्दतोषार को अक्षेप्य नहीं है। यह योग चित्त का पूर्ण समाधान अर्थात् चित्त का सत्य ग-अर्थान् है। सद्यग् अर्थान् का अर्थ है ठीक से रहना। तात्पर्य यह है कि न तो चित्त राजोगुण के बन्धन से जुरा भी बन्धन रहे और न तमोगुण के बन्धन से जुरा भी अज्ञान या अज्ञानसे प्रभावित हो। चित्त को वे तो समझीकतस्थिति या निरन्तरंग अवस्था चित्त को एकत्र भूमि और निरन्तर भूमि - दोनों में होती है। यद्यपि यह सब स्या धोड़ी बहुत चित्त की स्थिति, बूढ़ और चित्तिय भूमियों में भी होती है किन्तु इन भूमियों की समीप स्वल्पकालिक रूप ब्रह्मलोक होने के कारण 'केवल' ब्रह्म नहीं होती<sup>१</sup>। अतः चित्त को एकत्र और निरन्तर भूमि में ही होने वाले चित्त के सद्यग् अर्थान् या सद्यग् अवस्थान को 'योग' माना जा सकता है।

चित्त की एकत्र-भूमि में होने वाली समीप को सम्प्रदाययोग नाम दिया गया है, क्योंकि चित्त को एकत्र-भूमि में व्यवस्थित के ब्रह्मगीर्ष स्वस्व का ज्ञान होता है और केवल, कर्मादि चित्त के कर्मादियों का शय होता है। 'स्व' का अर्थ है उन कर्मादियों का 'बन्धनसम' हो जाना। उनको इस स्थिति तक निरन्तर कर दिया जाता है कि वे पुनः चित्त में उदित न हो सकें।

-----  
१ - "न च सयोगाद्यर्थको र्ध योग' पुनू समाप्ति' इति शास्त्रिकाः नेपानि समाधि - चित्तसमाधानार्थकः। न च तदेवार्थमज्ञानवृत्तलक्षितः पारिभाषिकः समाधिः। सत्यमाधानमेव शास्त्रिकानां समाधानमेवम्।"

- भाष्यतो ६० ६ ।

२ - "न च तल्लक्षणाद्यर्थकः।" - वही ६० ८ ।

३ - "तथा च शिरोजोर्षि केतान्, तन्मज्जानस्य चेतस्सुबस्थानावीथ द्याऽऽदीन्, केतान्, स योगः कर्मतो बन्धनसंबन्धान् करोति।" - वही ६० ९ ।

. योग के द्विविध स्वच्छों को मास्तीकर ने भी यों का तोरे खोकर दिया है । चित्त को सकाश भूमि में होने वाली समग्रि सम्भ्रान्त-योग के और निरुद्ध भूमि में होने वाली समग्रि असम्भ्रान्त-योग है । 'योग' को बुद्धि से सम्भ्रान्त-समग्रि का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण है । सम्भ्रान्त-समग्रि द्वारा ही चित्त के अधिद्या, राग और वैरागिद शक्तों का निरोध होता है और चित्त ध्येयविषय में स्थानिष्ठ होने के कारण चित्त को ध्येयविषय का वास्तविक स्वरूप शून्य शून्य प्राप्त होता है । सम्भ्रान्त-समग्रि की अन्तिम उपयोगिता यह भी है कि इसके सिद्ध होने पर ही सभी बुद्धियों का निरोध रक्त 'सत सम्भ्रान्त-योग' सम्भव होता है ।

### साधिनारायणभाष्य

सात्त्विक, राजसिक और तमसिक रूप वाली जितनी भी चित्त की बुद्धियाँ हैं, उन सभी का उनके कारण भूत-तत्त्व बुद्धि में अर्थात् चित्त में आत्मिक लय ही योग है । इन बुद्धियों का आत्मिक लय कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है - जब बुद्धिबुद्धियों विवेकज्ञान स्त्री प्रति वृत्तार वश्वोजनवाच्य हो जाती हैं तभी उनका बुद्धि या चित्त में आत्मिक लय होता है । 'आत्मिकलय' का अर्थ है बुद्धिबुद्धियों का उनके कारण में लीन हो जाना । आत्मिक-रूप से विलीन होने पर बुद्धिबुद्धियों बुनः अंत नही हो जाती अर्थात् वे वश्वोजनवाच्य हो जाती हैं ।

1 - " सम्भ्रान्तियव्यो सम्भ्रान्त्याधि निरोधे यः सर्वबुद्धिनिरोधः स ह्यसम्भ्रान्तौ योग इति । " - भास्वती ६० १० १

2 - " यावतीनां बुद्धियुत्तीनां सात्त्विकीनां राजसीनां तामसीनाम् इयान्निवर्षयद्विकल्प-निवृत्त्यवधिनां स्वकारणे बुद्धितत्त्वे तावदात्मिको लयः " योग १२ बुद्धये । "

- साधिनारायण-भाष्य ६० १५ १

योग के दोनों चरणों सम्प्रदाय और असम्प्रदाय का निरूपण श्री कृष्णवत्सनाचार्य ने बहुत विस्तारपूर्वक किया है । 'सम्प्रदाययोग' को 'सम्प्रदाय' तथा 'अपरयोग' नाम से भी परिचित किया है । असम्प्रदाय-योग को 'असम्प्रदाय' और 'अपरयोग' नाम दिया है । इनकी दृष्टि में व्यभिचि मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों 'योगों' का महत्वपूर्ण ज्ञान है फिर भी असम्प्रदाय को प्राथमिक उद्देश्यता या 'परता' को वे स्वीकार करते हैं । यमनियमादि द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त सम्प्रदायतसमाधि ही है जिसमें परमतत्त्व का ज्ञान होता है । इसी समाधि में निरन्तर स्थिति रहने पर विवेकव्यति होनी है । विवेकव्यति से भ्रष्टा और प्रकृष्टि के रूप का व्यर्थज्ञान होता है और अन्त में एक हेतु भी स्थिति मिलती है जिसमें उस ज्ञान के प्रति भी वैराग्य ही जन्म है और तब ही समाधि होती है उसे 'असम्प्रदाय-योग' कहते हैं । यही 'अपरयोग' है । जिससे साक्षात् मोक्ष प्राप्त होता है और इस समाधि में अस्मद् योगी जीवन्मुक्त हो कर कैवल्यप्राप्त कर लेता है ।<sup>2</sup>

-----

1 - " यमनियमादिसत्तनजन्मव्यतिरिति परमयोगजनकत्वम् । अपरयोगस्य तत्त्वम् । स चाप्यपरयोगो सम्प्रदाय इति स बोध इति च व्याप्यते । अरमो योस्तत्त्व-ब्रह्मण इति निर्बन्धि इति च व्याप्यते । " - श्यामिनारायणभाष्य पृ० 16 f

2 - " अत एव परमे योगे सत्यम् महायोगो जीवन्मुक्त इति ज्ञेयम् । " - यही पृ० 16 f

इस प्रकार 'योग के तत्त्व' के विषय में इन सभी व्याख्याओं का विश्लेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सूत्रानुसार ही इस भाष्य का अभिमत ही सभी व्याख्याओं में यत्किंचित् शब्दान्तर से देखने को मिलता है। तत्त्ववेत्तारवी में भोग्य परिवर्तन योग और समाधि के व्याख्यानक शब्द में देखने को मिलता है। भाष्य के अनुसार योग व्याख्य है और समाधि व्याख्य है अर्थात् सभी योग समाधि को न कहते हैं किन्तु सभी समाधियों योग नहीं हो सकते, उदाहरणार्थ-शिवन, मूढ और चिदिदन्त भूमि की समाधियों योग को कहीं भी नहीं मानते। 'वक्ष्यत्यय' असंख्यगत-समाधि भी योग नहीं मानते जाते। तत्त्ववेत्तारवी-कार में भी और तारी करते तो इस परिष्करण की स्वीकार की है किन्तु बजाय समाधि को चित्त का सर्वभौम धर्म मानने के योग को चित्त का सर्वभौम धर्म कहा है और योग को जंगे न्याय सम ही कहा है। यत्किंचित् और चर्चिकाव्यायी सभी व्याख्याकारों ने भाष्य के वर्णन को अक्षरशः अनुसृत किया है।

व्यासभाष्य

योग के लक्षण का विवेचन करने से यह निश्चित हो गया है कि चित्त की सार्वत्रिक, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टियों को रोकना ही निरोध है। पूर्ण निरोधावस्था में चित्त में केवल निरोध संस्कार प्रबल स्थितिपट रह जाते हैं। यह निरोध-संस्कार सम्प्रदात-समाधि से उत्पन्न तानसंस्कारों के भी विरोधी होते हैं।<sup>1</sup> निरोध-संस्कारों से चित्त दृष्टि के निरोध के साथ-साथ दृष्टियों के संस्कारों का भी निरोध होता है। सम्प्रदात-समाधि में शक्ति निरोध और प्रसम्पत्तान-समाधि में दृष्टियों का पूर्ण निरोध होता है। एक बात यहाँ पर और भी उल्लेख्य है कि सम्प्रदात काल में दृष्टियों का जो शक्ति निरोध कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि सार्वत्रिकदृष्टि पूर्ण रूप से बनी रहता है और राजस तथा तामस दृष्टियों का यहाँ पर भी पूर्ण निरोध होता है शक्ति न हो।

तन्मयेशारदी

निरोध का अर्थ दृष्टियों का अभाव हो जाता है। चित्त की दृष्टियों का अभाव ही निरोध है। सम्प्रदातसमाधि में चित्त को राजस-तामस-दृष्टियों का अभाव हो जाता है। फलतः उनके निरोध-संस्कार प्रबल स्थितिपट रह जाते हैं<sup>2</sup> दृष्टिनिरोध के फलभूत ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं। इसी प्रकार

1 - " प्रथमं तानां संस्काराणांमपि प्रतिशन्धी भवति । "

- व्यासभाष्य पृ० 132 f

2 - " राजसतामसदृष्टिनिरोधात्तस्य च तद्दृष्टान्तिनिर्यातः । "

- तन्मयेशारदी पृ० 10 f

इसी प्रकार अवसरगत में भी जानना चाहिए । निरोध के दो उपाय हैं अन्वय और वेराय । वेराय द्वारा चित्त को बाह्य विषयों को तबक उन्मुख होने से रोका जाता है । इसके पर्याय दोगाद्यों के अभ्यास से चित्त को स्थिर किया जाता है । निरोधायकता में व्युत्थान कारणक वृत्तियों का अभिभव होता है तथा निरोध-संस्कारों का भाविर्भाव होता है । ऐसी अवस्था में चित्त निरोध-संस्कारों से अश्वित होकर निरोध-परिणाम को प्राप्त होता है । निरोध-संस्कारों से चित्त का अश्वित होना ही निरोध-परिणाम है । अब प्रश्न उठता है -- व्युत्थान-संस्कारों का निरोध कैसे होता है ? क्या चित्तवृत्तियों के निरोध से व्युत्थान-संस्कार भी निरन्वय हो जाते हैं ? इन प्रश्नों का समाधान इन शब्दों में किया गया है । व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । चित्त इन व्युत्थान-संस्कारों का उपादान कारण है । किन्तो भी कारण का नाश उसके उपादान कारण के निरोध से ही सम्भव है अतः चित्त के निरोध से ही व्युत्थान-संस्कारों का निरोध सम्भव है । निरोध-संस्कार भी चित्त के धर्म हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्युत्थान-संस्कारों का निरोध उनके उपादान कारण चित्त के निरोध से ही सम्भव है । उनके निमित्त कारणरूप वृत्तियों के निरोध से नहीं होता । अतः वृत्ति निरोध के फलस्वरूप ही निर्वीज-समधि होती है जिसमें जात्यादि क्लेशयुक्त कर्माणां रूपा बीज चित्त में से निकल चुके रहते हैं ।

.....

। - " निरोधश्च स्वस्वमाह - स निर्वीज इति । कोऽपि सतिः कर्माणां जात्यादिवर्जितं बीजम् । तस्मिन्निर्वृत इति निर्वीजः । "

तत्त्ववेत्तारदी पृ० १२१

राजभारतवृत्ति

चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके प्रतिबोध-परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों को उनके कारण में लीन कर देना ही "चित्तवृत्तिनिरोध" करना है । यह चित्तवृत्तिनिरोध थोड़ा बहुत तो सभी प्राणियों के चित्त की सभी भूमियों में होता रहता है, परन्तु चिन्तन, मूढ और विचिन्तन भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध स्वल्पकालिक और इन्तर्द्वन्द्वीय होने के कारण समीप के लिए उपयोगी नहीं है । समीप के लिए केवल स्वप्न और निरुद्ध भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध ही उपयोगी होता है । इन भूमियों में कर्मात्त चित्त की राजस-तामस तथा सभी वृत्तियों स्वर्द्ध उनके आनन्द्य संस्कारों का विलय हो जाता है । इस प्रकार वृत्तिहर ने चित्तवृत्ति-निरोध के बारे में जो विवेचन दिया है उसमें तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :-

- (1) प्रतिबोध परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में लीन होना ही वृत्ति निरोध का स्वस्व है ।
- (2) सभी भूमियों में हुए चित्तवृत्ति निरोध को निरोध संज्ञा दी जा सकती है ।
- (3) निरोध-काल में सभी वृत्तियाँ तथा संस्कार अपने कारण में लीन हो जाते हैं ।

.....

। - " चित्तस्य निर्वृततत्त्वपरिणाम-स्वप्न या सुप्तयोऽभ्यासिद्भावात्परिणामस्वास्तव्यं निरोधो बहिर्मुखतया परिणीतविद्येवाकम्बुद्धतया प्रतिबोधपरिणामे स्वकारणे लभ्ये योग वस्थाप्यते । "

विवरण

दृष्टिनिरोध के दो उपाय के परवैराग्य और प्रथम । इन उपायों द्वारा क्रमात् सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है । सभी चित्तवृत्तियों से तात्पर्य यह है कि समीपवर्तमान अतन्मयता का भी इतने ग्रहण करना चाहिए । अतन्मयता तथा उसके संस्कारों का भी निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोधसंस्कार रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार कैवल्य-प्राप्त के मार्ग में बाधक नहीं होते । दृष्टिनिरोध तथा व्युत्थान-संस्कारों का निरोध करने के उपरान्त ये निरोध-संस्कार चित्त में ही पड़े रहते हैं और चित्त के साथ ही ये द्रव्य में प्रतिबन्ध हो जाते हैं । सभी दृष्टियों, संस्कारों तथा निरोध-संस्कारों के भी अपने कारण में लीन हो जाने के उपरान्त अन्तःपुरम् कैवल्य तक प्राप्त कर केवली हो जाता है । पुरुष को चित्त से मुक्ति इस निरोध-संस्कारों के द्वारा ही मिलती है इसीलिए 'चित्तवृत्ति-रोध' मुक्तिः इति' यह कहा गया है ।

- 
- 1 - "उक्तमेवोपायद्वयं परवैराग्यविरामप्रवृत्त्याद्यानाद्यैः तन्निरोधकम्" ।  
 - योगसूत्र भाष्य विवरण पृ० ।
- 2 - "यद्येव तां समीपवर्तमानां अतन्मयां निरन्विष्ट्वा, तपेवात्मना सहजातीयानां संस्कारमपचाङ्कृतानां संस्काराणां च प्रतिबन्धो निरोधाद्भवति ।"  
 - वही पृ० 118 f
- 3 - "व्युत्थाननिरोधसमीपवर्तनैः व्युत्थानसमीपवर्तनैः निरोधसमीपवर्तनैश्च सह कैवल्यप्राप्तयेः संस्कारैरित्तं प्रवृत्तिसंस्काराणां च सां प्रवृत्तौ संस्कारो-पेक्षितमहाभारे प्रवृत्तियते इत्यस्तमेति ।" - वही पृ० 119 f
- 4 - "तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वस्वभावप्रतिभयाः केवलो मुक्त इत्युच्यते, चित्त-वृत्तिनिवृत्तिरोध मुक्तिः इति ।" - वही पृ० 119 f



### योगवार्तिक

वार्तिककार ने निरोध को और अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना है । लीन होने से तात्पर्य वृत्तियों का अभाव या मूढ होना नहीं है । वृत्तियों का तब हीना, चित्तस्थी अधिकरण की ही एक विशेषता अवस्था है । चित्तवृत्ति निरोध काल में चित्त में केवल वृत्तियों से बने हुए संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं ।

### योगवीथिका

चित्त की सम्प्रदातकामिक वृत्तियों तथा तन्मय संस्कारों का अत्यन्तभाव ही वृत्तियों तथा तन्मय संस्कारों का निरोध है । जब अभावजन्य वृद्धता के कारण निरव्यवृत्तियों तथा संस्कार चित्त में पुनः उद्भूत नहीं होते उस समय चित्त मधी वृत्तियों और तन्मय संस्कारों से रहित होकर निर्बल-समाधि को पराकाष्ठा पं प्राप्त होता है ।

1 - " निरोधतासां तावाहोऽधिकरणसौवाचकविशेषाः । "

-- योगवार्तिक पृ० 12 F

2 - " वृत्तिनिरोधस्य चित्तस्य वृत्तिसंस्कारोपावस्य, अभावस्यधिकरणभावस्यविशेष मक्षरस्यत्वाद्, निरव्यवृत्तेऽप्यामवस्थायायिमीत श्युत्वत्वेत् । "

-- बहो पृ० 7 F

3 - " पूर्वपूर्वसंश्रयते तावत्त्वमेव निरव्यवृत्ते । प्रशासंस्कारस्य तानव्यवृत्तम् । स्यं प्रमेय त स्यात्तु प्रशासंस्कारस्याप्यसंश्रयतपरमवय । निरोध- अत्यन्तविशेषे जायमाने परमसिद्धसत्त्ववृत्ति निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवति । तदुक्त्यानिवर्थाः । "

-- योगवीथिका पृ० 33 F

### पार्श्वयोगसूत्रवृत्ति

केस और कर्मादि का निरोध हो जाने के उपरान्त तत्कालानन्द सञ्जातसमाधि में अवस्थित होता है । परब्रह्मण्य के द्वारा सञ्जातसमाधिजन्य ब्रह्म तथा प्रलोकित संस्कारों का निरोध हो जाने पर अस्वप्नयोग होता है, जिसे निर्बीज-समाधि भी कहा जाता है । ब्रह्म तथा प्रलोकित-संस्कारों का निरोध ही निरोध का प्रयोजन है । निर्बीज-समाधि द्वारा अन्तःकामवृत्ति तथा अन्तःकाम-संस्कार बहने लगे हुए निश्चिन्त हैं, उसके पश्चात् उनका निःशेष बह हो जाता है जिसके पश्चात् ब्रह्मकृतसंस्कार तथा ब्रह्मण्य-संस्कार इत्यादि के निश्चिन्त पुरस्कारगुणजन्य होकर चित्त में लीग हो जाते हैं और चित्त निरोधसंस्कारों के साथ अपने कारण अस्वप्नतन्त्र में लीग हो जाता है । इस प्रकार निरोधसंस्कारों द्वारा ब्रह्म, प्रलोकित-संस्कारों और ब्रह्मण्य-संस्कारों का नाश हो जाता है । यही निरोध का स्वस्व है ।

। - " तत्र यथायथास्तीयते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्तविकल्पसंस्कारान् विप्रकृतयोग-  
जन्तुं करोति । एवं पूर्वपूर्वसंस्कार सह कृतसमाधिप्रकृतिनिःशेषतः प्रजातसंस्कारवाहः  
ततः द्वारब्रह्मणि कर्म न स्वधिपापसमर्पणम् । तद्व्यतिरेकं दृष्टव्यम् । इत्युक्तयोग -  
संस्कारा हि तत् सहकरीणः ततः दुरन्तार्थमाप्त्या चरितार्थिकारं चित्तमसमाहितमौगकेनैव  
द्वारब्रह्म कर्मणा निरोध संस्कारैश्च सह स्वकारभोक्तुं लीयते ।

पार्श्वयोगसूत्रवृत्ति ३० ३४१

## गणितप्रमा

चित्त की वृत्तियों की क्रियशीलता को रोकना ही वृत्तिनिरोध है अर्थात् वृत्तियों का अवसितविकार हो जाना ही निरोध का स्वरूप है ।<sup>1</sup> निरोधावस्था में चित्त में कोई भी वृत्त वस्तु नहीं बन पाते । ततः न तो ज्ञानरस्य कोई वृत्ति बनती है और न ही प्रकाशककार हो बनते हैं । इस प्रकार वृत्तिनिरोध के परिणामस्वरूप चित्त वस्तुमय हो जाता है, चित्त में केवल निरोध-विकार शेष रह जाते हैं, जो ज्ञान में चित्त के साथ ही अविच्छिन्न में लीन हो जाते हैं । चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है ।<sup>2</sup>

## योगसुत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

निरोध के स्वरूप का उल्लेख बहुत व्याख्या में गणितप्रमा के समान ही किया गया है । न तो निरोध के स्वरूपवर्णन में कोई गणितप्रमा से भिन्न बात कही गई है और न ही कहने के प्रकार में ही कोई नवीनता है ।

1 - " शब्दाङ्गप्रवृत्तौ 'निरोधे' सति सर्वस्य प्रकाशककार-प्रवृत्तस्य निरोधावसितविकारत्वेन-चित्तस्य वृत्त्याभावात् " ।

— गणितप्रमा पृ० २५ ।

2 - " यदा चित्तस्य ज्ञानस्योपमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोधस्तदा द्रष्टुचित्वात्मनः स्वाभाविके रूढे स्थितिः । "

— वही पृ० ३ ।

## भास्वती

भास्वतीकार ने निरोध के स्पष्ट निरूपण में रात्रगार्तक्यवृत्ति के मत का ही अनुगमन किया है । उनका कहना है कि निरोध का अर्थ चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में विलीन हो जाना है । यों तो चित्त की सभी भूमियों में वत् किंचित् वृत्ति-निरोध होता रहता है, परन्तु इस प्रकार का वृत्तिनिरोध 'योग' के लिए सर्वथा उपयोगी नहीं होता । चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है, तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार रोध रह जाते हैं । असंस्कारात्मकता की स्थिति में ये निरोध-संस्कार भी चित्त के बाह्य ही अद्यतन में सीम हो जाते हैं । निरोध-संस्कारों द्वारा ही ध्युत्पन्न-संस्कारों का अविभव संभव होता है । चित्त के ज्ञानजन्यसंस्कारों को अन्य कितों में उपाय से मष्ट या सर्वथावधिभूत नहीं किया जा सकता ।

---

। - " निरोधावस्थायां ब्रह्मयतीमत्वेऽपि चेत् : 'सकं विम विभावतिभूते, केवत्ये तु सर्वसंस्काराणां प्रविलयस्तदा चित्तं स्वकारणो ब्रह्मणे विलीयते न च पुनरस्तति । "

स्वामिनारायणभाष्य

बुद्धिबुद्धितियों का उनके कारण बुद्धितत्त्व में प्राथमिक-तय ही वृत्ति निरोध है<sup>1</sup>। वे बुद्धिबुद्धितियों<sup>2</sup> प्रथमतः विद्येकध्यातित्त्वी शीम के द्वारा दन्वनीज-शक्ति को प्राप्त कराये जाते हैं। तत्-पश्चात् परबेराथ द्वारा इनका माह हो जाता है। सभी बुद्धितियों का प्राथमिक-निरोध हो जाने पर अतस्त्वज्ञान-समाधि होने के। इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं, जो चित्त के वाय हो अपने कारणप्रकृति में लीन हो जाते हैं। जिससे पुरुष महासुक्त हो अपने नित्यबुद्धबुद्धमुक्त स्वरूप में अवस्थित हो जाता है<sup>3</sup>। पुरुष का चित्त से वियोग तथा उसकी स्वस्वार्थी-बुद्धितियों के निरोध द्वारा हो सम्भव है।

-----

- 1 - " निरोधो नाग स्वकारणे तयः । " - स्वामिनारायणभाष्य पृ० 15 f
- 2 - " बुद्धिबुद्धितिर्ना तयो हि तदेव भवति यथा बुद्धो बीजभावस्तत्त्वज्ञाननिना दशः स्यात् । " - वही पृ० 15 f
- 3 - " ते च निरोधवर्तिनः संस्काराः स्वकार्यं निरोधवाट्यात्मिकं सद्यद्गुणव्ययं कृतकृत्य इति मोक्षपर्यन्तं स्वार्थीविस्तारवृत्तिसंस्कारैः संकितं चित्तं बुद्धितत्त्वं स्वकारणे प्रकृत्यात्मके प्रीवितो-पते । बुद्धिबुद्धियोगे च सति शरीरवि-योगस्तु, सुतरामेव । तथा च नित्यबुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः पुरुषः स्वात्मवर्तिन परः परमेस्वर-वर्तिनरायणो वा महासुकते र्भूतिरिति । " - वही पृ० 159 f

## व्युत्थिमाथ

बुद्धि कभी घा. और कभी अज्ञात चिन्तितों वाली होती है कारण अपरिणामिनी है । इसके विपरीत पुरुष सर्वज्ञ होने के कारण अपरिणामिनी है । बुद्धि त्रिगुणात्मक होती है तथा यह वरार्य होती है । त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि अचेतन अथवा मूढ़ हुई अतः यह सक्रिय कैसे हो सकती है ? बुद्धि अचेतन होकर भी जब चेतन पुरुष के विनिष्पन्न को प्राप्त करती है तब मूढ़ चेतनवात् होती है । चिन्तितधन्यावर्तिता के अनन्तर पुरुष बुद्धिप्रवृत्ति को प्रतिबिम्ब रूप में देखता है इस प्रकार व्युत्थान काल में पुरुष बुद्धिप्रवृत्ति के ही समान अकारवत्ता ब्रह्म होता है । इसे ही बोधैयबोध या पुरुष का अनुभव कहा गया है । पुरुष बुद्धि के समान नहीं है क्योंकि बुद्धि को उस का विषय कभी प्राप्त रहता है और कभी अज्ञात रहता है । इसके अतिरिक्त जिनसे भी मूर्त विषय जैसे गो, घट, पट इत्यादि हैं सभी बुद्धि के विषय हैं । इसके विपरीत पुरुष को अपने विषय का ज्ञान सर्वज्ञ रहता है । पुरुष उन विषय बुद्धि है । बुद्धि परार्थ है अर्थात् पुरुष के हित के लिए बुद्धि है । वह पुरुष के लिए योग तथा मोक्ष का सम्पादन गुणों के माध्यम से करती है इस प्रकार बुद्धिपरार्थ बुद्धि हुई ।

इसके विपरीत पुरुष स्वार्थ है । पुरुष निष्क्रिय तथा अपरिणामिनी है यह अपने आप में स्थित रहता है । परन्तु जब बुद्धि विषयाकाराकृतिरत होती है तब उसमें प्रतिबिम्बरूप में स्थित पुरुष बुद्धिप्रवृत्तियों का अनुग्रह होता है, उन्हें देखता है । इस प्रकार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही बुद्धिप्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करता है और चेतन रूप चिन्तितवित्त अपरिणामिनी तथा अप्रतिबिम्ब होती हुई भी बुद्धि प्रवृत्ति में जब प्रतिबिम्बित होती है तब वह बुद्धिप्रवृत्ति से सम्बन्ध होती हुई ज्ञान रखी

वृत्ति वाली कही जाती है ।

### तत्त्ववेत्तारणी

अनुत्पन्न-काल में पुरुष और बुद्धि में जब निकटता होती है तब पुरुष बुद्धिवृत्ति के समान अनुभव करने लगता है । उस समय पुरुष और बुद्धि में इतनी अभिन्नता हो जाती है कि पुरुष जैसी बुद्धि रहती है उसके समान ही अनुभव करता है । इस प्रकार की वृत्तियों का अनुभव सर्वाधिक स्थ से नहीं होता है अपितु इन वृत्तियों को उस क्षण पुरुष अपने प्राय में समारोपित करता है और जब ब्रह्मा ही अनुभव करता है । पुरुष में बुद्धि के साथ निकट होने की योग्यता है । जब निकटता के पूर्वस्थ में सावर्णीतिमय ने सिद्धा है कि पुरुष और बुद्धि की सम्बन्धि न तो वेदा से संबन्धित है और न कदा से संबन्धित है । अपितु उसमें निकटता की योग्यता है ।

1 - " अनुत्पन्नो-वर्षित-तत्त्वस्तवविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । चित्तम-यस्मात्तदभिवक्तव्यं  
मनिविमलतोषणं ह्यपत्येन स्वर्णयति पुरुषस्य स्वात्मनः । तस्माच्चित्तवृत्तिं वेत्ते पुरुष-  
प्राप्त्यादिः संबन्धो वेत्तुः । "

-- श्लोका 0 - वृ 0 18 F

2 - " विमलम जस्यैव शब्दाद्यकारा वृत्तिरित्यस्य धर्मस्तथापि चित्तवैतस्यवैतस्यैव-  
साधारणवृत्तितारच्छात्पुरुषस्यैतुवत्तम् । "

-- श्लो 0 वृ 0 19 F

3 - " अनिर्मलं पुरुषस्य न देशतः कालतर्कवा, तदस्योपगतं किन्तु योश्चतस्रस्य ।  
अस्ति न पुरुषस्य योवृत्तिरितिस्तस्य योश्चतस्रः । "

-- श्लो 0 वृ 0 19 F

बुद्धि परिणामिनी है क्योंकि यह जिस भी विषय का ध्यान प्रदान करना चाहती है बुद्धि उस विषय के अकार को ही होती है । तब उसे जान होता है । जो भी विषय हमसे अज्ञात रह जाते हैं उसके प्रति अज्ञान का मुख्य कारण ही हो है कि बुद्धि उस विषय के अकार को ग्रहण नहीं कर चुकी होती है अतः अज्ञान विषय अज्ञान रह जाते हैं । इस प्रकार ज्ञान के लिए बुद्धि का तद्-तद् विषय से तदाकाराकारित होना अनिवार्य है परन्तु सभी विषय एक साथ ही ज्ञान नहीं हो जाते हैं । जब एक विषय के अकार से बुद्धि आकारित होती है तब उस विषय का ही बुद्धि को ध्यान प्राप्त होता है । उस समय अन्य विषय बुद्धि को अज्ञात रहते हैं । अतः बुद्धि ज्ञात-अज्ञात विषयों वाली है तथा विषयकार को ग्रहण करने के कारण परिणामिनी है । परन्तु बुद्धि ठीक इसके विपरीत है । बुद्धि परिणामिनी है क्योंकि यह ज्ञान के लिए विषयों के अकार से आकारित नहीं होता है । बुद्धि तो सर्वत्र है उसके लिए कभी ज्ञात और अज्ञात का ध्यान ही नहीं होता । वह प्रतिबिम्ब स्वरूप में सर्वत्रा बुद्धिपरची वर्णन में विद्यमान रहता है अतः जब भी बुद्धि किसी भी विषय के अकार को ग्रहण करती है, तत्काल ही प्रतिबिम्ब-स्वरूप में अवस्थित बुद्धि उस बुद्धि बुद्धि का प्रतिबिम्बन करता है । अनुभव की प्रक्रिया में अवगतः बुद्धिबुद्धि बनती है उसके अज्ञान बुद्धि प्रतिबिम्ब उस बुद्धि बुद्धि को ग्रहण करता है अतः बुद्धि को बुद्धि के प्रत्ययों का उपभ्रष्टा अज्ञान सभी की कहा गया है । इसकारण बुद्धि बुद्धि के तमान स्वरूप वाला नहीं हुआ, परन्तु बुद्धि उससे एकवचन विषय भी नहीं है । इसका कारण यह है कि बुद्धि बुद्धि होकर भी अज्ञान-काल में बुद्धिबुद्धियों के स्वस्व के समान स्वस्व वशा विचार्य पड़ता है । इसीलिए उसे बुद्धि से अज्ञान विषय भी नहीं कहा जा सकता है ।

वह बुद्धि से भी विद्यमान होते हुए भी उससे निकटता की घोषणा रखने के कारण बुद्धिबुद्धियों का सामिन्ध्य होने पर उसमें प्रतिबिम्बित होता है और उस समय वह उस समय की बुद्धिबुद्धियों के समान स्वरूप का हो जाता होता है । जैसे निर्मित जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब-मात्र ही विचार्य पड़ता है, वस्तुतः चन्द्रमा तो आकाश में स्थित



रहता है । उसी प्रकार बुद्धिबुद्धि स्वही वर्णन में पुरुष का प्रतिबिम्ब विचार्य  
 पड़ता है और यह प्रतिबिम्ब भी बुद्धिबुद्धि का प्रतिबिम्बन करता है । यह  
 प्रतिबिम्बन पुरुष में आरोपित करके ही पुरुष होता तथा अनुभवकर्ता कहा जाता है ।

महार्थ वाचस्पाति मित्र ने अनुभव की प्रक्रिया के संदर्भ में वाच्यकार को  
 ज्ञेया कुछ विषय भातों का उल्लेख किया है यथा — पुरुष का अनुभव आरोप द्वारा  
 होता है । पुरुष में बुद्धि के साथ साम्निध्य की योग्यता है<sup>2</sup> । यह साम्निध्य किसी  
 निश्चित देश जगत् का काल में नहीं होता अपितु किसी भी प्रकार की बुद्धिबुद्धि के  
 साम्निध्य काल में पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है जिसके कारण बुद्धि वेतनवती  
 होती है और पुरुष-प्रतिबिम्ब उस समय उदात्त बुद्धिबुद्धि का ज्ञान प्राप्त करता है  
 है । बुद्धि साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती है । पुरुष बुद्धि के माध्यम से उस ज्ञान का  
 अनुद्भवा बनता है । बुद्धि में तदाकाराकारित होने की शक्तता है, क्योंकि वह  
 परिष्कारिणी है । अतः वह ज्ञान-अज्ञान विषयों धारिणी है, परन्तु पुरुष की विषयबुद्धि-  
 बुद्धि उसे सदा ज्ञान रहती है । न तो वह परिष्कारिणी है न उसका ज्ञान के लिए  
 तदाकाराकारित ही होने पड़ता है । न तो अपने प्रतिबिम्बजगत् से ही बुद्धिबुद्धि  
 को देखता है तथा उसके ज्ञान का प्रतीता बनता है इस प्रकार वाचस्पातिमित्र ने एक  
 प्रतिबिम्ब वाच के तिरस्कार की प्रतिबिम्बन किया है ।

। - " नोक्तं यद्यपि तदाकाराकारितात्प्रतिबिम्बतत्त्व धर्मसंध्याय चित्तवेतन्ययोरैक-  
 समारोषाद्वृत्तिसाध्यत्वात्पुरुषस्तत्त्वतः । "

- त0वे0 वृ0 19 F

## राजमार्तण्डकृति

व्युत्पन्न काल में पुरम्ह को कृति साख्य होना है । जित प्रकार की बुद्धि कृतिवर्तियों बनती हैं उसी प्रकार का प्रतिनिधित्व पुरम्ह को होना है । इस प्रकार व्युत्पन्नकाल में पुरम्ह बुद्धि कृतिवर्तियों के प्रकार से आकारित होता हुआ या वास्तव होता है जैसे जलतरंगों के घटने होने पर उनमें पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल हो जाता है और उस प्रतिबिम्ब के टिलने-डुलने के कारण चन्द्रमा हिल डुल रहा है ऐसा कथन किया जाता है । ठीक इसी प्रकार बुद्धि के विषयाकाराकारित होने पर बुद्धि में पड़ता हुआ पुरम्ह प्रतिबिम्ब उस विषय का अनुद्रष्टा सत्ता या प्रतिनिधित्व कर्त्ता कहा जाता है । इस प्रतिनिधित्व के लिए बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरम्ह में पड़ता हुआ नहीं माना गया है। अतः स्पष्टतः श्रीरामानुज-प्रक्रिया में वाचस्पतिविरच के एक प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं । यन्त्रिक-कार द्वारा प्रतिनिधित्व विलम्बप्रतिबिम्बवाद नहीं ।

-----

। - " यन्त्रिकविशेषनिर्णयकृतिव्यतिरेक विषयाकारेण परिणते पुरम्हस्तद्रूपाकार एव परिभाषते । यथा जलतरंगेषु धलत्सु चन्द्रवर्णितप्रतिमासते तथैवम् । "

## विवरण

जिस प्रकार स्वच्छ स्वीटकर्मिण अपने तन्मर्क में जाल हुए पदार्थों के आकार से आकारित होती है और पदार्थों के सम्बन्ध से विद्युत होने पर यह पदार्थों के आकार से रहित अपने ही रूप में जन्मियत रहती है, उसी प्रकार पुरुषतन्त्र भी, जो स्वभाव से स्वच्छ है, व्युत्थानकाल में अपने तन्मर्क में जाने वाले बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित स्विकृतीकिये है। पुरुष का बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित होना ही वृत्तिसाक्ष्य है। यह 'वृत्तिसाक्ष्य' पुरुष के अन्तः आरोपित क्रियाकर्ता है। यथार्थतः पुरुष इन बुद्धिवृत्तियों से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। व्युत्थानकाल में पुरुष इस आरोप्यमान विशेषता से युक्त प्रतीत होता है। इससे पुरुष के अपरिणामी स्वच्छ बर कोई हानि नहीं पहुँचा है क्योंकि आरोपित धर्म पदार्थ के स्वच्छ को वृत्तित नहीं कर सकता।

-----

। - "चित्तबुद्धिस्थधारोपितं हि तत्, न स्वतः, स्वीटकर्मदुपधानोपरागवत् ।  
व्युत्थानकाले ।। निरोघादन्यद् यदीक्षतस्य चिष्टादयो वृत्तयः तद्विचिष्टादयो सङ्घी  
वृत्तयः स्वस्वमस्य, चित्तवृत्ति व्यतिरेकेण स्वस्वव्यतिरेकेण च पुरुषस्य वृत्तानिवात्,  
तदा ज्ञातव्यमस्य परिणामानुपपत्तेश्च ।।"

## योगवार्त्तिक

वार्त्तिक में भी बुद्धि के विषयाकाराकारित होने की प्रक्रिया को साधकार तथा वाचस्वीतीमव के समान ही स्वीकार किया गया है । परन्तु अनुभव की प्रक्रिया में वार्त्तिककार ने द्विप्रतीतिविम्बवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है । इनके अनुसार पुरुष के प्रतिविम्ब से बुद्धि चेतनयती होती है । तत् परचात् वह विषयाकाराकारित होता है । पुनः तयाकाराकारित बुद्धिपूर्ति का प्रतिविम्ब पुरुषनस्त्व में पड़ता है । तब पुरुष उस ज्ञान का प्रमाता, मोक्षा, इत्या तथा सभी बनता है । इस प्रकार वार्त्तिककार के अनुसार द्विप्रतीतिविम्बवाद का सिद्धान्त अनुभव की प्रक्रिया में स्वीकृत होता है ।

## योगवीपका

वृत्तियों का सम्पर्क होने पर पुरुष मोक्षा बनता है और वृत्तियों का निरोध होने पर वह कैवल्य को प्राप्त करता है । अतः पुरुष का वृत्तिसाक्ष्य ही उसका बन्धन और वृत्तिनिरोध के द्वारा वृत्तिसाक्ष्य को स्थिति न होने देना ही उसका कैवल्य या मोक्ष है । यह स्थिति असञ्जालयोग के द्वारा ही सम्भव होती है ।

1 - " बुद्ध्याने हि विम्बप्रतीतिविम्बस्य योऽहंविष्णुरन्ववृत्तोः सास्त्वम् । "

- योगवार्त्तिक दृ० २०१

2 " चेतने तावद् बुद्धिप्रतीतिविम्बवत्त्वं स्वीकार्यम्, अथवा कूटस्थमित्वा विभुचेतश्च सर्वं सम्बन्धात्सदेव सर्वं वस्तु सर्वे ज्ञायेत । यथा च स्थिति बुद्धिः प्रतिविम्बेन बुद्ध्यावपि द्विप्रतीतिविम्बं स्वीकार्यमन्यथा चेतश्च मानानुपपत्तेः । "

- वही दृ० २१४ ।

3 - " वृत्तिकालस्य पुरुषस्य बुद्धिबोधः सर्वतो वृत्तियोगे च तन्मिवृत्तिसर्वं कैवल्यमते वृत्तवोनिरोधक्या इति । इह च योगस्यापान्तकमनुभवम् । "

- योगवीपका दृ०

## पातञ्जलयोगसूत्रश्रुति

इस व्याख्या में योगवैतनिक को ही सर्वप्रथम प्रस्तुत विषय का विवेचन किया गया है , कोई नवीन बात नहीं कही गई है ।

## म निषेधा

चित्तश्रुतियों का निरोध करने पर पुरुष मुक्त हो जाता है<sup>1</sup> और वही पुरुष व्युत्पन्नकाल में श्रुतियों के सम्मिश्रणकारण बद्ध रहता है । पुरुष का शुद्धश्रुतियों से श्रुतिमात्रस्य ही उपाय बद्ध नहीं है । "श्रुतिमात्रस्यज्ञ" के कारण पुरुष श्रुतियों के अनुसूक्त सुख, दुःख, ब्रह्मन्ता और आह्लाद का अनुभव करता है । परन्तु इस श्रुतिमात्रस्य से पुरुष अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता क्योंकि श्रुतियों से पुरुष का तादात्म्य तो ब्रह्म-ज्ञ है<sup>2</sup> ।

1 - " निरोधे मुक्तिर्बुद्धाने चन्द इति सूत्रस्यैवतात्पर्यम् । "

— मणिप्रकाश पृ० 4 f

2 - " व्युत्पाने सति परिचयस्य कृत्यः शान्ताऽऽद्यास्तशास्त्र्यं  
श्रुतिमहदुत्पद्यविवेकानुरन्धस्य शान्ते दुःखी मूढोऽस्मीति श्रुतितादात्म्यब्रह्म इत्यर्थः  
ज्ञाने न स्वभावतादात्म्यः । "

— वही पृ० 4 f

व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिवास्य होता है । 'वृत्तिवास्यता' पुरुष के 'अवैतक्ष्ण्य का द्योतक है । क्योंकि पुरुष की विलक्षणता तो वृत्तियों से असम्भव रहने में ही है। पुरुष का स्वस्व शुरुष तथा चिन्मय है । व्युत्थानकाल वृत्तियों-शान्त, घोर और मूढ स्वरूप की होती हैं । ये वृत्तियाँ प्रतिक्षण चित्त में उदित और अस्त होती रहती हैं अतः इन्हें क्षणभंगुर कहा गया है<sup>2</sup> । व्युत्थानकाल में पुरुष का प्रतिबिम्ब इन बुद्धिवृत्तियों के आकार का ही जाता है। क्लेशस्वरूप वह बुद्धिवृत्तियों से सास्त्रज्ञ को प्राप्त कर में दुःखी हूँ, सुखी हूँ, मूढ हूँ इस प्रकार का अनुभव करने लगता है । यहाँ यह याद रखना होगा कि पुरुष का इस प्रकार का अनुभव आरोग्यमान होता है । अतः वृत्ति-सास्त्र के कारण वह अपने वास्तविक स्वभाव से बध्युत नहीं होता है<sup>3</sup> । जैसे कि स्पष्टकामी अनेक प्रकार के रंगों के प्रतिबिम्ब से उस रंग का प्रतिबिम्बित होने पर भी अपने स्वस्व से नहीं हटती उसी प्रकार पुरुष भी स्वभाव से शुरुष होता हुआ व्युत्थानकालिक वृत्तियों के सम्पर्क में जाने पर भी अपने स्वभाव से बध्युत नहीं होता । वह त्रिविधावासात् त्रिविकल्पपूर्वक उन वृत्तियों के आकार से अलङ्कित होकर, जयया स्वीकृत डैकर शम्भोधि के आकार का विद्यार्थ पढ़ता है<sup>4</sup> ।

1 - " वृत्तिवास्यताद्वितिन सह प्रभुर्भूतो सास्त्रज्ञमेतक्ष्ण्यमित्यर्थः । "

योगसिद्धान्तचम्पिका पृ० ७ १

2 - " शान्तघोरमूढाविवक्षितव्युत्थवः क्षणभंगुराः । "

- वही पृ० ७ १

3 - " तत्रिद्वैतविधास्तत्रातिबिम्बस्थाः पुरुषस्य भवन्ति। पाणिभिः शान्तोऽस्मिन्, बुद्धितोऽस्मिन्, मूढोऽस्मेत्यध्यक्षयति । अतो न स्वभावात्बध्युतिः । " - वही पृ० ७

4 - " न हि तत्रैतद्वैतप्रतिबिम्बकालेऽपि स्पष्टकस्य स्वभावात् बध्युतिरस्ति । "

- वही पृ० ७ १

5 - " अतः शुरुषोऽपि पारार्थ्यवैतनत्वपरिणामत्वादिस्वातन्त्र्यरहितोऽपि रूपेण वृत्तेभिर्ग्रह्यन्तिर्भाव्यावृत्तिः । प्रत्यादानुपपद्यते । - - - अथ बुद्धिवाविवेकाद् वृत्ति-विरेकीकृतः सन्नुद्भावाधिना पश्यतीत्यर्थः । "

- वही पृ० १

पुरुष का विषय बुद्धिबुद्धितयो है । बुद्धि तथा बुद्धिबुद्धितयो दोनों जड़ हैं, ये पुरुष के प्रकाश से ही प्रकटीकृत होकर पुरुष का विषय बनती हैं । 'योग' से भिन्नकाल अर्थात् अनिरोध या व्युत्थान -काल में पुरुष का बुद्धितयो से संयोग होता है और पुरुष बुद्धितयो के स्वरूप का भासित होता है । पुरुष का बुद्धितयो के स्वरूप के अकार के समान भासित होना ही 'बुद्धिसाक्ष्य' है । 'बुद्धिसाक्ष्य' द्वारा ही पुरुष योग और विवेकव्यति की स्थिति को प्राप्त करता है । पुरुष का प्रकाश के साथ 'संयोग' निश्चय है क्योंकि 'पुरुष' और 'प्रधान' दोनों निश्चयतत्त्व हैं, वो निश्चय तत्त्वों का पारस्परिक संबंध ही निश्चय होता है । जब बुद्धि अनिरोध के कारण यह संयोग असम्भव कर विघटित जाता है तब बुद्धिसाक्ष्य की समाप्तता समाप्त हो जाती है । यही पुरुष का कैवल्य कहल जाता है ।

1 - "पुरुषविषयबुद्धिबुद्धितयोः पुरुषप्रकरोम प्रकटीकृत भवन्ति एवं यथैतद्विषयत्वाद् बुद्धिसाक्ष्य इव प्रतीयते, व्युत्थान इति । व्युत्थाने = अनिरोध-चित्तकार्यं वा बुद्धयः तदविशिष्टबुद्धिः, तामिबुद्धिभिः सदाविशिष्टा = एकत्वात् प्रतीयमाना बुद्धिः सत्तायश्च ताङ्गतो भवति पुरुषः ।"

— भास्वती पु० 19 इ

2 - "पुरुषानयोर्निश्चयत्वात् संयोगोऽजायते, स च संयोगः प्रवाहस्तत्वाद् हेतुमानित्युपरिभ्याद् वक्ष्यति ।"

— बड़ी पृष्ठ - 23 इ

चित्त की क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त, ये व्युत्थानभूमियाँ हैं । एकाग्रभूमि भी निरन्तर भूमि की अपेक्षा व्युत्थान है<sup>1</sup> । इन चारों व्युत्थान भूमियों में पुरुष का सात्त्विक, राजसी और तामसीवृत्तियों के आकार में आकारित हो जाना ही वृत्ति-साक्ष्य है और वृत्तियों के आकार से आकारित न होना वृत्तिराहित्य है ।

जब बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब बुद्धि पुरुष के तिरु भौथ बनती है और पुरुष का प्रतिबिम्ब ही तब बुद्धिवृत्ति द्वारा प्रस्तुत भौग का भौकता बन कर अपने में उस भौग का अर्थास करता है । पुरुष का बुद्धि वृत्तियों के अनुसृत हो जाना अज्ञान और जीवद्वयम् है<sup>2</sup> । वृत्तिसाक्ष्य पुरुष की आरोग्यमात्र विशेषता है । बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही वृत्ति-साक्ष्य होता है और पुरुष बन्धन में पड़ जाता है, बन्धन का अर्थ जीवद्वय या अज्ञान है । बुद्धि और पुरुष के संयोग को दुःख, सुखादिभौग का निवामक कहा गया है ।

.....

1 - " क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम् इत्येतानिस्तमोऽवस्थाः व्युत्थानसंज्ञाख्यायन्ते,  
' - - - - एकाग्रतत्त्वं चित्तमपि निरन्तराऽपेक्षया तु व्युत्थानमिति ध्यायते । "

स्वात्मनारायणवाच्य पृ० 44 F

2 - " बुद्धिपुरुषयोः संयोगसत्त्वज्ञानहेतुकः, अतस्तत्संयोगाधीनमज्ञानं तत्रावयवयं सुखं भवति, एवं च सति पुरुषे प्रतिबिम्बस्य विम्बिभम्बत्वेन प्रतिबिम्बगत-धर्माणां विम्बा सम्यक्त्वत्वेऽपि पुरुषस्य भवत्यहमेव प्रतिबिम्बस्यः प्रतिबिम्बत्वेऽप्येव सति प्रत्ययः । "



अध्याय

दुःखियों किष्ट और अकिष्ट के भेद से दो प्रकार की होती हैं । अधिद्वयीय 'कोश' हैं । इन कोशों से उत्पन्न होने वाली दुःखियों किष्ट काही जाती हैं । इन दुःखियों का निमित्त कारण कोश है । अतः ये कोश हेतुकः कही गयी हैं । किष्ट दुःखियों से किष्ट शान संस्कार बनते हैं । पुनः इन्हीं किष्ट संस्कारों से किष्टदुःखियों बनती हैं । कोश संस्कारों से दमने वाली दुःखियों ही कर्माद्य संस्कारों के समूह को उत्पन्न करते हैं । किष्टदुःखियों बन्धन रूप से इन कर्माद्य संस्कारों का कारण न बनकर अदृशद्य रूप से दमका कारण बनती हैं । अधिद्वय का तात्पर्य है कि तोषे किष्टदुःखियों ही नहीं कर्माद्य-समूह को उत्पन्न करती अपितु, इन दुःखियों के संस्कार इन कर्माद्य समूह को उत्पन्न करते हैं ।

दुःख और दुःख के स्वरूप के संख्य में भेद शान कराने वाली दुःखि अकिष्ट कही गई है । अनिष्टदुःखियों का विषय विवेकछायित है । अकिष्ट-दुःखि के ही उदय होने से गुणों का कार्यरत्न न अवस्था हो जाता है । चित्त सभी कोशों से शून्य होकर गुणातीत दुःख के समान रह जाता है या दुःखी शून्य चित्त, अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है । इस तरह से चित्त को कैवल्य प्राप्त हो जाता है । उक्त किष्ट और अकिष्ट दुःखियों से उनके समान ही संस्कार उत्पन्न होते हैं । किष्ट-दुःखियों के प्रवाह में अकिष्ट-दुःखियों अपने स्वरूप को ही बनी रहती हैं । उसी प्रकार अकिष्ट दुःखियों के प्रवाह में किष्ट-दुःखियों किष्ट ही बनी रहती हैं । ये दोनों दुःखियाँ प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा समुत्ति के भेद से ३ प्रकार की होती हैं ।

। - " कोशहेतुकः कर्माद्यप्रचयवोत्रीभूताः किष्टाः । किष्टप्रवाह परितप्त  
अप्यकिष्टाः ।

## तत्त्ववेत्तार की

वृत्तियों को अर्थात् 'असंख्य होती है', व्यक्तियों के व्यापार अर्थात् वस्तु वृत्तियों भी असंख्य हैं। वृत्तियों की गणना असंभव है। योगसूत्र 1/5 में सूत्रकार ने इन वृत्तियों को क्लिष्ट, अक्लिष्ट के भेद से दो भेदों में विभक्त कर उनके बीच ही प्रकारों का उल्लेख किया है। वाचस्पतीमिश्र ने सूत्र के अन्तर्गत भाष्य के अन्तर्गत क्लिष्ट, अक्लिष्ट प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख विशेष प्रकार से किया है।

क्लिष्टवृत्तियाँ :- असंख्य क्लिष्ट हैं<sup>1</sup>। जिनके कारण वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् अविमर्शित क्लेशों के कारण ही क्लिष्टवृत्तियाँ प्रवृत्ति होती हैं। क्लिष्टवृत्तियों के सम्बन्ध में दूसरी धारणा वाचस्पतीमिश्र के अनुसार यह है कि क्लिष्टवृत्तियाँ ही राज्ञे, तन्मोमयी वृत्तियों का कारण हैं। इस प्रकार वाचस्पतीमिश्र ने 'क्लेशहेतुकां का दो प्रकार से अर्थ किया है। क्लिष्टवृत्तियों से क्लेशों की ही उत्पत्ति होती है। धर्म-अर्थभेद कर्मधारयों का उत्पन्न करने वाली भी क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं<sup>2</sup>।

1 - "क्लेशा अविमर्शकयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां तास्योक्तः ।"  
- ता०वे० पृ० 25 f

2 - "पुरुषार्थ-प्रधानस्य राजस्तन्मोमयीनां हि वृत्तीनां क्लेशकारणत्वेन क्लेशायेव प्रवृत्तिः। क्लेशः क्लिष्टः तदासांमस्तीति क्लिष्टा इति। यतएव क्लेशोपार्जनार्थममूर्धा प्रवृत्तिश्च त्व कर्मधारयप्रचय वेत्तोर्युक्ताः ।"  
- ता०वे० पृ० 25 f

अक्षिप्तवृत्तियों :- सार्विकवृत्तियों का प्रत्यक्ष अक्षिप्तवृत्तियों का जनक है । इन सार्विक वृत्तियों का विषय बुद्धि और पुरुष के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त करना है । इस ज्ञान को ही विवेक-ध्याति की रीति ही गर्व है । विवेक-ध्याति द्वारा जो वृत्ति चित्त में बनती है उससे गुणों के कार्य को समता को रोका जाता है । अक्षिप्तवृत्तियों का निरोध परवैराग्य द्वारा होता है । अर्थात् और वैराग्य द्वारा अक्षिप्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर अक्षिप्त वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिसे चित्त को प्रकृति पुरुष का वैदजान इन्द्रज होता है । इस विवेकज्ञान से जो वृत्ति बनती है वह अक्षिप्त वृत्ति कहलाती है । अक्षिप्त-वृत्तियों से पुनः अक्षिप्त-संस्कार बनते हैं । इस प्रकार वहाँ भी वृत्तियों से संस्कार और संस्कार से वृत्तियों का एक निरन्तर चलता रहता है । अक्षिप्त वृत्तियों के द्वारा ही साधक का चित्त गिरभ्रवृत्तिक होकर संस्कार-वैपावस्य को प्राप्त करता है, तथा अग्नि चलकर कैवल्य की स्थिति का लाभ भी प्राप्त करता है इस प्रकार कैवल्य प्राप्ति की दृष्टि से अक्षिप्त-वृत्तियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । ये अक्षिप्त वृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं ।

### राजमार्तन्त्रवृत्ति

वृत्तिकार बौद्ध ने भी सर्वप्रथम 'वृत्ति' की परिभाषा दी है कि 'वृत्तयविवेकपरिणामयोभाः' अर्थात् वृत्तियों-चित्त की परिणाम विरोध है । निम्न-निम्न परिस्थितियों में चित्त का जो व्यवहार होता है वही चित्त का परिणाम है । जिसे योगशास्त्र में वृत्ति कहा गया है । ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की कही गयी हैं । ये पाँचों वृत्तियाँ विभक्त और अक्षिप्त प्रकार की होती हैं । अर्थात् जब इन पाँचों वृत्तियों में क्लेश का प्रादुर्भाव होता है तब ये क्लेशयुक्त वृत्तियाँ कही जाती हैं और जब ये पाँचों वृत्तियाँ क्लेश रहित होती हैं तब अक्षिप्त कही जाती हैं ।

.....

। - " अक्षिप्तवृत्तिविरक्षिप्ताः संस्कारा इत्यर्थः । तद्वद वृत्तिसंस्कारचक्रम्-निशाम्बतति, अग्निरोधतमधिः । "

- ल०के० पू० २६ १

## विवरण

दुस्त्वियों' अर्थात् हैं । इन अक्षयदुस्त्वियों को पचकुलों में रखा गया है । पचि कुलों में रहने से दुस्त्वियों का स्वरूप समझने में तथा इनका निरोध करने में बड़ी सहायता मिलती है । क्योंकि यदि दुस्त्वियों को उभर प्रकार के समूह में विभाजित नहीं किया गया होता तो न इनके स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन हो पाता और न ही लोग के अधिकारी व्यक्ति इनका निरोध करने में ही सरलता का अनुभव करते । एक-एक समूह के अन्तर् में प्रत्येक प्रकार की दुस्त्वियों समविष्ट हैं यथा 'प्रमाण' नामक दुस्त्वित में जितने भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं सभी समविष्ट हैं, इसी तरह विपर्यय, विकल्प, निरा और स्यूत में भी उन उन समूहों में रहने वालों दुस्त्वियों समविष्ट हैं ।

उन सभी दुस्त्वियों किष्ट और अकिष्ट रूपों वाली होती हैं । अविद्यावि पचि क्षेत्रों से युक्त दुस्त्वियों किष्ट कहनाही है, किष्ट दुस्त्वियों से धर्म अर्थम रूप कर्माद्य बनते हैं और पुनः किष्टदुस्त्वियों के रहने पर ही इन कर्म क्षेत्रों का विपाक आरम्भ होता है ।<sup>2</sup>

-----  
1 - " यद्यपि किष्टाकिष्टा दुस्त्वोऽनन्ता, तथापि बन्तव्यः पचिपचाः, पचिकुला एव । "

— विवरण पृ० 17 f

2 - " कर्माद्यप्रचये कर्माणि क्लृप्ताकुलविधिप्रतिबन्धितामेवा फल प्रदानाच्छेरत इति कर्माद्यप्रचयद्वयानि, तेषां प्रचयश्चतरेतरगुणप्रदानभावेन संकननं, तस्मिन्, कर्माद्य प्रचये नियन्ते, अविद्याविपक्षेरीभूताः किष्टाप्रया इत्यर्थः । ततोभु वितासु कर्माद्यो विपक्षेरीभूतो भवति । "

— वही पृ० 17 f

व्यतिविक्षयकवृत्तियों' अकिण्ट कही जाती हैं । ये अपवर्ग के लिए सहायक होती हैं । इन्हीं वृत्तियों के द्वारा चित्त रागादि क्षेत्रों का निरोध कर विवेकज्ञान प्राप्त करता है और निरन्तर विवेकज्ञान में ही स्थित रहता हुआ बुद्धि । उस ज्ञान का भी निरोध कर कैवल्य लाभ प्राप्त करता है । अतः अकिण्ट-वृत्तियों का कैवल्य के लिए उपयोग माना गया है । किण्ट और अकिण्ट-वृत्तियों का प्रवाह निरोधविमुखचित्त में सत्य-साध होता रहता है क्योंकि किण्टवृत्तियों का निरोध डेनि पर अकिण्टवृत्तियों प्रकाश में आती हैं । इनके प्रकाश में आने पर भी व्युत्पत्तिनिरोध की प्रक्रिया चलती रहती है । परन्तु किण्ट और अकिण्ट वृत्तियों एक दूसरे से प्रभावित नहीं होती । इनका अपना भवग अलग स्वरूप एक दूसरे से भिन्न नहीं होता । अर्थात् किण्ट वृत्तियों का निरोधतो ही जाता है परन्तु किण्ट वृत्तियों की किण्टता समाप्त नहीं होती ।<sup>2</sup>

### योगवर्तिक

प्रमाणादि व्याकरा' द्वारा चित्त किण्व-किण्व स्थितियों में रहता है । चित्त की ये स्थितियाँ ही चित्त की वृत्तियाँ हैं । चित्त अनेक स्थों में परिणत होता रहता है अतः वृत्तियाँ अक्षय्य हैं । योग-प्राप्ति के लिए उनका निरोध अनिवार्य है अतः निरोध में सुविधा की दृष्टि से सभी वृत्तियों के दो विभागों में विभक्त किया गया है । ऐसा करने से व्युत्पत्तिनिरोध का कार्य सरल हो जायगा । किण्ट अकिण्ट स्वरूप वृत्तियाँ पाँच प्रकार की वर्गीकृत हैं । प्रथम, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्थिति ।

1 - " व्यतिविक्षयकत्वायेव ता अकिण्टाः भवन्गतेतुलान् । "

चिन्म रत्न दृ० 17 f

2 - " एवमकिण्टप्रवाहपतिता अपि किण्टाः किमकिण्टा एव ? किं चतः यदि किण्टप्रवाहगता अकिण्टाः किण्टाः स्युः, तदा वृत्तिसंस्कारानुधिद्योतित्वात् । तदनुसृत एव भवन्ति । अकिण्टीछिन्नेषु अपि किण्टाः किण्टा एव । "

दुःखस्य फल देने वाली वृत्तियों का कारण सेवा है । धर्मों पर हेतु का प्रयोग प्रयोजन के अर्थ में किया गया है । अर्थात् दुःखद्वारा का कारण सेवायुक्त वृत्तियों ही हैं । ये सेवायुक्तवृत्तियों ही किंभटवृत्तियों हैं । धर्म-अर्थमें रख वासनाओं तथा कर्माशयों को उत्पत्ति किंभट वृत्तियों से होती है । सेवा ही इनका आत्मन है । अब प्रश्न उठता है कि ये सेवा का है ? उत्तर देने हैं - दुःख ही सेवा है, दुःखस्वी फल देने वाली वृत्तियों ही किंभटवृत्तियों हैं । किंभटवृत्तियों से ही विषय के प्रति तुम्हारा उत्पन्न होती है । अधिक विषय नहीं मिलने पर दुःख होता है मिलने पर प्रसन्न और तोष हो जाती है । इस प्रकार इनको प्राप्त के लिए धर्म, अर्थ का आचरण करना पड़ता है । जिसके परिणाम स्वरूप दुःख देने वाली किंभटवृत्तियों का प्रयास निरन्तर बढ़ता जाता है । जिसका अन्तिम परिणाम दुःख स्व ही है ।

सेवारहित वृत्तियों ही किंभट वृत्तियों उन्नी गयी हैं । किंभट वृत्तियों से जो फल प्राप्त होते हैं वे भी किंभट ही होते हैं अर्थात् किंभटवृत्तियों में सेवा का रहित होना है मतः इससे जो फल प्राप्त होता है वह भी सेवा से रहित होता है । किंभट वृत्तियों का प्रादुर्भाव हेतु पर गुणों की अध्यात्मता का विरोध होता है जिसके कारण गुणों का साधारण अवलम्ब हो जाता है तथा अधिद्वारिक कर्म का नाश हो जाता है और चित्त केवल अधिद्वारिकचिन्ता करना है । इस संकल्प में जितने ही उपयोगी पाठन हैं उनका पालन करते हुए विवेकव्यति को प्राप्त कर शक्य, अव्यक्त तथा पुरुषत्व का ज्ञान प्राप्त करना है ।

उक्त किंभट तथा किंभट-वृत्तियों से तदनुकूल ही संस्कार बनते हैं । एतः इन संस्कारों से वृत्तियाँ बनती हैं । इस प्रकार वृत्तियों और संस्कारों का एक निरन्तर चलता रहता है ।

- 1 - " अत्र च हेतुः प्रयोजनम् । सेवासंवात्तं मुख्य एव साह्यो दुःखस्य । तथा च सेवाहेतुकाः दुःखस्वीकारविषयकारवृत्तय इत्यर्थः ।" योगशास्त्र 27 ।
- 2 - " किंभटा असेवाधीनताः । तासु गुणोपकारोपरोधिभ्यः । "

## यागशापका

दुस्तिवों<sup>और</sup> पाँच प्रकार की होती हैं । एतेक दुस्ति में वस्तुगुण रजो-  
गुण का प्रभाव होता है । अतः सभी दुस्तिवों का निरोध आवश्यक है । दुस्तिवों<sup>के</sup>  
के दो भेदों किष्ट और अकिष्ट का स्वरूप भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न नहीं  
है क्योंकि किष्ट-दुस्तिवों को शक्ति अकिष्ट-दुस्तिवों भी वस्तुगुण और रजोगुण से  
युक्त होती है । ये दुस्तिवों भी केशों से पूर्वतया मुक्त नहीं होती है अतः  
योग के लिए इन दुस्तिवों का भी निरोध परमावश्यक है ।

## पार्लेखायोगसूत्रदुस्ति

इस व्याख्या में दुस्तिवों का उल्लेख योगसूत्रिक के मनुष्य की किया  
गया है । कोई नहीं अतः दुस्तिवों के संबन्ध में यहाँ नहीं कहा गया है ।

## मणिपत्र

दुस्तिवों बहुत प्रकार की हैं इसीलिए 'दुस्ति' शब्द का बहुवचन  
'दुस्तयः' य ही प्रयुक्त है । प्रथम, विषयार्थ विकल्प, मित्रा और शक्ति  
के भेद से पाँच प्रकार के अवयवों वाली ये दुस्तिवों हैं । ये दुस्तिवों किष्ट  
और अकिष्ट प्रकार की होती हैं । रागद्वेषादि केशों के कारण हैं । इन केशों  
से बनी दुस्तिवों किष्ट-दुस्तिवों कहलाती हैं<sup>2</sup> । अकिष्ट दुस्तिवों से केशों का नाश  
होता है । अथास और वेराथ्य द्वारा किष्ट-दुस्तिवों का निरोध हो जाने के  
उपरान्त पुनः परवेराथ्य से उनके अकिष्ट केशों का भी नाश हो जाता है और  
चित्त अव्यक्त में लीन हो जाता है । इस प्रकार अकिष्टदुस्तिवों के प्रवास से चित्त  
सुखित को प्राप्त होता है ।

1 - " तक्षिदुस्तयः किष्टस्था वा भवन्तु, अकिष्टस्था वा भवन्तु, सर्वा एव  
निरोधुष्या इत्यर्थः । किष्टास्तान्धो किष्टाः गलिको राजसुदय । किष्टा-  
किष्टाभिवृत्तेराथ्या तासामो गलिकोरेवान्तर्भावः । 'रजोमशम' तिस्युतेः । "

— योगदीपिका पृ 5 F

2 - " रागद्वेषादि केशानां हेतवः " किष्टाः " अन्यकथाः - - -  
'अकिष्टाः' केशानां भिन्नो मुक्तिफलः । "

— मणिपत्रा पृ 0 4 F

## सुप्रार्थनोपनिषद्, योगसिद्धान्तचम्पिका

चेन्नदीद व्यक्तियों को वेद के कारण बुद्धवृत्तियों भी अनेक हैं । इन अनेक वृत्तियों को पाँच समूहों के अन्तर्गत रखा गया है<sup>1</sup> । प्रमाण, विषयार्थ विकल्प, निद्रा शोर स्मृति ये पाँच समूह हैं जिनमें सभी प्रकार के विषयों से जनिता प्रत्यय या वृत्तियों रहती हैं । इन असंख्य वृत्तियों को हानोपशान की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है । क्षिप्त शोर अक्षिप्त । अनेक विषय वाचनार्थों से संबन्धित वृत्तियाँ क्षिप्त कहलाती हैं जिनका फल बुद्ध है ज्ञान जिससे बुद्ध ही मिलता है । विवेकव्यति तथा उसके साधनों से उत्पन्न वृत्तियाँ अक्षिप्त कहलाती हैं<sup>2</sup> । ये वृत्तियाँ क्षिप्त-वृत्तियों की विरोधिनो होती हैं । अक्षिप्त-वृत्तियों के द्वारा ही प्रकृति, पुरुष का विविवतब्रह्म प्राप्त होता है । इन वृत्तियों के उचित होंसे पर सभी क्षिप्त वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है<sup>3</sup> ।

1 - " वृत्तयश्चेन्नदीदमेवाद् वृत्तिसमुदायः, पञ्चतयः पञ्च प्रकाराः शब्दवाच्यार्थं ताः शब्दवाचिनो वृत्तिसमुदायः प्रमाणार्थं पञ्चप्रकाराः । तस्मात् हानोपशान्तिरित्युच्ये भेदमाह । "

- योगसिद्धान्तचम्पिका पृ० ७ १

2 - " तत्र क्षिप्ता विधि धानेकविषयवाचनानि बन्धना - - - अक्षिप्ता विवेकव्यतितासाधन - - - श्रेयाफलक वृत्तिविरोधिनः सात्त्विक्यः । "

- वही पृ० ७ १

3 - " सर्वसाक्षात्तन्मनिरोधार्थं प्रयासान्तरहचोचित एवेति भावः । "

-- वही पृ० ६



## भास्वती

प्रमाणादि षष्ठ से श्रुतियों पौंच प्रकार की बताई गई हैं । उस सभी श्रुतियों किञ्चित् और अधिक शक्तियों वाली होती हैं । जो श्रुतियों अविद्याभूतक तथा केशा स्त्री स्त देने वाली होती हैं वे किञ्चित् श्रुतियों कही जाती हैं । जिन श्रुतियों से केशों की निवृत्ति होती है वे अधिक श्रुतियाँ कही जाती हैं । धिवेकधारित को विषय बनाने वाली चित्तश्रुति "अकिञ्चित्श्रुति" कहलाती है । अकिञ्चित् श्रुतियों से किञ्चित्-श्रुतियों का निरोध होने पर चित्त प्रयत्ननिष्कार हो प्रकृति में लीन हो जाता है । फलस्वरूप पुरुषतत्त्व ही अपने शुद्ध मुक्तस्व में अविद्यत हो केवल्य को प्राप्त करता है ।

## स्वामिनारायणभाष्य

प्रथम, विपर्यय, विकल्प, मित्रा और श्रुति ये पाँचों चित्त की श्रुतियों हैं । चित्त के चित्तने भी व्यापार होते हैं वे सभी इन्हीं पाँचों श्रुतियों के परिणामस्वरूप होते हैं । अतः चित्त को इन प्रमाणादि व्यापारों को चित्त की श्रुतियाँ कहा गया है । ये श्रुतियाँ किञ्चित् और अकिञ्चित् केशों वाली होती हैं । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये केश हैं । इन केशों से उत्पन्न होने वाली श्रुतियाँ किञ्चित् होती हैं । ये किञ्चित्-श्रुतियाँ रजोगुण और तमोगुण से प्रकृत होती हैं और केशा जनक धर्म-शर्म स्त कर्मकार्यों को उत्पन्न करते हैं । किञ्चित्श्रुतियों से किञ्चित्-संस्कार बनते हैं ।

1 - " वलेशदेतुभाः केशाः = अविद्याऽऽपयः, ये विपर्ययस्तत्रययाः कित्तमन्ति ये केशाः तन्मातास्त्वभास्तच्च वृत्तयः किञ्चिदाः, - - - अकिञ्चिदाः वृत्तयः धिवेकधारित-विपर्ययः, धिवेकेन चित्ततय निवृत्तिस्तत्रात्तुभा वृत्तयो गुणाधिकारधिवेकधियो गुणप्रश्रुतिरेव केशाः, अतो गुणनिवीर्त्याः कार्यातिवधया वृत्तयो किञ्चिदाः ।"

- भास्वती पृ० 24 f

2 - " येः प्रमाणादिविषयविषयव्यापारविचितौ नीवीत ते व्यापारास्तच्च वृत्तय उच्यन्ते ।"

- स्वामिनारायण भाष्य पृ० 56 f

संस्काराद्योग काल में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती है वे अक्षिप्तवृत्तियों कहलाती हैं । अक्षिप्तवृत्तियों योग प्राप्ति में परम्परया सहायक होती हैं । इन अक्षिप्त वृत्तियों का भी निरोध होना पर ही निर्भोज रूप अवस्थागत योग की स्थिति आती है । इस प्रकार क्षिप्त और अक्षिप्त दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध होता है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'अक्षिप्त' वृत्तियों की जीवदया और रागयुक्त होती है । क्षिप्तवृत्तियों 'क्षेत्रों' की वृत्तियों में सहायक होती हैं और अक्षिप्त-वृत्तियों क्षेत्रों से रहित होती हैं और निरोध-समाधि को प्राप्त कराने में सहायक होती हैं । क्षिप्त और अक्षिप्त-वृत्तियों से चित्त में क्षिप्त और अक्षिप्त प्रकारक संस्कार ही बनते हैं पुनः उन संस्कारों से वेदो ही वृत्तियों उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार क्षिप्त और अक्षिप्त वृत्तियों से संस्कार और उन संस्कारों से उक्त प्रकार की वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

1 - " अक्षिप्ता अपि परम्परयाऽन्यद्योग्यत्वाद्भेदा स्थिति नत्वम् । "

- स्वामिनारायणभाष्य पृ० ५६ ।

2 - " क्षिप्ताविर्बुक्तिभिः क्षिप्ताः संस्काराः क्रियन्ते, अक्षिप्ताविर्बुक्तिभिश्च-  
अक्षिप्ताः संस्काराः क्रियन्ते, तादृशतादृशसंस्कारैश्च तादृशतादृशवृत्तिसम्पन्नं चित्तं  
योगगमयते । अत उभयपिशा अपि निरोधस्तथाः । तादा निरोधेऽसति निरोधानवस्य  
चित्तं संस्कारोपभवतिष्ठते । "

- वही पृ० ५६ ।

अध्यास

वृत्तिनिरोध के लिए सूत्रकार ने अध्यास और वैराग्यनामक दो उपाय बतलये हैं<sup>1</sup>। चित्त में वृत्तियों निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। इन वृत्तियों में से कुछ ऐसी हैं जिनके कारण चित्त सांसारिक व्यापारों में भाग्यमान होता है। इनका शास्त्रीय नाम 'पापबन्ध' है। इन वृत्तियों के प्रवाह से चित्त सांसारिक विषयों की तरफ दीवता है जिनके परिणामस्वरूप उसका अधिक, अज्ञान बढ़ता जाता है और वह मोक्ष से दूर सांसारिक बंधनों के प्रति आसक्त हो जाता है। इसके विपरीत जबकि चित्त में वैराग्य की भावना जाग्रत होती है तब चित्त का अस्मरण उन विषयों के प्रति दूर होनी लगता है। जब चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त शान्त और स्थित हो जाता है। चित्त की इस स्थिति के लिए जिन उपायों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अध्यास कहा गया है<sup>2</sup>। यह अध्यास जब ऋद्धय से, विद्या से तथा ब्रह्मा द्वारा संसाधित किया जाता है तब सुदृढ़ होता है तथा सुदृढ़ हुआ अध्यास व्युत्थान-संस्कारों द्वारा बाधित नहीं होता।

वृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति उपेक्षापूर्वक होनी पर उनके प्रति भोग की भावना का न होना वैराग्य है। वैराग्य के दो प्रकारों का उल्लेख भाष्यकार ने सूत्र के आधार पर किया है। (1) अपर वैराग्य (2) परवैराग्य<sup>3</sup>।

1 - "अध्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। - योगसू. 0 1/12 f  
 2 - "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवतिष्ठता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो योग्यमुक्ताहः तत्प्रतिपाद्यविषयां तत्साधनानुष्ठानमध्यासः।" - व्यासभाष्य सू. 0 47 f  
 3 - "वृष्टानुभवादिविषयबोधवर्जो विरक्तः पुरश्चरानिश्चिन्तितस्त्वित्प्रविवेकाध्ययित्वा बुद्धिगुणैस्तो व्यक्तव्यकालमर्कैश्चो विरक्तासीत्। तद्द्वयं वैराग्यम्। - बहो सू. 0 51 f

लौकिक तथा पारलौकिक विषयों के प्रति उपेक्षाभाव होने पर उन विषयों का सम्पर्क होने पर भी साधक उनके योग के प्रति उदासीन रहता है और अपनी इस उपेक्षाभाव युक्त अनामीगारिकता प्रवृत्ति के द्वारा साधक को अपने चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसका चित्त दृष्ट - अदृष्ट विषयों के पीछे नहीं भागता है । चित्त को इस समय की स्थिति विशेष का ज्ञान ही बशी-कार संज्ञा है । यह बशीकार-संज्ञा नाभकीरणीत चित्त के अपरवेराय काल में होती है । अपरवेराय में दृष्ट, अदृष्ट विषयों के प्रति वेराय उत्पन्न होता है और परवेराय में राजस, तामस के अतिरिक्त सात्त्विकगुण के प्रति भी विवृण्णा हो जाती है ।

अपरवेराय द्वारा विरक्त हुआ चित्त परवेराय द्वारा पुरुष के स्वस्व का ज्ञान प्राप्त कर गुणों के प्रति विरक्त हो जाता है । परवेराय अपर-वेराय की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि परवेराय द्वारा ही साधक को चरम-ज्ञान प्राप्त होता है । चित्त उस समय यह अनुभव करता है कि जितना कुछ प्राप्तव्य था सब प्राप्त हो गया और जितना नष्ट होने योग्य था वह नष्ट हो गया । इस प्रकार के विवेकशीलीकधार द्वारा अपने स्वस्व का पर्याय ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य लाभ करता है ।

। - " ज्ञानमेव पराकाष्ठा वेरायम् । एतमेव हि मान्तरौपिकम् कैवल्यमिति । "

- श्याम-शब्द पृ० ५२ ।

### तत्त्ववैशारदी

चित्त की राजस-तामस दृष्टियों का निरोध हो जाने पर जब चित्त में केवल सात्विक दृष्टियाँ ही प्रबलीकृत होती रहें, चित्त की ऐसी स्थिति के निमित्त जो प्रयत्न किया जाये उस प्रयत्न को अभ्यास कहा गया है । अभ्यास के दो साधनों का निर्देश किया गया है । (1) अन्तरंग (2) बहिर्गसाधन । अन्तरंग में धारणा, ध्यान, समाधि नागक साधन आते हैं और बहिर्ग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आते हैं । उक्त दोनों साधनों से सात्विक चित्त की राजसिक तथा तामसिक दृष्टियों का निरोध करता है । अभ्यासकाल में कर्ता जिन्म बहिर्ग साधनों का उपयोग करता है वह तो दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उनसे क्या फल भिन्ना यह नहीं दिखाई पड़ता । फल की प्राप्ति का अनुभव तो चित्त को होता है । अतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार ने लिखा है - " साधनगोचरः कर्तुव्यापरो न फलगोचर इति । "

अभ्यास जब दीर्घकाल तक असिद्धित, निरन्तर असिद्धित तथा सत्कार-असिद्धित होता है, तब वह सुदृढ़ हो जाता है । सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होता । अभ्यास से चित्त की राजस-तामस दृष्टियों का निरोध गलत हो जाता है । यह अभ्यास तोम विशेषणों के संपन्न है । (1) सुदृढ़ता (2) व्युत्थानसंस्कारों से अनोष्यत (3) चित्त की स्थिर स्थिति ।

1 - अष्टव्य - त0वे0पृ0 48 f

2 - " सोऽयमभ्यासो विशेषणप्रयत्नमन्मः सम्पुटावस्थौ न तदसा व्युत्थानसंस्कारेरीष-भृतीस्थितरूपिण्यप्यो भवति । "

- वही पृ 49 f

अपरवेराय :- वेतन अलेख दृष्ट पदार्थों के प्रति विदुष्यां अनुभविक

स्वभाव विषयों के प्रति विदुष्या तथा विश्व अविष्य वस्तुओं के प्रति विदुष्या उत्पन्न होने के साथ-साथ इन सभी पदार्थों, विषयों के प्रति अनाभौतिकता प्रवृत्ति का उदय ही वेराय है । केवल विदुष्या मात्र को वेराय नहीं कहा जा सकता । जब विदुष्या के साथ-साथ अनाभौतिकता प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो तभी वेराय होता है ।  
 विषयों के प्रति अनासक्ति तथा उनके योग के प्रति उदासीन उदय वशीकार-संघ है ।  
 यह वशीकार-संघ<sup>नानुभव</sup> विवेकीय चित्त को ही प्राप्त होता है । विषयताप युक्त हैं अर्थात् विषय दृष्ट वेने वाले हैं इस प्रकार की बोध दृष्टि का होना ही प्रसङ्गान है । इस प्रसङ्गान-बल से चित्त विषयों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर उनके प्रति उदासीन तथा अनाभौतिकता प्रवृत्ति रखता है, इस प्रकार की प्रवृत्ति का उदय ही वशीकार-संघ है । वशीकार-संघ को वास्तविकता ने भी वेराय का विशेषण न मानकर वेरायकीतिक रूप किये माना है । वशीकार-संघ के प्रारम्भिक सोपानों का उल्लेख भी इन्होंने किया है । यथा - यतमानसंघ, स्थितरेकसंघ, स्थेन्द्रिय-संघ तथा वशीकारसंघ इति ये चार स्थितियां आगम-साध को जानने वाले के अनुसार मात्र बतली गयी हैं ।

1 - " न वेदुष्यमात्रं वेरायम्, अविदुष्यादिव्याकृत्यविषय संप्रयोगेति चित्तस्थानाभौतिकता, तामैव स्पष्टयति - हेतोपाधेयम् । आसगद्देशरीइतोपेक्षा-वृत्त्यवशीकारसंघ । "

रागादि चित्त के मन हैं । ये चित्त के कषाय हैं । इन्हीं कषायों के कारण इन्द्रियाँ विषय बौणों में प्रयुक्त होती हैं । जब चित्त में यह भावना जागृत हो जाती है कि इन्द्रियाँ अब विषय सुखा में प्रयुक्त न होंगी यदि तो यत्प्रयत्नसंग होती है । यत्प्रयत्नसंग में योगी अन्धास प्रारम्भ करना है । जब साधक यह विचार करने लगता है कि इतने कषायों पर विजय प्राप्त हो गई, इतने और रोष बचे हैं, इस प्रकार से <sup>निश्चयस्य योग्य</sup> प्रति <sup>योग्य</sup> उक्तसिद्ध होती है <sup>2</sup> । जब कषायों के अनुसार इति वासी इन्द्रियों की प्रवृत्ति वैराग्यभावना के कारण बन्द हो जाती है, केवल 'मन' नामक एक इन्द्रिय में ही कषाय 'उत्सुकत्व' के रूप में विद्यमान रहते हैं तब अपरवैराग्य की वह अवस्था 'स्वेन्द्रियसंग' कहलाती है <sup>3</sup> । विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि के साथ साथ अनौगन्धिका बुद्धि <sup>4</sup> बना वशीकार-संग है <sup>4</sup> । उक्त सभी स्थितियाँ अपरवैराग्यके अन्तर्गत आती हैं ।

परवैराग्य :- अन्धास और अपरवैराग्य के परचात चित्त सुख सात्त्विक प्रवाह जाता हो जाता है <sup>5</sup> । चित्त स्फात्र होकर पुरुष के स्वस्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है साथ ही उसे गुणों के स्वस्थ का भी ज्ञान हो जात है ।

1 - " रागादयः सन्तु कषयाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि ययत्सं विषयेषु ब्रवन्मै, तन्मा प्रवर्तिष्यतेन्द्रियाणि तत्संबन्धुष्येभ्यो तत्परिवाचमायारम्भः प्रयत्नः, सा यत्मान-संगः " । त0वे0पृ0 30 ।

2 - " तदारभ्ये सति केचित्कषायाः पक्षाः, पक्षमेत, ब्रह्ममेत संकेचित् । तत्र पक्ष-मानेभ्यः पक्षानां व्यतिरेकेण्यवारणं व्यतिरेकसंगः । " - वही पृष्ठ 30 ।

3 - " इन्द्रियप्रयत्नतनासम्भयता पक्षानामौत्सुक्यमक्षेप मनसि स्वस्थानमेकेन्द्रिय-संगः । " - वही पृष्ठ 30 ।

4 - " औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरस्तीत्येभ्योपि दिव्यादिभ्यश्चिपयेभुपेसाबुद्धिः सत्ता-प्रवात्परः । वशीकार-संगः । " - वही पृष्ठ 30 ।

5 - " अपरवैराग्यस्य पर-वैराग्यं प्रति कारणत्वम् । " - वही पृष्ठ 32 ।

गुणों के स्वस्व का ज्ञान प्राप्त कर चित्त उनके प्रति विरक्त हो जाता है और अपने स्वस्व का ज्ञान प्राप्त कर प्रति प्रत्यन्तता का अनुभव करता है<sup>1</sup>। उसके चित्त के अविद्यार्थि समस्तमल नष्ट हो जाते हैं और साधक जीवित होना हुआ भी मुक्ति के समान अनुभव करता है। इस प्रकार परवैराग्य द्वारा मायिक का चित्त तभी प्रकार के मल से दूर होकर स्वच्छ हो जाता है और ज्ञान की पराकम्प्यता को प्राप्त करता है। ज्ञान के अन्त प्रकृत के सामने हैय उसे प्रति ज्ञान रूप का भावित होनि लगता है। इस प्रकार के ज्ञान की पराकम्प्यता के पश्चात् ही योगी केवल्य लाभ करता है जो सबसे ऊँची तथा श्रेष्ठ उपलब्धि है।

### राजमार्गक वृत्ति

अध्यास — चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय अध्यास और वैराग्य ही अध्यास द्वारा वृत्तियों की अतिक्रमण, प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है और ये वृत्तियों अन्तर्मुखी होकर अपने कारण चित्त में लीन हो जाती हैं। वृत्तियों का निरोध हो जाने पर ही चित्त बृद्ध स्थिरता को प्राप्त होता है<sup>2</sup>। इस प्रकार वृत्तियों से रीतन चित्त को शान्त स्थिति के लिए मत्न करना ही 'अध्यास' है। चित्त की स्थिरता से तात्पर्य है — चित्त का अपने स्वस्व में स्थित रहना। चित्त का वास्तविक स्वस्व 'प्रकृतस्व' या 'सात्त्विक' है मत्तः चित्त का अपने सात्त्विक स्वस्व में स्थित होना ही चित्त की स्थिति के निमित्त 'अध्यास' नामक उपाय का ध्यान अनिवार्य है<sup>4</sup>।

1 - "यादुस्तरम् अज्ञानप्रसावमाप्तम् । मलप्रक्षेपेन निर्विषयम् सुखयति । तत्रैव हि तावुर्वा चित्तसत्त्वं रजोलेताम्लेनाप्यरागुष्टमस्यवियोऽत एव ज्ञान प्रसाव इत्युच्यते ।"

ताम्ये ७ ५० ५२ १

2 - "तासां विविद्युत्तथाहृदयनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरस-  
त्तयाऽवस्थानम् । - - - अध्यासेन च युक्तजनक शान्तव्याहप्रवर्तान् द्वाराण इदं सैर्धर्मगुणा-  
दुच्यते ।"

— ११० म० ७० ५० ३१ १

3 - "वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वस्वनिष्ठः परिणामः स्थितिसत्त्वात् एत उच्यते । पुनः पुनस्तस्मैव शैतमि निवेशनमध्यास इत्युच्यते ।"

— ११० म० ७० ५० ३२



अध्यास की स्वस्वतन्त्र विशेषताएँ ये हैं - अध्यास का बहुत काल तक होना उसकी प्रथम विशेषता है । चित्त की स्थिति के लिए भावर के साथ निरन्तरव्यवहार करना अध्यास की दूसरी विशेषता है । तीसरी विशेषता है । अध्यास के द्वारा चित्त का स्थिर होना । अध्यास के ही द्वारा चित्त की स्थिति सुदृढ़ होती है अर्थात् चित्त की स्वतन्त्रनिष्ठता दृढ़ होती है ।

चित्तवृत्ति निरोध का दूसरा उपाय 'वेराध्य' है । वेराध्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अवर वेराध्य (2) परवेराध्य ।

**अपरवेराध्य :-** दृष्ट और अनुभूतिक विभ्यों की मखरता तथा परिणामदुःखता को देखकर उनको न चाहने की इच्छा ही 'अपरवेराध्य' है । 'अपरवेराध्य' में साधक का चित्त विषयों से इतना अधिक निरस हो जाता है कि उसे किसी भी प्रकार के लीजपत्ती प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है । विरक्तिचित्त बर्णिकार-संज्ञा को प्राप्त हो जाता है और यह अनुभव करता है कि 'विषय' सब उसके वास में है वह विषयों के वासीवृत्त नहीं है । विषयों के प्रति अब वह कभी भी आसक्त नहीं हो सकता है ।

**परवेराध्य :-** विवेकव्यतिहारा पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर गुणव्यय के प्रति विरक्ति होती 'परवेराध्य' है । इस अवस्था में साधक यह समझ लेता है कि समस्त विषय गुणों से युक्त हैं, अतः वृत्तिनिरोध के लिए श्रेष्ठ उपाय गुणों से दृष्टकारा पा जाना है । इस प्रकार की भावना के जन्म होने पर साधक को सभी गुणों से वेराध्य हो जाता है । इसी वेराध्य को परवेराध्य या श्रेष्ठवेराध्य माना गया है ।

1 - " बहुकालं नैरन्तरेण भावराहित्यायेन च सेव्यमानो दृढ़ं भूमिः स्थिरो भवति । हार्दियाय प्रभवतीत्यर्थः । "

-- ११० मा० पृ० ३४ १

2 - " तयोर्द्वेषयोरपि विषययोः परिणाम-विरसत्त्व-वर्णानां श्रुतिगतगर्ह्यस्य वा बर्णिकारसंज्ञा भवेत्ते वक्ष्या नाहमेतेषां वय इति योग्यं विमर्शितद्वेराध्यमुच्यते । "

-- वहीं पृ० ३६ १

3 - " तद्वेराध्यं परं ब्रह्मण्यं परमं वेराध्यं विषयविषयम् । त्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नपुरुषविवेकव्यतिरेक-भवात्, निराद्य-समपिरव्यन्तानुक्तत्वात् । "

-- वहीं पृ० ३९

## विवरण

चित्त की सुखदुःख और मोहात्मक वृत्तियों के निरोध के उपाय अभ्यास और वेराय है । चित्त की स्थिति के निमित्त किया गया यत्न ही अभ्यास है । यत्न का ही पर्याय 'वीर्य' तथा 'उत्साह' है । अतः इस अर्थपर 'वीर्य' और उत्साह का भी 'अभ्यास' कहा जा सकता है । अभ्यास के लिए धर्म-नियममयि योग के प्राचीन साधनों का अनुष्ठान किया गया है । इस प्रकार योग के साधनों का अनुष्ठान अभ्यास हुआ । यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर अभिविक्त किए जाने पर वृद्धभीम वाला होता है । वृद्धभीम अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से अचानक बाधित नहीं होता । अतः समीचीन-स्थिति की वृद्ध तथा दीर्घ कालीन होती है ।

अब वेराय का निरूपण प्रस्तुत है । वृष्ट और अशुभ विषयों के प्रति वितुष्ण का उत्पन्न होना वेराय है । इसे ही अवरवेराय कहा गया है । अवर-वेराय के चार चैदों के नाम इस प्रकार हैं :- (1) यत्नानसंघा (2) व्यतिकल्पसंघा (3) स्पेन्द्रियसंघा और (4) क्षीयारसंघा । सभी परार्थों पर यत्न प्राप्त कर यह सोचना कि परार्थ गौण हैं इनका अथ कोर्य काम नहीं है इस प्रकार की अनावैगामिक प्रवृत्ति का होना ही वशीकार-संयत्नात्मक वेराय है ।

-----

1 - " निरोधीनिमित्ता चित्तस्य या स्थितिः यत्तद्य फलवृत्ता तथा नियन्तो यो यत्नः सोऽभ्यासः ।

- विवरण 42 F

2 - " यत्नोवीर्यमभ्युत्साह इति पर्यायाः । "

- वही पृ 43 F

3 - " धर्मनियम विधियोग साधनानुष्ठानमभ्यास इति । "

- वही पृ 43 F

द्वारे प्रकार के वेराथ को 'इरवेराथ' नाम से अभिहित किया गया है । यह वेराथ कैवलय-दायक होने के कारण परमुकुष्ट वेराथ माना गया है ।

### योगवार्तिक

चित्त की स्थापना के लिए शास्त्रोक्तवर्ष्यादि साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास है । अर्थात् चित्त को श्रेय रूप ज्ञानमन में परमपूर्वक लगाना या सम्निविष्ट करना ही अभ्यास है । इस अभ्यास का निरन्तर बहुसकल तक तथा इत्यादि वस्तुओं द्वारा लेखन करने से अभ्यास सुबुद्ध होता है तथा बुद्धानुसंगियों से क्षीयित नहीं होता इस प्रकार अभ्यास से चित्त इर्ष्यादि वृत्तियों से रहित शान्त तथा स्थायीचित्त वाता होता है चित्त को इस प्रकार, शान्त चित्त के लिए यत्न करना ही अभ्यास है ।

'स्थिति' शब्द को अर्थार्थ ने योग का धर्म अंगभूत-संगीय बताया है । यह विवेचन वार्तिककार का विशेष विवेचन है क्योंकि अन्यग्रन्थकारों ने 'स्थिति' शब्द को लेकर ऐसा विचार नहीं किया है ।

वेराथ :- वेराथ ज्ञानसाधना को कहते हैं । रागादि का अश्लेष मात्र वेराथ नहीं है । चित्त में जब किसी भी प्रकार की वृत्तियाँ नहीं रह जाती है अर्थात् सर्वथा, सर्वतः विवृण्ण चित्त ही वेराथ को प्राप्त करता है<sup>3</sup> । वेराथ दो प्रकार का होता है (1) अवरवेराथ (2) परवेराथ ।

अवरवेराथ :- दुष्ट, अशुद्ध, अनुचित, विषयों के प्रति विवृण्ण के साथ-साथ चित्त की अनाभीगात्मिका प्रवृत्ति ही अवरवेराथ है । अवरवेराथ का अधः विकास वतमान संज्ञा, अक्षीतरेकांशा, एकीग्रय-संज्ञा तथा बहोकार-संज्ञा नामक साधनों

1 - कैवलयथ वा प्रत्यासन्नतरत्वात् परमुकुष्टम् । "

- विवरण पृ० 45 f

2 - " अर्थात्पर्यवृत्तिसमाधिप्रज्ञाऽऽवीना वक्ष्यमानानां साधनानामनुष्ठानमभ्यास तत्परिष्कृतम् ।  
- योगवार्तिक पृ० 48

3 - " अतोऽत्र वेराथश्च वेदवृण्णमात्रं न तत्रार्थं किं तु यतोस्त विवृण्णस्य बहोकारसंज्ञीति ।"  
- वही पृ० 50 f

से होता है । इन चारों में वसोकारसंज्ञ नामक अपरवेराय केष्ठ मना गया है । अतः योगप्रतिष्ठ के इच्छुक साधक को वसोकार संज्ञक अपरवेराय का अनुष्ठान करना चाहिए ।

परवेराय :- परवेराय अपरवेराय की तुलना में उच्छ्रुततर है <sup>1</sup> । परवेराय में चित्त सासारिक तथा स्वर्गादि आकर्षणों के प्रति वेराय से भी ऊँच उठकर भुविष्ठतत्त्व, पुरुष-तत्त्व तथा प्रकृति-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है और पुनः उस ज्ञान के प्रति भी विरक्तीचित्त होकर परवेराय प्राप्त करता है । परवेराय के द्वारा साधक कैवल्यफल वाचक असम्भवात् योग को प्राप्त होता है ।

विवेकव्यति के प्रति भी वेराय ही जना "परवेराया" है । यह वेराय समझता के साधक, यमनिवर्तन के साधक का विषय नहीं यह असम्भवात्योग का साधन है । सम्भवात्-योग के बाव विवेकव्यति प्राप्त होती है और जब विवेकव्यति के भी प्रति वेराय हो जाता है तब परवेराय की विधीत जाती है । इसी विधीत में योगी असम्भवात्-योग को प्राप्त करता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर मुक्त हो जाता है <sup>2</sup> ।

1 - " तथा याम्बुजवायतरसंज्ञाकाराभ्यासाद्येतोरभ्यस्यमानं सफलगुणेषु वेदुष्यं परं केष्ठं वेरायाम्बुजः ।

योगवर्तिक पृ० 53 ।

2 - " इतश्चैव यतो ज्ञानवसावस्य कैवल्यं नाम्तरौप्यं नियतम् इतीहमेव सति कैवल्यमावस्यकं नाम्बुजम् ज्ञाने यमनिवर्तनो वेराय्ये वा तत्तत्क्षेप्यस्यप्रसातनुष्येना-  
शेषतः प्राचीनकर्म-भ्रष्टोऽनियमतः कथावसंभवत्तत्र मोक्षे जितव्यसम्भवादिनि । "

- सही पृ० 54 ।

विवेकप्रदातिपर्यन्त चित्त की स्थिति बनाये रखने के लिए अष्टादि साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अभ्यास है । इस अभ्यास का सेवन जब बिना किसी बाधा के निरन्तर ब्रह्मचर्यादीय स्था सत्कार्यों के द्वारा किया जाता है तब यह अभ्यास बृहद् भूमि वाला होता है । बृहद्भूमिक अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होता अतः सुबुद्ध अभ्यास से स्थिर चित्त की स्थिति व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होती<sup>2</sup> ।

योग का दूसरा उपाय वेराग्य है । वेराग्य के दो भेद निर्दिष्ट हैं (1) अपरवेराग्य (2) परवेराग्य । प्रथमतः अपरवेराग्य का स्वस्व निरूपित किया जा रहा है । जितने भी भौतिक विषय हैं सभी बृष्ट विषय हैं ; बेवसेत स्वर्गादि विषय अबृष्ट विषय हैं । इन बृष्ट और अबृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा ही वेराग्य है । अपरवेराग्यके चार भेद किए गए हैं । (1) यतमानसंघा (2) व्यतिरेकसंघा (3) स्फेन्द्रिय संघा और (4) यातोकार-संघवेराग्य । इन सभी का विस्तरेण क्रम से किया जा रहा है । विषयों के प्रति बोधवृष्टि होने पर ही वेराग्य होता है अतः जब ज्ञानपूर्वक वेराग्य के साधनों का अनुष्ठान किया जाता है तब यतमानसंघा नामक वेराग्य होता है । यह वेराग्य की प्रथमभूमिका है । इतनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जा चुका है

.....

1 - " तत्र तयोर्मध्ये स्थितौ विवेकपर्यन्तं चित्तस्वैर्ययि" प्रपत्नौ वक्ष्यमाणानां अष्टाध्यायैर्ग्रीतप्रकारसमाधानानां पुनः पुनरनुष्ठानमभ्यास इच्छर्यः ।"

- योगवीथिका पृ० ११ । १

2 - " ए तु अभ्यासो दीर्घकालेन स्थितौ निरन्तर्येणावधारणेन च स्थितस्यो- ब्रह्मचर्यादीयैः सत्कारैश्च स्थितौ बृहद्भूमिर्भवति । व्युत्थान-संस्कारिणानभिभूतां स्थितिं जनयती- त्यर्थः । "

- वही पृ० ११ । १

अथ इतनी शीघ्र जेतक्य हे' ऐसी अवधारणा विज्ञतीय भूमिका में होती है जिसे 'व्यतिरेकसंध' नामक वैराग्य कहा गया है । वाङ्मयविशेषों को मङ्गल करने वाले स्वार्थि विषयों के प्रति राग का प्रभाव होने पर एक मन से संबंधित रागीय के दूर हो जाने पर स्फेन्द्रियसंध नामक वैराग्य होता है । जब सभी प्रकार के रागीयवासनाओं के प्रति वैराग्य हो जाता है तब वसोकार-संध नामक चतुर्थ वैराग्य प्राप्त होता है ।

अपरवैराग्य के पश्चात् परवैराग्य का निरूपण किया जा रहा है । परवैराग्य को 'श्रेष्ठवैराग्य' नाम से भी संज्ञित किया जाता है । पुरुषध्याति के अनन्तर सभी गुणों के प्रति वितृष्णा का होना ही परवैराग्य है<sup>2</sup> । 'वितृष्णा' गद का अर्थ योगवीथिका में 'अज्ञविद्य' दिया गया है अर्थात् गुणों के प्रति आकर्षित का सर्वथा नभाव हो जाना । यह वैराग्य ही कैवल्य का कारण है<sup>3</sup> ।

1 - " ज्ञानपूर्वकवैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंलाभेन परिष्कृतं चित्तुष्णां प्रथमा भूमिका । वाङ्मयविशेषविषयेषु स्वार्थिभु रागवैराग्यद्वये सति, स्फुटस्मिन्न मनसि आनादिविषयकरागवैराग्यद्वयपसारणं तृतीयाभूमिका । प्रकृतविषयसंनिघोरपि रागीय-वासनानुद्बोधसंधतुर्धोर्भूमिका वसोकार-संधा चित्तुष्णैति । "

- योग वीथिका - पृ० 12 F

2 - " सफलगुणेष्वस्त्योपकरणेषु चेतुष्णमर्तव्येषु परं श्रेष्ठं वैराग्यमिदमर्थः । "

- वही पृ० 12 F

3 - " इतिस्मिन्नैव च वैराग्ये सति कैवल्यनिश्चयो । "

- वही पृ० 13 F

जब चित्त की रजसी और तामसी दृष्टियों का निरोध हो जाता और चित्त में केवल सतीत्वकवृत्ति ही अवशिष्ट रह जाती है तब चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है । चित्त की यह एकाग्रता ही उसको चित्त के जिसके लिए अभ्यास और वैराग्यनामक उपायों का उत्प्रेक्ष किया गया है । चित्त की स्थिरता के लिए तामसी-साधनों का अनुष्ठान प्रयत्न के द्वारा किया जाता है उस प्रयत्न की धारा को ही 'अभ्यास' कहा गया है । 'प्रयत्न को धारा' यह से यह शब्दतः सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न को अधिकिष्णता ही अभ्यास है । यह अभ्यास दीर्घकालतक, निरन्तर, श्रद्धा, तपश्रद्धा द्वारा जब सेवित होता है तब यह दृढ़ भूमि बना होता है । दृढ़भूमि को प्राप्त अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से अधिकृत नहीं होता अर्थात् चित्त की स्थिरावनी रहती है । व्युत्थान-संस्कारों से भाषित नहीं होती ।

अभ्यास के भाव 'वैराग्य' का उत्प्रेक्ष किया जाता है । वैराग्य के चार चैत्यों में से 'अपरवैराग्य' नामक प्रथम चैत का विवेचन प्रथमतः किया जा रहा है । अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्यों का निरूपण किया गया है । जिनमें से चतुर्थ अर्थात् 'वशीकारसंज्ञक' वैराग्य को ही वास्तविक अर्थ में वैराग्य माना गया है । योग प्राप्त के लिए वशीकारसंज्ञक वैराग्य ही सहायक होता है । अतः इसकी प्रतिष्ठा अन्य तीन वैराग्यों को अपेक्ष अधिक की गयी है । अपरवैराग्य में द्रुष्ट और अद्रुष्ट विषयों के प्रति चित्तृष्णा होती है । शेषवर्त्मन योगवीर्यता को ही मूर्ति है अतः परमाणु, अतीतरेक, स्वेच्छिय और वशीकारसंज्ञक वैराग्य के चैत्यों को ध्याव्या नहीं की जा रही है ।

1 - " तास्त्विकमात्रवृत्तिरुपगतता स्थितस्तत्र तन्मिथिलं तत्संपादनेच्छया तत्साधनाविषया-  
नुष्ठाने वा यत्नधारा सोऽभ्यास इत्यर्थः । "

-- पार्तजनयोगसूत्रवृत्ति पृ० ११ १

2 - द्रुष्टव्य - पार्तजनयोगसूत्रवृत्ति पृ० १२ १

वेराथ का दूसरा रूप है 'परवेराथ' । यह वेराथ उत्कृष्ट-प्रकार का वेराथ है । जब गुणों और दृश्य का विविक्त ज्ञान हो जाता है तब साधक को गुणों के प्रति वेराथ हो जाता है । वेराथ का अर्थ है गुणों के प्रति अतुष्टिदृश्य-वेराथ । यह वेराथ निर्विषयक होता है अर्थात् इस वेराथ के वाक साधक का चित्त किसी भी विषय तथा उसके ज्ञान से आवृत्त नहीं रहता है । इस समय न तो कोई बुद्धिप्रवृत्तिजननी है न कोई ज्ञान होता है अतः परवेराथ को अवस्था में चित्त अतः अज्ञान-मयथि में लीन हो केवल्य को प्राप्त करता है ।

### मोक्षप्रथा

चित्त की रजोगुणयुक्त तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त एकाग्रस्थिति में स्थित होता है । चित्त की एकाग्रस्थिति के लिए यमनियमादि योग के साधनों का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान ही 'अभ्यास' है<sup>१</sup> । अभ्यास प्रयत्न विशेष का नाम है । इस अभ्यास का सेवन जब पवित्रता तथा धर्मपुष्पक, तपस्या तथा अक्षयि ज्ञान द्वारा निरन्तर किया जाता है तब यह अभ्यास सुदृढ़ होता है, सुदृढ़ अभ्यास भ्युत्थान-संस्कारों के समर्थ से कभी भी अभिवृत्त नहीं होता है । फलतः चित्त की एकाग्रबुद्धि में स्थिति अनवच्छिन्न रूप से बनी रहती है । 'स्थिति' शब्द का अर्थ मोक्षप्रथाकार ने चित्त का 'एकाग्रबुद्धि' में अर्थात् स्थिति बनाया है ।

१ - " अदुस्तरं निर्विषयज्ञानप्रसादमात्ररूपो लक्षणतः समाधिर्स्थिति तात्पर्यम् ।

हरिकण्ठेन वेराथे तति शेषककेवत्प्रतिपद्यते ।" - पारतजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० १३ ४

२ - " चित्तच्छेदकप्रथा 'स्थितिः' तस्या कर्त्यायां यति साधनतमि यमनियमादीनि तद्विषयः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यास" इत्यर्थः । - मोक्षप्रथा पृ० ७ ४

३ - " सोऽभ्यासो वीर्यकर्तुं तपोब्रह्ममहाधीनव्याभ्रवृत्तसंसारकत्वेन मेरुतर्पणेन यत्सेवितो-  
द्वृत्तसंस्कारः स भ्युत्थानसंस्कारोर्नाशिक्रियते किं तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः । "

— बहो पृ० ६ ४



चित्तवृत्तियों के निरोध का द्वारा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अपरवैराग्य और (2) परवैराग्य । अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्य समाविष्ट हैं जिनका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है । रागादि कषायों से युक्त विषयों में प्रवृत्तवृत्तियों के कषायों को पक्षमे के लिए किया गया यत्नविशेष ही यत्नमानसंज्ञक वैराग्य है । 'पक्षाना' शब्द यहाँ सम्बन्ध कषायों को 'व्यधीजमायता' प्राप्त कराने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इन्द्र-बोज माय को प्राप्त कराने के बाद ज्ञेययुक्त वृत्तियाँ पुनः नहीं उत्पन्न हो पातीं और इस प्रकार उनका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । इन प्रकार गए कषायों के बाद अब और कितने बचे का विनाश करना अतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । वस्तुओं के एक जमे या भीजित हो जाने के उपरान्त इन्द्रियाँ अप्रवर्तनीय हो जाती हैं और चित्त एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है । चित्त का स्थान होना ही लक्ष्यप्रयत्नक वैराग्य है । जब साधक सभी दृष्ट-अदृष्ट विषयों को विनाश, ताप और तस्युपाधि दोषों से युक्त देखता है तब इनके प्रति भी उसके चित्त में चिन्तना जग जाती है कततः साधक उन विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता हुआ वशीकारसंज्ञक वैराग्य को प्राप्त करता है ।

अपरवैराग्य के बाद ही परवैराग्य की प्राप्ति होती है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्रीप्रभाकार ने लिखा है - " पूर्ववैराग्यमुत्तरवैराग्ये हेतुः । " योगियों के अनुष्ठान से चित्त जब शुद्ध होकर विषयों के प्रति दोषदृष्टि रखता हुआ वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब उसे पुरुषध्याति होती है । पुरुषध्याति को ही विवेकध्याति भी कहते हैं । विवेकध्याति के निरन्तर होते रहने पर चित्त निरन्तर

। - " तत्ररागादिनां चित्तव्यानां कषायानां विश्लेषेऽपि चिन्तयप्रवर्तनानां पाकश्व प्रयत्नो यत्नमानसंज्ञकवैराग्यं, ततः पक्षानां केभां चिरुभाषाणां परव्यमलेषु विनाशव्यारणं अतिरेकसंज्ञक वैराग्यं, ततः पक्षानां सर्वेभ्योऽपि चिन्तयप्रवर्तनानां मनस्योऽनुबन्धस्तेजानस्पान मेकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्यं, - - - - दृष्टेषु - - - - शानुधविकेषु - - - - विनाशपरि ताप- सातस्यव्यव्यादिदोषाणामुत्थानेन साक्षात्कार " चिन्तना " उपेक्षाबुद्धि " वशीकारसंज्ञा " वैराग्यमित्यर्थः । "

शुद्ध सात्त्विक स्वर में स्थित होता हुआ धर्मियसमाधि को प्राप्त होता है । धर्मिय-समाधिस्थ चित्त जब गुणों से मुक्त होकर क्लृप्तार्थ हो जाता है तब उसे अतस्मात्त-समाधि की प्राप्ति होती है । असम्प्राप्तसमाधि को परवेराध्य की पूर्णता का अभिन्न फल कहा गया है <sup>2</sup> ।

### योगसुप्रार्थबोधिनी

यमनियमादि योग के साधन जिनके द्वारा चित्त रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों से शुद्ध होकर स्काम स्थिति में स्थित होना है । चित्त की इस स्कामता के लिए किया गया प्रयत्न अथवा अनुष्ठान ही अभ्यास है <sup>3</sup> । यह अभ्यास ब्रह्मसर्व और प्रवृत्ति संस्कारों से असंश्लेषित होने पर वृद्ध होता है । अभ्यास के सुवृद्ध होने पर तदन-स्थ ही वृद्धसंस्कार चित्त में बनते हैं जिसके कारण चित्त की स्काम स्थिति खींचत नहीं होती । शैथिल्य सुवृद्ध अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से सर्वथा अनभिन्न रहता है <sup>4</sup> ।

वृत्तानिरोध का दूसरा उपाय वेराध्य है । वेराध्य के दो चैत्यों का उल्लेख किया गया है । अपरवेराध्य और पर-वेराध्य । अपरवेराध्य परवेराध्य की तुलना में कम श्रेष्ठ है अर्थात् इतिहास इस वेराध्य का नाम अपरवेराध्य रखा गया है ।

1 - " सोऽयमीतदुत्पृच्छिस्तत्त्वार्थः प्रसादो धर्मियस्योत्तरावधिः उच्चैश्च फलोन्मत्तः परं गुणेश्चो वैतृष्णी वेराध्यमुच्यते यं मुषितं हेतु साक्षात्कारं तदग्नि मोक्षविदः । यद्योपये प्रक्षीण-सर्वक्लेशो विदुतासो भक्त्वासायः कुतश्चिदेकस्मान्तावप्युपेक्षकः कुतं कुतं प्राप्तं प्रापणीयमीति मन्यते योगी । "

- मीमांसना पृ० ११

2 - " चित्तमसंप्रदानसंस्कारमात्रार्थं भवति तत्परं वेराध्यम् । "

- वही पृ० ११

3 - " रजस्तमोत्पृच्छिस्तत्त्वार्थं चित्तस्य स्कामतास्थितिः । तस्यै कायाधि यम-नियमादीनि । तद्विज्ञापकः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यासः इत्यर्थः । "

- सुप्रार्थबोधिनी पृ० ११

4 - " सः व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिन्नुयते, किन्तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः । "

- वही पृ० ६

जब द्रष्ट और अद्रष्ट विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि हंसि पर विषयों के प्रति विद्वर्णा उत्पन्न होती है तब वशीकारसंज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है जो अपरवैराग्य की भूमिकामें से अधिकतम वैराग्य है । अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख इस व्याख्या में श्रौरेयों से भिन्न रूप में कि या गया है ।

स्वीकृत विषय जिनका त्याग नहीं हो सकता उनके प्रति उदासोन्माद्य रहते हुए उनके समान वस्तुओं का त्याग करना ही यतमानसंज्ञकवैराग्य है । प्रिय विषयों के प्रति राग का अभाव होना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । विषयवृत्तियों के प्रति हृदय में राग का शिथिल हो जाना स्फेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य है । जब स्फेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य के प्रति भी उदासोन्माद्य आ जाती है तब वशीकार-संज्ञक वैराग्य में चित्त पूर्णतया सभी विषयों की तरफ से उदासोन्माद्य केवल अपने भाग में स्थित रहता है ।

अपरवैराग्य के पश्चात् परवैराग्य की स्थिति आती है । पुरुष और प्रदान का विधिकतमान हो जाने पर गुणों के प्रति विद्वर्णा का हो जाना ही पर-वैराग्य है । पर का अर्थ है श्रेष्ठ है । अतः 'परवैराग्य' इस पूरे पद का अर्थ श्रेष्ठ वैराग्य हुआ । इन वैराग्य द्वारा चरमगमन प्राप्त हो जाता है और साध्य सद्यः केवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है ।<sup>2</sup>

1 - "तत्र स्वीकृतविषयान् सम्यक्सुम्नस्त्वुत्तरेण समनिच्छा आगेनायम् । ततोऽपि विषयानां मध्ये प्रियवस्तुनाक्यापि व्यतिरेकेणाऽपि वृत्तिर्दितीयम् । तथा वृत्तापि गन्ति रागश्लेषेन बाह्येन्द्रियैरेव सेवनं तृतीयम् । तत्रायोरप्योन्मत्तं चतुर्थीमर्थः ।"

— सूत्रार्थवैयर्थ्यो ५० 6 १

2 - "पुरुषस्य वा ध्यातिः प्रधानाद्विचिन्तय यः साक्षात्कार उपयते तदभासाद्योप गुणप्रयव्यवहारैर्भु वेत्तुम्यम् । वृत्ताधिरोगिनी चित्तवृत्तित्यां भवति तत्परं श्रेष्ठं फलवृत्तं वैराग्यं तत्परिपाकतीव्यत्तोपयमपीरपाकस्ततोऽधिलभ्येन केवत्यमित्यर्थः ।"

— वही ५० 7 १

योगसिद्धान्तचिन्ता -

चित्त की विष्ट और अविष्ट वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त परमात्मा में चित्त को एकत्र करने के । हेतु जिन प्रयत्नों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अभ्यास कहा गया है । 'अभ्यास' के निहित किए गए प्रयत्न ये हैं- उताह, साहस, धैर्य, अध्यात्मविद्या, शास्त्रों का अध्ययन और योग के शार्ङ्ग साधनों के अनुष्ठान द्वारा चित्त स्फूर्तिपूर्ण में स्थित होता है । यह अभ्यास बहुत समय तक निरन्तर शक्ति और अद्यापूर्वक सेवित होने पर इन्द्र-भूमिमाता होता है । इन्द्रअभ्यास से इन्द्रअभ्याससंस्कार बनते हैं जो व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होते और चित्त इस प्रकार इन्द्र अभ्यास द्वारा स्थितिस्थित होने में समर्थ होता है<sup>2</sup> ।

वृत्तिनिरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद हैं - अपरवैराग्य और परवैराग्य ।

अपरवैराग्य - इष्ट और जानुशक्ति विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि के होने पर जो वैराग्य होता है उसे अपरवैराग्य करते हैं । अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख "सुशार्ङ्गयोगिनी" की शक्ति ही इस व्याख्या में भी किया गया है ।

परवैराग्य - यह वैराग्य अपरवैराग्य से श्रेष्ठ वैराग्य माना गया है<sup>3</sup> । यह वैराग्य कैवल्यवाक्य होता है तथा इसवैराग्य में ही प्रकृति पुरुष का विविक्तज्ञान हो जाता है तिससे गुणों के प्रति विद्वम्भा उत्पन्न होने पर साधक को गुणों से वैराग्य हो जाता है ।

1- " तत्रतयोर्भवे तस्मिन् परात्प्रीति सच्चिद्रूप इति वा स्थितिरैकाग्रता तदर्थं प्रयत्न उताहसाहसयेर्थाध्यात्मविद्याध्ययनमहसैवमयमनियमाद्यनुष्ठानत लोकाभ्यास इत्यर्थः । "

- योगसिद्धान्तचिन्ता पृ० 16 F

2 - " सोऽभ्यासो दीर्घकाल नैरन्तर्येण शक्तिश्च द्याविच्छसत्कारेभ्योचितो इन्द्रभूमिर्इन्द्रसंस्कारः सन् । व्युत्थानसंस्कारैरनाश्रित्येन स्थितौ समर्थो भवतीत्यर्थः । "

- यही पृ० 17 F

## वास्तवी

विवेकज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान के मुख्य उपाय अध्यास और वेदराश हैं ।  
 ज्ञानः विवेकज्ञान के साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अध्यास है । 'अध्यास' की  
 विशद व्याख्या इस प्रकार से की गयी है - चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न करना  
 अध्यास है । चित्त की स्थिति क्या है ? इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं -  
 चित्त की वृत्तियों का निरोध ही ज्ञान के उपरान्त निरुपद्रव्यवृत्तिक शांत चित्त ही चित्त  
 को वास्तविक 'स्थिति' है । चित्त की यह 'स्थिति' चित्त की 'स्वप्न' और 'निरुपद्रव्य'  
 भूमियों में होती है । इस स्थिति के लिए योग के साधनों का अनुष्ठान ही अध्यास  
 है । यत्नियमादि योग के साधन हैं जिनके अध्यास द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध  
 होता है और चित्त स्थिर होता है । इन साधनों का 'अध्यास' जब निरन्तर अव्यावृत्त  
 नियमपूर्वक, तपस्या और विद्या के साथ अर्थात् ज्ञान के साथ सादरतापूर्वक के साथ  
 किया जाता है तब वह अध्यास सुदृढ़ होता है अर्थात् ऐसा अध्यास व्युत्थान-संस्कारों  
 के द्वारा अभिभूत नहीं होता है ।

अपरवेदराश - चित्तवृत्ति-निरोध का द्वारा उपाय वेदराश है ।  
 वेदराश के दो वेदों का उल्लेख सूत्रकार ने किया है, अपरवेदराश और परवेदराश ।  
 अपरवेदराश में लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति वेदराश हो जाता है ।

1 - " विवेकस्य साधनानामपि पुनः पुनरनुष्ठानमध्यासः । "

- वास्तवी पृ० 45 f

2 - " वृत्तिकस्य = निरुपद्रव्य वृत्तिकस्य चित्तस्य या प्रशान्तवर्धिता  
 निरुपद्रवस्थायाः प्रवाहः सा हि मुखा स्थितिः, तदनुकूलैकाग्रवस्थाऽपि स्थितिः । "

- वही पृ० 46 f

3 - " दीर्घकालं यावत् आसेवितः = अनुष्ठितः, निरन्तर = प्रत्यहं प्रतिबन्ध-  
 मासेवितः, तपसा ब्रह्मअर्थेण अर्थेण विद्यया च सम्यक्चित्तः सत्कारवानध्यासः =  
 साकारसेवितः, - - - तदाकृतोऽध्यासो दृढभूमिर्भवति, अनुत्थानसंस्कारेण न हास्य =  
 सहसाऽभिभूयत गीत । "

- वही पृ० 46 f

जितने भी दृष्ट-अर्थात् लौकिक विषय हैं तथा अदृष्ट-अर्थात् अलौकिक विषय हैं उनके प्रति चित्त का आकर्षण बना रहना अवेराथ है और जब इन दोनों प्रकार के विषयों के प्रति चित्त में विद्वर्णा उत्पन्न हो जाती है तब वेराथ हो जाता है । अपरवेराथ के कई भेदों का उल्लेख प्राप्त है यथा - यतमानसंस्क-वेराथ, व्यतिरेकसंस्क-वेराथ, स्पेन्डिय और वशीकार-संस्क-वेराथ ।

इनमें से पूर्ण वेराथ की स्थिति का निरूपण वशीकार-संस्क वेराथ में ही होता है अतः वशीकारसंस्क वेराथ को अन्य वेराथों की प्रवेक्षा कीदृश उपयोगो मना गया है । इस संदर्भ में इन सभी वेराथों का स्व स्वरु वर्णनीय है । राग को उखाड़केने की चेष्टा को यतमानसंस्क वेराथ कहा गया है, कितने विषयों के प्रति वेराथ हो चुका है, अब और कितने रोष रह गए हैं, इस प्रकार की अवधारणा करते हुए वेराथ में लगे रहना 'व्यतिरेकसंस्क' वेराथ है - राग के शीघ्र हो जाने पर उत्कृतापूर्वक मन में स्फास हो जाना स्पेन्डियसंस्क वेराथ है, जब स्पेन्डियसंस्क राग का नाश हो जाता है तब वशीकार-संस्क वेराथ हो जाता है । वशीकारसंस्क वेराथ के उत्पन्न होने पर साधक के चित्त में विवेकों और प्रकृतियों की प्रथित तथा अन्य भी विषय-शक्तिव्य वस्तुओं के प्रति अनभौगोलिक प्रकृति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह इन सभी पदार्थों एवं उपलब्धियों को जैकतीत दृष्टता को देखकर उनको तुच्छ मानकर विरक्त हो जाता है । यही वेराथ अपरवेराथ के नाम से जाना जाता है ।

1 - " रागोत्पादनाय चेष्टमानता यतमानम्, केचुचिद्विषयेषु विरागा सिद्धः केचु चित्त साध्य इति यत्र व्यतिरेकभावधारणं तद् व्यतिरेकसंस्कम्, ततः परं पदेकेन्द्रिये मनसोऽक्षुब्ध मात्रेण शोभो रागविरम्यते तदेकेन्द्रियेण तावदापि रागो नासाद् वशीकारः विहृततीति । "

— भास्वती पृ० 47 ।

2 - " तुच्छतत्त्वगीतमती, हेयोपादेयस्यैतर्थाः । वेदुष्यावस्था वशीकारसंज्ञा, तत्त्वापरं वेराथम् ॥ "

— वही पृ० 48 ।

परवेराथ - जब विवेकध्याति द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेद जाना हो जाता है तब यह धन हो जाता है कि सभी लौकिक और अलौकिक विषय गुणों के ही स्वयत्त रथ हैं । अतः विवेकध्यातिलग्य साधक को इन सबके मूलकारण गुणों के प्रति वैराथ हो जाता है। गुणों के प्रति वैराथ ज्ञ होना ही परवेराथ है । परवेराथ की स्थिति में साधक का चित्त रजोगुण तथा सप्रोगुणयुक्त श्रुतियों से डीन होकर केवल पुरुषध्याति में लीन हो जाता है<sup>1</sup> इस अवस्था में चित्त के समस्त कषाय समाप्त हो चुके रहते हैं और साधक को केवल पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता रहता है । इस प्रकार 'जि ज्ञानात्मक स्थिति को ही 'परवेराथ' की सीमा ही मयी है । परवेराथ की ज्ञान की पराकाष्ठा भी कहा गया है क्योंकि ज्ञान की श्रुतिय सीमा 'पुरुषध्याति' है<sup>2</sup> । इस वैराथ में ही यह ध्याति होती है अतः परवेराथ को ज्ञान की पराकाष्ठा कहना सर्वथा उचित है ।

1 - " तत्र यदुत्तरं परवेराथं तद्गहनप्रसादमभिम् = ज्ञानस्य यः प्रसादश्चरमो-  
 कर्षो रजोनिशाम्महीनता, अतएव सत्त्वपुरुषाथताध्यातियन्त्रिता । "

-- भास्करे पृ० १० १

2 - " एवं ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराथं, नामन्तरीयकम् = अधिनशक्तिः । "

-- वही पृ० १०

चित्तवृत्तियों का निरोध विवेकज्ञान तथा चित्त की अव्यक्तस्वरूपता द्वारा होता है । ये दोनों अध्यास और वैराग्य द्वारा ही चित्तवृत्ति निरोध करने में समर्थ होते हैं । अतः अध्यास और वैराग्य विवेकज्ञान और चित्त की आत्यन्तिक स्वरूपता के प्रयोजक हैं । इन दोनों में से पहले अध्यास का स्वस्व द्रष्टव्य है । संशयान्त समीप की अवस्था में चित्त आश्रयितक रूप से स्वरूप और शाश्वत रहता है । चित्त की इस स्वरूपता और शाश्वति को दृढ़ करने के लिए इन अवस्थानों के अनुकूल प्रयत्न ही 'अध्यास' है<sup>१</sup> ।

चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा वृत्तियों के संस्कारों का निरोध करने के लिए समीप की दृढ़ता अनिवार्य है । अतः अनेकों संस्कारों का ह्य करने के लिए समीप की दीर्घकालीनता अपेक्षित है । चित्त पुनः-पुनः अध्यास द्वारा ही स्थिर होता है । अतः समीप की दृढ़ता के लिए, दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्ण अध्यास का अतिथन बाध्यमीय है । सत्कार का अर्थ 'शुद्धा' और 'अद्वय' उस व्याख्या में किया गया है ।

वैराग्य :- द्रष्ट-अद्रष्ट विषयों में राग का तर्काय होना ही वैराग्य है । इसके दो भेद किए गए हैं । (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य । अपरवैराग्य के पुनः तीन भेद किए गए हैं । एतन्मनसक वैराग्य, व्यतिरेकव्यक्त वैराग्य और स्फोर्भ्य-संस्क वैराग्य । पर-वैराग्य केवल एक प्रकार का होता है वह है अशीकरसंस्कवैराग्य ।

1- " चित्तवृत्तिनिरोधं प्रति विवेकज्ञानम् अव्यक्तस्वरूपचित्तस्वरूपस्या भेदव्युत्पत्त्यं प्रयोजकम् तत्र धोषदेतत्त्वाध्यागो वैराग्यचेतुषुष्यं कर्माः प्रयोजनीयंति ।"

— स्वामिनारायणभाष्य पृ० ८० F

2 - " तादृशवृत्तिसंश्लेषागतायस्याया दृढीकरणाय पुनः पुनरेकगतत्वस्थानुकूलः प्रयत्नरूप अध्यास-पदवाच्यः ।"

— वही पृ० ८० F



कामक्रोधादिकषायों से रागद्वेषलक्षित की इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों में प्रीत होती रहती हैं, उनकी इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रारम्भिक प्रयत्न यत्नमानसंज्ञक वैराग्य है । कितने चित्तकषाय तन्त्र हों चुके हैं कितने अभी अवशिष्ट हैं इस प्रकार के कषायों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें भी दश करने के हेतु प्रयत्न करना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । सभी चित्त कषायों के दश हो जाने पर और इन्द्रियों के विधिगत, असम्पत्कीर्ण हो जाने के उपरान्त मन में ही विद्यत रहते द्रुष्ट तथा कुछ समय परचात् मन के प्रति भी वैराग्य की भावना होनि पर स्फैन्द्रियसंज्ञकवैराग्य होता है । उक्त तीनों वैराग्यों में लौकिक-भ्रूलौकिक विषयों के प्रति तुष्णा का अभाव कथिचित् ही रहता है अतः इन वैराग्यों को अपरवैराग्य नाम दिया गया है ।

1 - " यत्नमानसंज्ञो यथा 'कामक्रोधादिकषाया रागद्वेषलक्ष्यविषयवर्तिनो यथास्व विषयेष्विन्द्रियाणि वैराग्येन तन्माप्रह्वर्तिभ्यत विषयेष्विन्द्रियाणीति रागद्वेषपरिपाचनाया प्रारम्भितप्रयत्नो यत्नमानसंज्ञकवैराग्यः ।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ० ४२४

2 - " इत्येवं पक्षे चोऽपश्चानां व्यतिरेकेणाऽवलोकनमनुत्तयायाऽपश्चानां परिपाच-  
नायाऽनुष्ठितप्रयत्नो व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य इति ।"

— वही पृ० ४२४

3 - " सर्वेषु चित्तकषायेषु पक्षेषु प्ररक्तऽसाभ्यर्थैर्निष्पत्तां प्रवृत्त्यसम्पत्तेऽपि पश्चात्ते मनश्चेव स्वस्वस्याऽवस्थानमत्रिण तितरोवाचतया सूक्ष्मत्वेन संस्थिताः सन्तो मनश्चेव विषयोक्तुष्यसम्पत्ता इवमित्येन मनश्चेवावहृत्परस्त्रो विषयोऽवकारो इवति तस्यापि विनायाय कृतप्रयत्नः स्फैन्द्रियसंज्ञक वैराग्यो ।"

— वही पृ० ४२४

परवेराथ :- वहीकारसंज्ञक वेराथ को ही इस व्याख्या में 'परवेराथ' कहा गया है। इस वेराथ में सौमिक और अतौमिक विषयों के प्रति आध्यात्मिक चित्तवृत्त उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप सुख, दुःख और मोहसंज्ञक त्रिगुणों के प्रति भी वेराथ हो जाता है। इसके अतिरिक्त बुद्धि जितका रस त्रिगुणात्मक ही है उसके प्रति भी चित्तवृत्ति होती है। इस प्रकार विषयों से सम्पर्क बनाने वाले साधन 'बुद्धि' तथा त्रिगुणात्मक विषयों के प्रति आध्यात्मिक वेराथोक्त के कारण इस वेराथ को परम वेराथ कहा गया है। परवेराथ का उदय होने पर साधक अपने स्वच्छ आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है और अन्त में परम कैवल्य को प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है।

। - " समुर्थे वेराथे तु - सौमिकसौमिकविषयवृत्त्यात्मन्तामथितौ सुखदुःखमोहसंज्ञकेषु बुद्ध्यात्मसौमिकेषु चित्तवृत्तौ प्रवृत्तौ । बुद्ध्यात्मि चित्तवृत्तिरिति, अतस्त्वत्तुर्थाः परमो वेराथ इति । "

### समाजशास्त्र

\* चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है । इस परिभाषा के अनुसार संन्यास और असमाज्यता समाधिवादी दोनों ही 'योग' कही जा सकती हैं । समाज्यतायोग में चित्त के क्रोध, कामादि का निरोध होता है । समाज्यतासमाधि निरोधरक्ष समाज्यता-समाधि को अभिमुख करती है ।

समाज्यतासमाधि -- समाज्यतासमाधि में चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल चित्त की सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है । चित्त की रजसाभूमि में ही राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, अतः रजसाभूमि में हुआ वृत्तिनिरोध ही समाज्यतासमाधि है । समाज्यतासमाधि केशवों को नष्ट करती है और असमाज्यतासमाधि को सम्पन्न नाती है । इस समाधि में साधक को अपने ध्येय का सम्बन्धान या सम्बन्धान प्राप्त होता है । अतः इस समाधि का नाम 'समाज्यता' समाधि है । समाज्यतासमाधि की सिद्धि चार क्रमिक सोपानों में होती है । (1) चित्तकर्तव्यनुगत, (2) विचारानुगत, (3) ज्ञानानुगत और (4) अभिमतानुगत ।

चित्तकर्तव्यनुगतसमाज्यतासमाधि में साधक का चित्त स्कूलभूतों के ज्ञान से पूर्णतया आकर्षित रहता है । उसे उन स्कूल पदार्थों का पूर्ण तथा वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता रहता है । चित्त की इस स्थिति का नाम चित्तकर्तव्यनुगतसमाज्यतासमाधि है ।<sup>2</sup>

1 - "धस्तोकाग्रे येतीति सद्वृत्तमर्थं प्रयतोत्यति; क्रियते च क्रियते, कर्मवन्धनामिह संशयति, निरोधमीवमुक्तं करोति स संशयतो योग इत्युच्यते ।"

— समाजशास्त्र पृ० 17

2 - "चित्तकीचिन्तनस्यालम्बने स्कूल ज्ञानयोगः ।"

— पृ० 54

विचारानुगतसम्भवात्समाधि में चित्त सूक्ष्मबलानुगतों के अकार से पूर्णतया आकर्षित रहता है । ज्ञानानुगत-सम्भवात्समाधि में चित्त स्फाटा ज्ञानस्वस्वरूपिणियों के अकार से पूर्णतया अनुगत हो जाता है । अस्मितानुगत सम्भवात्समाधि में साधक को बुराप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि रश्मि अस्मितात्स्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है । इसमें प्रथमसमाधि भाव की तीनों समाधिओं से युक्त होती है, द्वितीय अवस्था भाव की दो समाधिओं से युक्त, तृतीय अवस्था भाव एक समाधि से युक्त और चतुर्थ केवल अवस्था भाव में रहती है । यह सभी समाधियाँ सहात्म्य होती हैं ।

### सत्यवैशारदी

सम्भवात्समाधि चित्त की स्फाटा क्षीम में होती है । यह समाधि विविधविषय के लक्ष्य तथा कर्मरूपी वस्तुओं को विचित्र कर ज्ञानानुगतसमाधि को सम्मुख करती है । सम्भवात्समाधि के चार अभिन्न सोपान हैं । (1) चित्तवैशारदानुगत (2) विचारस्थानुगत (3) ज्ञानस्वस्थानुगत (4) अस्मितास्थानुगत ।

अस्मितास्थानुगतसमाधि परमात्म्य है । अज्ञान विषयों का साक्षात्कार प्राप्त होने पर चित्त का पूर्ण स्वरूप से स्फुट विषय के अकार का हो जाना चित्तवैशारदानुगतसम्भवात्समाधि है । चित्त का सूक्ष्म तन्मात्राओं के अकारसे आकर्षित होते

। - " सर्व एते सहात्म्यनाः समाधयः । "

रहना विचारस्थानुगतसम्भवात्समर्थित है । अस्वप्रधान अङ्कार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियां ही सुखस्थ हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियों में चित्त का आभोग या तथाकाराकारित होना ज्ञानस्वस्थानुगतसम्भवात्समर्थित है । बुद्धि में उपस्थित पुरुष प्रतीचक्ष्य ही 'अस्मिततत्त्व' है । जब सम्भवात्समर्थित काल में चित्त उक्त अस्मिततत्त्व के अङ्कार से पूर्णतया अनुगत होता रहता है, तब 'अस्मितस्थानुगत' सम्भवात्समर्थित होता है ।

### राजमार्तण्डकृति

सौर्य और विषयों से रहित होकर अशक्त प्रकार का ध्येय के स्वस्थ का प्रकृत ज्ञान जिन समर्थित में होता है वह सम्भवात्समर्थित है । सम्भवात्समर्थित के चार भेद हैं । सचित्तक, सविचार, ज्ञानस्व और ससिमत ।

जब स्थूल विषय जैसे पंचमहाभूत तथा स्थूल इन्द्रियों के पूर्वपर अनुत्पन्न द्वारा तथा शब्दिक और अधिकाधिक विज्ञानेक्षण द्वारा उनके चित्त में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उक्त तत्त्व में भावना की जाती है तब उन पदार्थों का साक्षात्कार होने लगता है । यही सचित्तक समर्थित है । सम्भवात्समर्थित तथा

1 - " एवं चित्तस्थानुत्पन्ने सुखे आभोगस्य स्थूलकारणकृतसुखमप्यतन्मात्रं तिरङ्गीर्य विषयो विचारः । " - त0वे0पृ0 54 F

2 - " इन्द्रिये स्थूलात्मने चित्तस्याभोगोऽह्लाव ज्ञानस्वः । " - वही पृ0 54 F

3 - " अस्मितत्वापभवान्निन्द्रियाणि । तेनेवमस्मितं सुखं यस्मै । सा चात्मना मन्वीषा सह बुद्धिरेकस्मिन् सति । " - वही पृ0 55 F

4 - " अशक्तसौर्यविषयपरिहितत्वेन प्रकाशते प्रकर्षेणैव चित्तस्थेन स्वस्थे ध्येयं स संप्रकाशः । " - त0वे0पृ0 54 F

5 - " यदा महापुत्रेन्द्रियाणि स्थूलाणि विषयत्वेनाऽऽप्य पूर्वपरानुत्पन्नेन सम्भवात्समर्थितेन सत्येवैव च भावना क्रियते तथा सचित्तकः समर्थितः । " - वही पृ0 41 F

अन्तःकरण रश्मि-समीपवत् को ज्ञानमय्यन मानकर देखा, कस्त और धर्म लीकत जब भावना की जाती है तब सविचार-समाधि होती है<sup>1</sup> । जब चित्त रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर सात्त्विक रश्मि में भावना करता है तब सत्त्वप्रकृतिसंघम्य चित्तस्थित के ध्यान से चित्त 'ज्ञानम्ब' को प्राप्त होता है । इस समय की समाधि को 'ज्ञानम्ब' समाधि कहा गया है<sup>2</sup> । व्याघ्रहकार भौत ने 'महत्तत्त्व' को 'सिद्धिमत' मना है । जब चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्त्विकवृत्तिसोप रह जाती है । इस शुद्धवत्त्वगुण के प्रकृत से पकृतिस्थित में जब केवल महत्तत्त्व की ही वस्तु ज्ञानमय्यनरश्मि से रह जाती है, तब इस सम्प्रकृतसमाधि को साक्षिमत-व्यस्यमत-समाधि कहते हैं<sup>3</sup> । साक्षिमत-सम्प्रकृत समाधि कस्त में चित्त में केवल पुरुष का प्रतिबिम्ब ही अवधारित होता रहता है<sup>4</sup> ।

1 - " तन्माभ्यन्तःकरणस्य रश्मिसमीपवत्तस्य तस्य वेत्तकालधर्मावशेनेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः । " रा० भा० पृ० ४१

2 - " यदा तु रजस्तमोत्तमानुविद्युपन्तःकरणस्य शब्दते तदा गुणभावस्थिति-स्थितेः सुखप्रकृतिस्य सत्त्वस्य शब्दमन्त्रोत्प्रेकात् ज्ञानम्बः समाधिर्भवति । " - वही पृ० ४१

3 - " ततः परं रजस्तमोत्तमानुविद्युत् शुद्धवत्त्वयानम्वीकृत्य यदा प्रवर्तते भावना तर्था ग्राह्यस्य सत्त्वस्य व्याप्यात् चित्तस्थितेरेकेणत् सत्ताम्प्रभावोपक्षेपेन समाधि साक्षिमत इत्युच्यते । " - वही पृ० ४१ ।

4 - " न चाहङ्कारसिद्धिमतयोरेवः शक्तिनीधः यतो यन्मन्त्रकरणमङ्गीकृत्यतेष्वेन विषयान् लेखते सोऽहङ्कारः यन्मन्त्रमुक्तया प्रतिलोमपरिभासे प्रकृतिसंज्ञे येतसि सत्तामन्त्र-मन्वर्तित साक्षिमतः । " - वही पृ० ४१ ।

## विचार

सम्प्रदायसमाधि चिन्त की स्वरूप श्रुति में होती है । यह ध्येयवस्तु अर्थात् वास्तविक स्वस्थ का ज्ञान कराती है और श्रियव्यापी कोशों, कर्म से उत्पन्न अमर्त्य अन्धन को विधित करती है और निरोध रूप असम्प्रदाय-समाधि का श्रियमुख करती है । चित्तकर्तृनुगत, विचारानुगत, ज्ञानानुगत और श्रियमतः स्थानुगत के भेद से सम्प्रदायसमाधि के चार भेद किए गए हैं । यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'रस' शब्द का प्रयोग इन्ड्रेनि केवत् 'श्रियमतःस्थानुगत' समाधि के साथ ही किया है, पूर्वोक्त तीन समाधियों के साथ 'रस' शब्द का प्रयोग नहीं किया है । 'रस' शब्द यहाँ 'गन्ता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।<sup>2</sup>

यहाँ चारों प्रकार की सम्प्रदाय समाधियों का उल्लेख किया जा रहा है । जब चित्त स्थूल जलम्बन के आकार में आकर्षित हो जाता है तब चित्तकर्तृनुगत-सम्प्रदायसमाधि होती है । जब सूक्ष्म जलम्बन का प्रयोग साक्षात्कार चित्त हो जाता है तब विचारानुगत-सम्प्रदाय-समाधि होती है । जब विचारानुगत से भी सूक्ष्म जलम्बन का प्रयोग होता है तब ज्ञानानुगत-सम्प्रदायसमाधि होती है । यद्यपि ज्ञानानुगतसम्प्रदायसमाधि भी सूक्ष्मव्ययक होती है परन्तु इस समाधि में, पूर्व की

.....

1 - " स्थायता श्रुते समाधिर्थाः स श्रुतमर्षं यथात्मनः प्रत्योन्वयति अत्रगमयति ।  
 - - - - - क्रियते, सपयति पंचपर्यवेष्टीयव्यापीन् कोशान् । कर्मव्यन्यानि, कर्मव्येव  
 व्यन्यानि, धर्माधर्मिभिम कर्मनातानि अन्धाधि निवन्धनानि सपयति, सिधितो करोति  
 निरोधमाधिमुखो करोति ।"

विचारण ५० ६ १

2 - " चित्तकर्तृनुगमिद्विचारानुगमाज्ञानानुगमाद-विमतः स्थानुगमतीति । स्थायते  
 मन्त्रार्थो चित्तकर्तृद्विपूर्वधर्मवर्जित लक्ष्यापनार्थः ।"

— पृष्ठी ५० ४७ १

समर्थि को तुलना में एक वैशिष्ट्य निहित है और वह है ज्ञानम्ब का आश्रित होना<sup>1</sup>।  
 यौथी और अंतिम सम्प्रदाय-समर्थि है, 'अस्मितास्वानुगत' - सम्प्रदायसमर्थि ।  
 'अस्मितायोऽस्मिता' इति मन्त्रे हुए विवरणकार ने अस्मिता शब्द को अहंकार<sup>2</sup> के  
 अर्थ में लिया है । जब अहंकार मात्र ही चित्त में प्रकृत होता है तब, 'अस्मिता-  
 स्वानुगत' सम्प्रदाय समर्थि होती है<sup>3</sup> । इस समर्थि में, 'अहंकारमात्र' ही केवल  
 प्रकृत होता है अतः इस समर्थि के साथ 'रक्ष' शब्द का प्रयोग लिया गया है ।  
 इन चारों समर्थियों में से प्रथम समर्थि बाद की तीनों समर्थियों से अनुगत रहती  
 है । दूसरी अपने बाद की दो समर्थियों से और तीसरी समर्थि अपने बाद की  
 रूपर समर्थि से अनुगत रहती है और अंतिम अर्थात् यौथी समर्थि केवल अपने  
 रक्ष मात्र से अनुगत रहती है । अतः यौथी सम्प्रदाय समर्थि के साथ 'रक्ष' शब्द  
 का प्रयोग उसके स्वस्थ के अनुसर विवरणकार ने ठीक ही किया है ।<sup>3</sup>

1 - " ज्ञानम्बो ह्युवाच विचारः सुहृत्तर माभोग्गनुतीयः । "

-- विवरण पृ० 47 f

2 - " एकस्मितास्मिता यौथीस्मिता रक्षया प्रकृतस्मिताया समापन्वय  
 अस्मिता प्रत्ययमात्रता एकस्मिताय कत्वम् । "

-- वही पृ० 47 f

3 - " तत्र पूर्वः पूर्वः स्वकीयोत्तरोत्तरचर्मानुगतः । परः परस्तु पूर्वपूर्वार्थम-  
 विफलः । "

-- वही पृ० 48 f



योगवार्तिक

सम्भवात्समाधि चित्त की स्फाप्रभृति में होती है । इस समाधि में ध्येयवस्तु के परमार्थतः सत्यस्वरूप का साक्षात्कार होता है । यह समाधि अधिष्ठातिक पाँचों क्षेत्रों को मष्ट करती है तथा धर्म-अर्थात् रूप कर्मावयवों को जिनसे बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है विधिल कर देती है । सम्भवात्समाधि ही निरोध रूप असम्भवात्समाधि को सम्बुद्ध करती है । इस प्रकार सम्भवात्समाधि का लक्षित्य कर्षण यह है कि जिस समाधि में ध्येय के स्वरूप का सत्यप्रकरण ज्ञान हो अर्थात् साक्षात्कार हो, उसे सम्भवात्समाधि कहते हैं । सम्भवात्समाधि के चार सोपानों का कर्षण वार्तिककार ने भी किया है । तत्त्ववेत्तारथीकार ने इन चारों नामों में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है यथान्वितकस्थानुगत, विचारस्थानुगत, ज्ञानम्बुस्थानुगत, और त्रिभुजास्थानुगत । वार्तिककार इस 'रूप' शब्द के प्रयोग को अनवश्यक एवं प्रमादिक कह कर इसको उपेक्षा करते हैं । उनका कहना है कि " अत्रस्थानुगामीवैत पराः प्रमादिकत्वादुपेक्षनीयः शब्दे चित्तक-विकृतः सविचार इत्यादि प्रयोगेषु रूप-पवापयोगात् । " -- योगयोग 32 f

योगिनः, विराट्, चतुर्भुजादि पदार्थों में से किसी भी एक को ज्ञानम्बुन रूप में लेकर उसमें स्फाप्रचित्त होकर भावना करनी चाहिए । यहाँ स्मरनीय है कि चारों सम्भवात्समाधियों में आयोग के लिए अर्थात् परिपूर्ण तन्म के लिए चित्त की स्फाप्रता अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त एक ही ज्ञानम्बुन के रूत सूत्र पदार्थों का आयोग होता है । सूत्र का आयोग जिस समाधि में होता है उसे चित्तस्थानुगत-सम्भवात्समाधि कहा गया है । इसमें चारना ध्यान और समाधि द्वारा

.....

। - " स्फाप्रकारत्वात्कृत्वा आयोगः परिपूर्णता, स्थूलयोनिस्त्रययोरुपस्था श्रुतगता-  
 रोप कियोपतासाक्षात्कारः सचित्तक इत्यर्थः । "

" त्रिभुजात्कथंयच्चत्वारणं चित्तकस्थानुगतो युक्तो निरोधो चित्तस्थानुगत-नाम  
 योग इति भावः । " योगयोग 33, 36 f

चित्त स्थूल विषय का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है । पुनः धारणाध्यान और समीप द्वारा उसी ज्ञानमन में स्थित सूक्ष्मतन्मात्रों का भाषेय प्राप्त करने पर जो समीप होती है, उसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समीप कहते हैं<sup>1</sup> । धिक्तामिषु का सिद्धान्त ज्ञानानुगत के संबन्ध में वाचस्पति मित्र से विन्म है । वाचस्पतीयक ने "सत्वप्रधान ब्रह्मणर से उत्पन्न भेदेनिश्चयं सुखस्य है" ऐसा माना है । बार्त्तिककार ने इसका हल्लन किया है और निष्ठा है कि इन्द्रियों स्थूल है ततः स्थूल का भाषेय तो चित्तानुगत में ही जा गया । पुनः ज्ञानानुगत में उनका महण करना दोषपूर्ण है । इनको दृष्टि में इस समीप का ज्ञानज्ञान यह 'सुख' होता है जो उसी ध्येय विषय के स्थूल और सूक्ष्मद्वयों का साक्षात्कार करने से स्वतः अनुभूत होता है इस सुखीवरोध का भाषेय होने पर ज्ञानानुगत-सम्प्रज्ञात-समीप होती है<sup>2</sup> । पुरका और सुख की एक स्वता को इन्होंने 'अभिमत' माना है । जब चित्त ध्येय स्थ में केवल ज्ञान का साक्षात्कार करता है, तब अभिमतानुगत-समीप होती है । उक्त सभी समीपयों ज्ञानमन होती है । क्रम से चित्तक विचारों से युक्त, विचार विरक्त रहित और वाच ज्ञानों से युक्त, इतो प्रकार ज्ञान भी ज्ञाने एवं से विद्युक्त तथा परचात् से युक्त होती घतती है<sup>3</sup> ।

1 - " सूक्ष्मविचार इति । तत्रेवज्ञानने कारणात्तादेनाऽनुगता के प्रकृतिमहवहकारपक्षतन्मात्ररक्षा भूतेनिश्चययोः सूक्ष्मा अर्थास्तुवाकार त्वात्सूक्ष्मो यतीवस्तथापौगः सूक्ष्मगता-धीमिवरोधप्रसावात्कारः स विचार इत्यर्थः । "

योऽथोवा पृ० 56

2 - " तथा धीन्द्रियकारकबाधितनिश्चयस्यो यत्चित्तस्थायौगः । साक्षात्कारः स तानन्द इत्यर्थः वधति । "

- वही पृ० 56 f

3 - " या चित्तस्थ केवलपरम्भाकारा सतिन् साक्षात्कारोऽस्मिन्नेतान्माना कारणाद-चित्ततेत्यर्थः । - - - तेवानुगतौ युक्तौ मिरोद्योऽभिमतः सुखतनामा योऽगतीत भावः । "

- वही पृ० 56 f

### योगवीथिका

सम्बन्धतसमाधि में ध्येय विषय का सद्यक् ज्ञान प्राप्त होता है । सम्बन्धतसमाधि के चार्लिकांशानुसारी चार भेद किए गए हैं । (1) चित्कर्तृनुगत सम्बन्धतसमाधि (2) विचारानुगत (3) तन्मन्वानुगत और (4) अस्तिमानुगत-सम्बन्धतसमाधि । चित्त को राजस, तामस कृत्तियों का निरोध हो जनि के उपरान्त कि तो भी स्मृत्यवर्ष को ध्येय मानकर पहले उसे ध्येय के स्मृत्यवर्ष का विशेष साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है । किन्तो भी पदार्थ का स्मृत रूप श्रुतेन्द्रियात्कर होता है । अतः यदि चतुर्भुजाधि रूप ध्येय को अज्ञानमान माना जाता है तो उसके स्मृत्यवर्ष का अर्थ अर्थात् पूर्णसाक्षात्कार चित्कर्तृनुगत सम्बन्धत समाधि है । पुनः उसी ध्येय के सूक्ष्मरूप का परिपूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करने पर विचारानुगत-सम्बन्धत-समाधि होती है<sup>1</sup> । प्रकृति, महत्, अज्ञकार और तन्मात्राएँ ही किन्तो भी स्मृत पदार्थ के सूक्ष्मकारण है । इन सूक्ष्मवर्षों का परिपूर्णसाक्षात्कार प्राप्त होने पर ही विचारानुगत-समाधि होती है ।

जब उक्त अज्ञानमान के शीघ्रियों तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब सभी विषय सुषों के प्रति वैराग्य हो जाता है । इस वैराग्य के होने पर चित्त को सुख नहीं प्रकृत आनन्द की प्राप्ति होती है । इस समय के ज्ञानन्द से अनुगत

1 - " एक विमन्नेष चतुर्भुजाधिव्यभिदसमीभित्तसंघातस्तत्तान्मे चतुर्भिर्धः सम्बन्धतः क्लेशेन शक्ति । तत्र श्रुतेन्द्रिययोरधुतामतरोभिधोभ्रसाक्षात्कारोवित्कर्तृ परिभाषा । "

- योगवीथिका पृ० 13 f

2 - " सूक्ष्माद्यर्थास्तद्गततरोभिधोभ्रसाक्षात्कारो विचारसंघा । तेन ध फेनेनोपहितविषयत्ववृत्तिनिरोधो विचारानुगतः । "

- यही पृ० 13 f

समाधि को ही ज्ञानवानुगत-सम्प्राप्तसमाधि कहा गया है<sup>1</sup> । ज्ञानवानुगत-सम्प्राप्तसमाधि में स्थित चित्त का योगजीवित्वों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति भी वैराग्य ही जाता है । उसी ज्ञानमन में जब जीवेश्वररश्मि पुरुष का ही साक्षात्कार होता है तब त्रिभिन्नानुगत सम्प्राप्तसमाधि होती है<sup>2</sup> ।

### पारंजितयोगसूत्रवृत्ति

'मध्य' के स्वल्प का अर्थ ज्ञान जिसतः समाधि में होता है उस समाधि को सम्प्राप्तसमाधि कहते हैं । माणोजोमट्ट ने सम्प्राप्तसमाधि के चैतन्यरानुसारी चार चैतन्यकार किए हैं । सचित्तक, सचिदार, सानन्द और ससिद्धि । सम्प्राप्तसमाधि के इन चारों चैतनों का उल्लेख वाक्यांश के कौटिल्य चिकित्स को ध्यान में रखते हुए किया गया है । सबसे पहले साधक मध्य के 'स्यूल' रूप का साक्षात्कार प्राप्त करता है । इन्द्राक्ष का साक्षात्कार प्राप्त करने वाली समाधि को सचित्तक-सम्प्राप्तसमाधि कहा गया है<sup>4</sup> । इस समाधि में साधक को साधन के ज्ञानमन रूप के स्थूलरूपों तथा महाकूटोन्मिष का ज्ञान विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है । उस ज्ञान में मध्य के क्षीण, अनगत और वर्तमान कौटिल्य गुणधर्मों का ज्ञानसाधन के द्वारा होता है । सम्प्राप्तसमाधि के ही सचित्तक और सचिदार नामक चैतन्य ही हैं जिनका उल्लेख समापितियों के कर्म में किया गया है ।

1 - " तथा तत्रैवातमने यच्चतुर्धर्षिततत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽपि तद्गतश्लेषविरोधसाक्षात्कारे ज्ञानम्यसता । तेन च फलेनोपीडितैश्चतसृस्तीन्द्रोप ज्ञानवानुगतः । "

- योगदीपिका पृ० 13 f

2 - " तथा तत्रैवातमने जीवेश्वररश्मि पुरुषम्बुधमसि तदन्तरश्चरति विरोधसाक्षात्कारे त्रिभिन्नतत्त्वात् । "

- योगदीपिका पृ० 13 f

3 - " मध्यं त्रैविधियपर्यं राट्टित्येन प्रसाधते प्रकर्षणं ज्ञाने भाग्यस्वरूपं देन स प्रजातसमाधिः वाचनविशेषात् । स सचित्तकः स चिदारः सानन्दः ससिद्धिश्च । "

- पारंजितयोगसूत्रवृत्ति पृ० 14 f

4 - " तत्रातमने स्थूलयोर्महाकूटोन्मिषयोर्विषयमानानामनेष्विदेषामामतोत्तानगत-वर्तमानव्यवहितविकल्पव्युत्पत्तौ गणवोभाषासु बुद्ध्यानुगतमज्ञानात्प्राप्तं पदार्थानुसंधानेन शब्दार्थो-त्पत्तेन च वाचनार्थं यः साक्षात्कारः स चित्तक इत्युच्यते । "

- वही पृ० 14 f

जब उसी ब्रह्मन्मन में उसके स्वप्न ज्ञान को व्यापकर, ब्रह्मन्मन के मुख्य कारण का चारणाविषय द्वारा सशब्द ज्ञान प्राप्त होता है तब सविचार-सम्पन्न-समाधि होती है । तन्मन्त्रादौ, शक्तिकार और प्रकृतिये भूतेन्द्रियों के मुख्य कारण हैं जिनका सशब्दज्ञान इस समाधि में प्राप्त होता है । इस समाधि के भी दो पैरों सविचारा और निर्विचारा का उल्लेख समाधितियों के वर्णन में किया गया है ।

उसी ब्रह्मन्मन में पूर्णभूत ब्रह्म, मुख्य के लक्षण कर दोषान्तों तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो सुख होता है उसे ज्ञानन्द कहा गया है । ज्ञानन्द की अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय में अन्वेष हो जाता है और अन्तः सानन्द्य-सम्पन्न-समाधि में स्थित हो जाता है । सानन्द्य-सम्पन्न-समाधि में सात्त्विक-ब्रह्मन्मन की उपलब्धि होती है । किसी भी प्रकार के विषयसुखों के प्रति तथा योगजीसिद्धियों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति कोई मोह या लोभ नहीं होता । इन विषयसुखों तथा योगजीसिद्धियों से प्राप्त सुखों के प्रति वैराग्य हो जाने से मन को जो सम्लोभ सुख-मित्रता है दर्शायतः वही ज्ञानन्द है ।<sup>2</sup>

जब ज्ञानन्द के प्रति की बोधवृष्टि हो जाती है तब माद्यन् पुरन्ध के वास्तविक रस का ध्यान करता है । पुरन्ध के दर्शय रस के लक्षण से आकारित हो जाता

1 - " ततस्तत्रैवात्मन्यने बोधवशनेन द्रव्यकार-दुष्टि" त्वन्मा कारणत्वेनानुगतौ ये तन्मात्रादौकार प्रकृतिसहा भूतेन्द्रिययोः मुख्यं अर्थास्तिभु क्त्वेन चारणाविषयेण दस्त-द्वगतप्रोक्ष्यश्रीषी साक्षात्कारः स सविचारः ।" - पर०यो००५०पृ० ५० 14

2 - " ततस्तत्रैवात्मन्यने तामिधि दुष्टि" बोधवशनेन त्वन्मा धनुर्धिततत्सा अनुगतसुख-रसपुरन्धर्धे चारणाविषयेण पूर्वधवर्षाविरोधतः सुखाकारः स ज्ञानन्दः ज्ञानधेयवोर-विदोषचारात् तदुपश्रिताः सानन्दः ।" - वही पृ० 14 f

ही अभिमत है । तस्मिन् सम्प्रसात्समधि को वाक्य की परामर्शवार्य और धर्मिय समधि की परामर्श कडा गया है । क्योंकि तभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाने के बाद जीवेश्वर का साक्षात्कार ही अन्तिम शान तथा उपलब्धि है ।

### मधिप्रका

चित्त की स्फुटता में रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में सात्त्विकवृत्ति शान्त रह जाती है । यह सात्त्विकवृत्ति-विरोधवशात् चित्त श्रेय के वास्तविक अर्थ का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करता है । ऐतत्तौ और कर्म के ध्यान को क्षीण करता है और निरोध रस असमाप्त समधि को सम्पन्न करता है । इस समधि को ही सम्प्रसात्समधि कहा गया है<sup>2</sup> ।

मधिप्रकार ने सम्प्रसात्समधि के चारों द्वारों की वही संज्ञा निरिचय की है जो भोजरान ने की थी । और उनका लक्षण क्रमशः वही दिया है जो वाचस्पतीमिश्र ने दिया है । संश्रुतयोग दे, चारु<sup>से</sup> चतयि गए हैं । — (1) सविदर्क (2) सविचर (3) सानन्द और (4) सधिमत । इन चारों का वैदिक लक्षण यह है कि

-----

1 - " तत्रैवात्मने जीवेश्वरस्य यत्पुरुषवक्ष्यमस्ति तदन्तरस्य सुदृढत्वमात्रं स्वयं जडेभ्यो विवेकेन य आत्मकारः साक्षात्कारः सोऽस्मिन् । "

— पाठयोगसूत्र १७

2 - " स्फुटौ तु सत्त्वप्रधाने स्फुटिव्यवधिनिवृत्ते रजस्तमोगुणानिरोधः सात्त्विकवृत्ति-विरोधः मधिप्रसात्योगो भवति । "

मधिप्रका पृ 2 f

कर्मणः वितर्क, विचार, ज्ञानम् और अभिमत के स्वस्वों के साक्षात्कार से अनुगत होकर यह चारों संप्रदाय के देव परस्पर विम्वस्त्र में स्थित होते हैं । शास्त्रप्रमाणिक सूत्र परार्थ के साक्षात्कार को 'वितर्क', पंचतन्मत्रादि सूक्ष्मवार्थों के साक्षात्कार को 'विचार', इन्द्रिय के साक्षात्कार को 'ज्ञानम्' और गरीता पुस्तक के साथ एकीभूताबुद्धि के साक्षात्कार को 'अभिमत' कहते हैं । अभिप्रमाणात्कार ने इसी एतंग में मौज्जुलि के अभिमतविषयक सिद्धान्त का सङ्ग्रह भी किया है और 'आश्रित' विषयक अपने सिद्धान्त को मान्य ठहराया है ।

- 1 - " स्मृतमेव शास्त्रप्रमाणिकं ध्यानेन साक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो " वितर्क " " तस्य सूक्ष्म कारण पंचतन्मत्राधिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो " विचारः " " इन्द्रियाणि स्थूलानि पञ्चात्मव्याप्त्यर्थमाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार " ज्ञानम् " " तत्र स्थूलं च माहुरीभिन्द्रियाणि मुह्यन्ति अभिमतान्त्रयो गरीता तेषु गरीतुं महत्त-  
माहुरेषु ध्यानपरिपाकः सम्प्राप्तौ योगः "

— अभिप्रमाणात्कार पृ० ११

- 2 - " मौज्जुलौतु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्तवा, तन्मयेषु सविचारमुक्तवाऽहङ्कारे साम्बो, महत्तत्त्वे सविमत इत्युक्तम् १ "

— वही पृ० १०

योग सूत्रार्थवेदीयनी, योगीय दृष्टान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में भी सम्प्रदायसमर्थ के चार चैदों का उल्लेख किया गया है । सम्प्रदायसमर्थ के चार चैदों का नाम इस प्रकार से दिया गया है । चित्तसिद्धसम्प्रदायसमर्थ, विचारसम्प्रदायसमर्थ, आत्मव्यवहारसम्प्रदायसमर्थ और अस्मितासम्प्रदायसमर्थ । इन व्याख्याओं में इन चैदों के नाम के साथ 'अनुगत' शब्द नहीं लगाया गया है परन्तु इससे अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आता है । चित्तसिद्धसम्प्रदायसमर्थ में स्थूल-विषय का ध्यान किया जाता है । इस समर्थ में श्लेषविषय वस्तुर्भूत विषय विषय होते हैं । 'चित्तसिद्ध' शब्द का शाब्दिक विभक्त्यर्थ योगीय दृष्टान्तचन्द्रिका में इस प्रकार से किया गया है -- 'विशेषण तर्कगीत व्युत्पत्तेः' । स्थूल-वृत्तों का कारण अस्मिताकार, अहंकार, माहत् और अव्यवहारिक सूक्ष्म श्लेष-विषय है जिसका साक्षात्कार 'विचारसम्प्रदायसमर्थ' में होता है । विचार शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की गई है :- 'विशेषण सूक्ष्मपर्यन्तं चरणीगीत व्युत्पत्तेः ।' इस समर्थ में चित्त हो जाने के उपरान्त बुद्धि को प्रकृतता कह्य जाती है और प्रकृत बुद्धि का आस्तित्व से साक्षात्कार होने पर 'आत्मव्यवहारसमर्थ' होती है । महीता पुरुष के साथ बुद्धि का स्वीकृत हो जाना 'अस्मितासम्प्रदायसमर्थ' होती है । इन चारों समर्थियों से जब चित्त अज्ञ हो जाता है तब चित्त को श्लेष-विषय का तत्त्व-तत्त्व प्राप्त होता है । समर्थ की इन शब्दों विशेषों को ही 'सम्प्रदाययोग' कहा गया है ।

- 1 - " प्रथमं भावनविषयव्यतिरेकतः साक्षात्कारो चित्तः । "
- योगीमठ १० पृ १९ १
- 2 - " स्थूलकारणपर्यन्तं अस्मिताकारमाहंकारमाहंकारसूक्ष्मसाक्षात्कारो विचारः । "
- पृ १० पृ १९ १
- 3 - " तत्तदोहात् सत्त्विकप्रकृतेर्जगदमलाह्लादक साक्षात्कार आत्मव्यः । "
- पृ १० पृ १९ १
- 4 - " सा महीतैकीकृतानिमित्ततद्बुद्धये । तद्विषयकसाक्षात्कारोऽप्यस्मिता । "
- पृ १० पृ १९ १



निरन्तर अध्यास और वेदव्य से स्थित प्राप्त व्यापकचित्त में जो प्रथम उत्पन्न होती है उससे पुनः समीप ही सम्भ्रान्तयोग है । चित्त की विषय, विधिप्रत्य और मूढभूमियों में हुई समीप सम्भ्रान्तसमीप नहीं है क्योंकि ये निष्कल स्व सम्भ्रान्त-रीडल होती है । समीपियों केवल समीपियों हैं, इनमें चित्तवृत्ति निरोध स्वल्पकालिक होता है । सम्भ्रान्तसमीप चित्त की व्यापकचित्त में होने वाली समीप है। यह समीप, समीप और योग दोनों हैं, सम्भ्रान्तयोग में चित्त ध्येयविषय का आश्रय या परिपूर्णज्ञान प्राप्त करता है । अज्ञेय का अर्थ परिपूर्णज्ञान है । सम्भ्रान्तसमीप चार प्रकार की होती है । (1) चित्तकान्तुगत (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत और (4) अभिमतानुगत । स्पष्ट ही ये नैव वहीतककार की शब्दावली का अनुसरण करते हैं ।

शून्य विषयों के आश्रय से अनुगत समीप चित्तकान्तुगतसम्भ्रान्तसमीप है<sup>2</sup> । शून्यविकारों का परिपूर्ण ज्ञान ही आश्रय है । चित्तकान्तुगत सम्भ्रान्तसमीप, विचारानुगत-सम्भ्रान्तसमीप, आनन्दानुगत सम्भ्रान्त और अभिमतानुगत सम्भ्रान्तसमीप से पुनः होती है । शून्य विषयों का प्रकृत विचार द्वारा होता है अतः विचार से अनुगत समीप विचारानुगत सम्भ्रान्तसमीप है<sup>3</sup> । शून्य विषयों में तन्मात्राएँ, मङ्गल और अभिमतत्व सम्मिलित हैं । इनका चित्तवृत्तियों द्वारा आश्रय ही विचारानुगत सम्भ्रान्तसमीप है । यह समीप चित्तकरीडल और आनन्द अभिमतसहित होती है । शून्यवृत्तियों की

1 - " निरन्तराध्यासात् स्थितप्राप्त व्यापकचित्तये चित्ते वा प्रथम जयेरन् तदा प्रतिनिष्ठेयुः , तस्मिन् चित्ते परिपूर्ण तिष्ठेत् स स्व सम्भ्रान्तयोगो " ।

— शास्त्रतो पृ० 52 f

2 - " तत्र शोडशशून्यविकारविषया समीपिणा प्रथम यथा वेतसि सवैव प्रतिनिष्ठेयुः तदा चित्तकान्तुगतः सम्भ्रान्तः । "

— वही पृ० 52

3 - " विचारानुगतसमीपविषया प्रथम वेतसः परिपूर्णता विचारानुगतः सम्भ्रान्तः । "

— वही पृ० 52 f

रचना सार्वत्रिक अर्थकार से हुई है । तत्सङ्गुल प्रणाल्यापन होता है और प्रकाश  
 आह्लाववाचक होता है अतः सार्वत्रिक अर्थकार से उत्पन्न स्कूल इन्द्रियों से ज्ञानम् की  
 प्राप्ति होती है । चित्त जब इन्द्रियों से अनुगत हो जाता है तब ज्ञानम्वानुगत-  
 सम्प्रदातसमर्थि होता है<sup>1</sup> । ज्ञानम्वानुगत-सम्प्रदातसमर्थि अपने एवं समर्थियों से  
 रीकृत और अधिमतानुगत-समर्थि रीकृत होते हैं । सभी वैदिकव्यक्तियों में  
 अहम् का आरोप अधिमता है । चित्त का अहम्भूति के साथ परिपूर्ण रूप से  
 तदाह्वरित होना 'अधिमतानुगत-सम्प्रदातसमर्थि' है । अधिमतानुगत-सम्प्रदातसमर्थि  
 चित्त, विचार और ज्ञानम्वानुगत-समर्थियों से रीकृत होते हैं<sup>2</sup> ।

-----

1 - " ज्ञानं स्फुलेभिर्प्रदायां स्वेयं सङ्गतसात्त्विकप्रकाशजस्य ज्ञानम्बः प्रथमज्ञानम्बनी-  
 क्रियते, ततश्चात्तक रणस्यैयं ज्ञानस्य इत्यवस्थाधिगमो भवति, । "

- वासुदेवो पृ० ५४ १

2 - " सतुर्धे श्याम ज्ञानम्बस्यापि " सतताऽहम् " इत्यधिमतामात्रं सविदेवतलम्बनं  
 ततस्तजानम्बोदियकं तम् । "

- वही पृ० ५४ १

चित्त की स्फाप्रणुति में जब चित्त की राजस और तामस वृत्ति का निरोध हो जाता है और केवल सात्त्विक वृत्ति शेष रह जाती है उस समय जो समधि होती है उसे सम्भवातसमाधि कहते हैं । इस स्फाप्रचित्त में चित्त की मधुमती, मधुपतीका और विसोकनात्मक तीन भूमिकाएँ विद्यमान रहती हैं । जब स्थूल विषय का साक्षात्कार होता है तब 'मधुमती' भूमि होती है । जब सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार होता है तब मधुपतीका और बुद्धि में वेतन पुरम्ह का प्रतिबन्ध बहने पर ध्येय विषय का ज्ञान <sup>कान्ते वा</sup> 'विसोका' नामक भूमि होती है । अब सम्भवातसमाधि के उल्लिखित चारों पैरों का वर्णन किया जा रहा है ।

ब'धर्मीतकवस्तु या चतुर्भुजावस्थं युक्त परमेवर के स्मृत स्वर का साक्षात्कार होने पर 'सचित्क' - सम्भवातसमाधि होती है । इस समाधि में ज्ञानम्ह के स्मृतकार का साक्षात्कार प्राप्त होता है। जब स्मृत विषयक ज्ञान को त्याग कर ज्ञानम्ह के सूक्ष्म स्वर का ज्ञान प्राप्त होता है और चित्त-वृत्ति सुकृताकार हो जाती है तब 'सविचार' - सम्भवातसमाधि होती है । जब ज्ञानम्ह के सूक्ष्मसाक्षात्कार को छोड़कर सत्त्वगुण से उत्पन्न इन्द्रियों के कारण 'सहकार' का ज्ञान होता है तब चित्तानन्द-सम्भवातसमाधि को प्राप्त करता है । जब 'ज्ञानानुगत' ज्ञान को भी त्याग कर बुद्धि में शान्ति को स्फुटता

-----  
 1. - " अत्र चैकस्मि वेतसि शुक्लसत्त्वमय्या वृत्तेः सद्भावान् सम्भवायते यन्नाक् सत्त्ववृत्तिपर्येति श्रुत्यत्या सम्भवातयोग इति ध्यायते । स चायमपरोयोगोवेद्यः, तथा चत्वारो भेदा एकास्मि चित्ते एक विद्युन्ते ते यथा - सचित्कसम्भवातः, सविचारसम्भवातः, सानन्दसम्भवातः, सचित्तसम्भवातस्येति ।"

- श्रीमिनारायण नाथ पृ० 18 f

2. - " बाधिमो योगी स्वल्पमेव स्वमिथ्यारूप्यधर्मीतकं वस्तु परमेवराचक्षिणं साक्षात्करोति त त्तैकाग्रता भवति सोऽयं सचित्क इति ।" - ब'धी पृ० 85 f

3. - " सविचारः विशेषण चरमं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तीमित विचारः ।" - ब'धी पृ० 85 f

4. - " एक सानन्दः सूक्ष्मपदार्थानां विहाय - इन्द्रियानां सात्त्विकतया सुकारणोद्भूतः उदरकं होय सत्त्वप्रधान ज्ञानवर्ण इति - ज्ञानन्दैरकं तस्य चित्तैकाग्रतासानन्द इति ।"

- ब'धी पृ० 85 f

स्थापित हो जाती है। बुद्ध और पुरुष का संयोग होने पर दोनों में 'अश्वेद' वाली स्थिति का होना ही 'संस्मित' है। इस समय 'अहंभेदा' , 'अहंकार' ' इस प्रकार की अनुभूति बुद्ध और पुरुष के संयोगजन्य अश्वेद का ही फल या परिणाम है। इस स्थिति का पूर्णतयाकार 'संस्मित' सम्भवात की स्थिति में होता है।

-----

। - " तादृशानन्वमीप विदुष्य कारणीभूता बुद्धवरात्मना सङ्केतान् इव तिष्ठन्तीत तत्र तयोः संयोग एवोऽश्वेदाऽयथासकः, तादृशोक्तत्कताऽधिचानायां संयोगा-  
त्मिकश्यां संस्मतायां तस्मीभूतायां यच्चित्तस्यैकप्रज्ञा सःसंस्मितसंभवात इति ।"

शक्तिनारायण शाय १० ४५ १

**व्यासवाक्य**

असमसातयोग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल निरोध-संस्कार रोक रह जाते हैं । चित्त की यह संस्कारोपावस्था ही असमसात-योग की अवस्था है । असमसात-योग की स्थिति में चित्त को कोई बोधियुक्त ज्ञान नहीं होता । चित्त निरात्मन-समाधि में स्थित रहता है । निरात्मन-समाधि इस लिए कि इस समाधि में ध्याता, ध्येय-रहित-समाधि में सीमा रहता है, अकतविषय-हीन परवैराग्य ही असमसातयोग का उपाय है । असमसातयोग को ही निर्बोधसमाधि भी कहते हैं । क्योंकि इस समाधि में ध्यान में केवल निरोध-संस्कार अंशित रह जाते हैं अन्त में निरोध-संस्कारों वीर्य चित्त भी प्रधान में सीमा हो जाता है और पुरुषमात्र केवल रह जाता है । इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर केवल की ध्याता का अनुभव करता है अर्थात् सभी प्रकार के बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर केवली रह जाता है<sup>१</sup> ।

असमसातसमाधि दो प्रकार की होती है (१) अक्षयप्रत्यक्षअसमसातसमाधि  
(२) उपायप्रत्यक्षअसमसातसमाधि ।

१ - " न तत्र फिक्त्वाप्रसात् इत्यस्य सातः । "

— व्यासवाक्य पृ० १० १

२ - " तस्मिन्निवृत्ते पुरुषो स्वस्वमात्र प्रतिष्ठितोऽतः । एवमुक्तः केवली मुक्त इत्युच्यते । "

- वही पृ० १३२ १

वचनप्रत्यय-सप्तम्यन्तसप्तमी — वचनप्रत्यय का अर्थ है जन्मकारणक

अथवा अविद्याकारणक । विवेकी और प्रकृतिज्ञानों को वचनप्रत्यय-सप्तम्यन्तसप्तमी होती है । इस सप्तमी में चित्त सर्वव्यतिरिक्त रहते हुए, केवल संस्कार-मात्र अवशिष्ट रहता है । परन्तु चित्त के संस्कार कुतर्काय नहीं होते अर्थात् चित्त के इन संस्कारों में कर्तारत्व की योग्यता नहीं रहती है । विवेक साधक संस्कारमात्र-अवशिष्ट-चित्त द्वारा कैवल्यपथ का सा अनुभव करते हैं और संस्कारों के फल का भोग करते रहते हैं । जब यह फल भोग समाप्त हो जाता है तब पुनः वे जन्म ते लेते हैं । पुनः जन्म ते लेने के कारण ही विवेक प्राप्त योगी को वचनप्रत्यय-सप्तम्यन्तसप्तमी कष्ट गया है ।

इसी प्रकार प्रकृतिज्ञानों का चित्त भी अकृतकार्य होता है । चित्त में जब केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं तब चित्त प्रकृत में लीन हो जाने पर कैवल्य पद के सामान्य मुक्तता या अनुभव करता है ; जब तक कि चित्त से संस्कार में जन्म नहीं ले लेते । ये दोनों सप्तम्यन्तसप्तमी जन्मकारणक हैं ; विवेकसाधित के बिना होती हैं । ये मोक्षदायक नहीं होती अतः इन्हें सप्तम्यन्तसप्तमी के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता । ये योगसाधक मात्र हैं ।

। - " विवेकज्ञानं देवानाम् वचनप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तैव कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविषयात् तयान्नातोद्यकमसिवाह्वयन्ति तथा प्रकृतिज्ञानाः सप्तमी-कारे चेतीषां प्रकृतिज्ञाने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यान्मन् पुनरावर्ततेऽप्येकैव कर्तारव्यतिरिक्तम् ।

उपायप्रत्ययअसञ्जातसमाधि - उपायप्रत्यय-असञ्जातसमाधि योगियों को होते है । ब्रह्मा, वीर्य, इन्द्रिय, समाधि और प्रज्ञा नामक योग के उपायों के पूर्व में होने पर योगी को असञ्जातसमाधि होती है, ब्रह्मा योगी की रक्षा करती है, वीर्य से विवेकवर्षी योगी का उत्साह मिलता है, ब्रह्माज्ञान वीर्य से पुनः जागृत हो जाता है । ध्यान से समाधिनिष्ठ होता है और तत्त्वज्ञान योगी को प्रकृतज्ञान प्राप्त होता है । विवेकवर्षी ही प्रकृतज्ञान है जब विवेकवर्षी के प्रति भी बेरबेराध्य हो जाता है तब असञ्जातसमाधि होती है<sup>2</sup> ।

### तत्त्ववेत्तारधी

असञ्जात समाधि में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है वृत्तियों के इस कुत्सल निरोध का उपाय 'परबेराध्य' है । परबेराध्य द्वारा साधक का द्विष्टकोरुष विषयों के प्रति शोषद्विष्ट जाता हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक योग प्राप्ति के उस उपाय द्वारा सभी विषयों का परित्यागकर अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है और चित्त तब असञ्जात-समाधि में स्थित होता है<sup>3</sup> ।

1 - " उपायप्रत्ययो योगिर्ना भवति ।" — व्यतिभाष्य पृ० 6१ f

2 - "समाधित्तचित्तस्य प्रकृतियेव उपावर्तते येन यथाई वस्तु जानति तवथादास्त-  
द्विष्यभ्यास्य बेराद्यावस्यञ्जातः समाधिर्भवति ।"

— वही पृ० 6२

3 - " विभवाद्युर्वर्षी समास्तीवचयपरित्यागस्य स्वस्वप्रतिष्ठं यन्निरतस्वामः  
सत्कारमात्रोपस्य निरतस्वामस्य समाधिः कारभमुपपद्यते ।"

— तत्त्ववेत्तारधी पृ० ३४ f

असम्भारत समीप निरात्मकन होती है । इस समीप में चित्त को कोई भी वृत्त  
 जान नहीं होता, समस्त वृत्तियों का निरोध हो सकता है केवल निरोध संस्कार हो  
 रह जाते हैं । असम्भारत समीप को ही 'निर्बीज समीप' कहते हैं क्योंकि केवल और  
 कर्मसाध नहीं इस समीप में सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

असम्भारत योग के दो रूप हैं (1) श्वप्रत्ययअसम्भारतसमीप (2) उपाय-  
 प्रथमअसम्भारतसमीप ।

श्वप्रत्ययअसम्भारतसमीप — 'श्व' शब्द का अर्थ वाक्परीतीत्यक से  
 श्रवण किया है । श्रवण से ही जन्म होता है अतः जन्म श्रवणमुक्त है ।  
 विवेक और चकुरिल्लीयो को श्वप्रत्यय-समीप होती है । जब विवेक लोग वृत्तियों  
 में लीन हो जाते हैं तब उनके चित्त में संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । संस्कार  
 मात्र चित्त द्वारा वे कैवल्यपद के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं परन्तु जब व्युत्पन्न-  
 वृत्तियों का आगमन होता है तब वे चित्त द्वारा तारक योग करने लग जाते हैं ।  
 योग सम्पन्न होने पर उनका पुनः इस संस्कार में जग्न होता है । इस तरह विवेक  
 प्राप्त सिद्ध लोगों को समीप को योग नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे कैवल्य नहीं  
 प्राप्त होता अतः विवेकों को समीप श्वप्रत्यय-असम्भारतसमीप है, योग नहीं है ।

। - " श्वोऽश्रवणं, - - - वृत्तिश्रवणान्प्रत्ययसम्भारतसमीपेन परित्यक्तान्प्रथमसमीप  
 तद्व्यासनावासितम् । कश्चाः पिच्छपरतन्मन्तराश्रितेषु वृत्तेषु वा सीमाः संस्कारमात्रावरोध-  
 मनसः प्रादुर्भावकारिणरहितविवेकाः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदी-  
 यानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विवेकाः । "



विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस सम्मिधि को असम्भ्रान्त भी नाम नहीं देना चाहिए क्योंकि इसमें विलत विरुद्ध लोग युक्त निश्चित समिधि के परवान् पुनः संसार में प्रोक्षित हो जाते हैं । सम्भवतः विलत के संस्कारोद्भवस्यायुक्त ही जाने से भव-प्रत्यय को भी असम्भ्रान्त-समिधि नाम दे दिया गया है । परन्तु भव-प्रत्यय असम्भ्रान्त समिधि में विलत के संस्कार साधिकार होते हैं । जब कि असम्भ्रान्तयोग में विलत के संस्कार साधिकार नहीं होते । प्रकृत विलत के साथ संस्कार भी उद्भवत में लीन हो जाते हैं अतः असम्भ्रान्तयोग के संस्कारों से भवप्रत्यय-समिधि के संस्कारों में कोई समानता नहीं है ।

प्रकृतिमीम उपासक भी जब उद्भवत, महत्, अष्टकार, पंचतन्मात्राओं में से किसी में भी लीन हो जाते हैं और अयुक्त जाने पर क्षेत्रिक रूप से प्रारम्भ कत भोग करते हैं । भोग की प्रथिधि के समाप्त हो जाने पर वे पुनः इस संसार में जन्म लेते हैं । जन्म अविद्यामूलक है यह पहले ही कहा जा चुका है अतः इस अविद्यामूलक समिधि को योग नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार वाचस्पतीमीम के विवेचन के आधार पर भवप्रत्ययअसम्भ्रान्तसमिधि को योग नहीं कहा जा सकता ।

उपायप्रत्यय असम्भ्रान्तसमिधि — महत्, बौद्ध, च्छाति, समिधि और ब्रह्मा नाक उपायों से भी असम्भ्रान्तयोग सिद्ध होता है । असम्भ्रान्तसमिधि केवलसायक होती है । अतः इस समिधि के लिए उक्त उपायों का अनुष्ठान साधक के लिए मोक्षफलसाधक है । उपायों का विवेचन इस प्रकार से किया गया है ।

। - " प्रकृतितयसिचक्रयमहदृष्टकार पंचतन्मसिचक्रयतममन्त्रत्वेन प्रसिम्भ्रान्तदुर्वासनया तद्व्यासनयाविसतन्त्रः करणाः पिण्ड पातानन्तर म्भ्रान्तबीनामन्त्रतमे लीनाः । "

अर्थात्— अगमः, अनुमान, अन्वयार्थोपदेश में अत्यन्तपूर्वक अविस्मिन्न अर्थात्  
 है । अर्थात् यि वेकार्थों के अन्वय उक्ताह की भावना स्वयमेव अर्थात् होती है जिसे वीर्य  
 कहा गया है । स्मृतिवत् अर्थ ध्यान से है । अर्थात् ध्यान महत्क उपाय भी असम्भवात्-  
 योग में सहस्रक मत है । समाधि का होता योग के तिर परम आवश्यक है ।  
 असम्भवात्, असम्भवात्समाधि में हुआ चित्तवृत्ति निरोध ही योग है । सम ही योग के  
 अठ अंगों में से आठवाँ अंग है । अतः समाधि ही योग के तिर बहुत महत्क है ।  
 अष्टांगतन्त्र के हेतु पर ही समाधियोग में प्राप्त धन के धीत भी वेदार्थ होता है जिसके  
 परिभाषापरम परवेराय से असम्भवात्योग की विशेष होती है जो मोक्षवाचक योग या  
 समाधि है । इस प्रकार उपायप्रत्यय असम्भवात्समाधि योगों के तिर बहुत उपाय  
 है । इन्द्रियादि चिन्तक की इन उपायों के अनुष्ठान से योगनिष्ठ हो सकते हैं ।

-----

- 1 - " वेत्सः संप्रसावोऽविस्मिन्नतीव्रस्य अर्थात् ।" -- तद्वै ५० ३२ १
- 2 - " स्मृतिध्यानम् ।" -- बही ५० ६२ १
- 3 - " तदेवमहितयोगोऽनुष्ठानस्य संप्रसावो ज्यत इत्याह -- समाहितचित्तस्येति ।" -- बही ५० ६२ १
- 4 - " प्रसावा विवेकः प्रकर्ष उपनश्यते । संप्रसातपूर्वमासंभवात्संप्रसावमाह- - - - -  
 स हि कैवल्य हेतुः । सत्संगुत्सव्यताद्वयानिपूर्वो हि निरोधविस्मिन्नचित्त कार्यकरणेन  
 संप्रसावोऽविस्मिन्नतीव्रस्येति ।" -- बही ५० ६२ १

राजमार्तण्डकृत

असम्भ्रातसमाधि में चित्त की सभी प्रकार की दृष्टियों का निरोध हो जाता है और चित्त में कोई जानाबूझ हुआ नहीं बनती । चित्त में केवल संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । असम्भ्रातसमाधि को निर्बोज-समाधि बोलने की बड़ीतर प्रिया परम्परा 'निर्बोज' का विवेचन इनका शरीरों से किम्प है । किन्तु भी प्रकार का सम न होना निर्बोज-समाधि है । असम्भ्रातसमाधि में चित्त में केवल निरोध-संस्कार रह जाते हैं । चित्त की स्फूर्ति में उत्तम सभी संस्कारों को तथा अपने संस्कारों को भी निरोध संस्कार जल देते हैं । असम्भ्रातसमाधि के दो भेद हैं । (1) अक्षप्रत्ययअसम्भ्रातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्भ्रातसमाधि ।

अक्षप्रत्ययअसम्भ्रातसमाधि - यह विवेक शरीर प्रकृतियों को होती है । इनका योग साधारण देवर्ष के भ्रमणों के अतः उन्हें परमात्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । अतः अक्षप्रत्यय को योग नहीं योगाभास मलना साहित्य । ऐसा बौद्ध का मत है ।

1 - न तत्र किञ्चित्कैदम् संप्रत्ययते इति अक्षप्रत्ययतो निर्बोजः समाधिः ।

-- राजमण्ड 46 F

2 - " एवमेकाग्रताजीनसन् संस्कारान् निरोधयति स्वात्मनिर्बोधनिम्पि । "

-- बही पृ 47 F

3 - " तेषां परतस्त्वावर्नाद्योगाभासोऽप्यम् । "

-- बही पृ 51 F

उपायप्रणय असम्भ्रान्तसमधि :- अर्थात् उपायों के अन्वय से जो समधि होती है वह उपायप्रणयअसम्भ्रान्तयोग है । अर्थात्, बीज, कृति समधि आदि उपायों के द्वारा असम्भ्रान्तयोग सिद्ध होता है । इन उपायोंके निरन्तर अन्वय से जोर परचेरस्य से असम्भ्रान्तसमधि होती है<sup>1</sup> ।

### विवरण

असम्भ्रान्त-समधि असम्भ्रान्तसमधि से पर्याप्त भिन्न है ।

असम्भ्रान्त-समधि चित्त को निरब्धकृमि में होती है<sup>2</sup> । इस समधि में चित्त की सभी कृत्तियों का निरोध हो जाता है । असम्भ्रान्तकाल में चित्त में केवल कृत्तियों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं<sup>3</sup> । असम्भ्रान्तसमधि का निर्धोज-समधि की संज्ञा दी गई है । यह संज्ञा सम्भवतः इस समधि की विशेषताओं को धृष्ट में रखते हुए दी गयी है । सबसे पहली विशेषता इस समधि की यह है -

- (1) 'निर्धोज' समधि में चित्त की क्षिप्त कृत्तियों के कोषा रज बीजों का निरोध हो जाता है । (2) यह समधि निरालम्बन होती है इसका उपाय 'परचेरस्य'<sup>4</sup> है (3) इस समधि में चित्त में केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । इस प्रकार इन विशेषताओं के कारण ही असम्भ्रान्त-समधि का निर्धोज-समधि कहा गया है ।

1 - " त एते संप्रकृतस्य समाधेरुपस्थाः । तस्याभ्यस्तसु यदाह्य वेराद्यात् प्रवत्यसंपन्नताः । " - ११० भा० सु० ५० ५३ १

2 - " एतर्थात् निरोधकृमौ यः समधिः स निर्धोजः । निर्धौ कोजमत्र कोशादिबीजं सर्वमुत्सन्नमस्मिन्मिति । " - विवरण पृ० १२ १

3 - " निरब्धकृमि कृत्तियु कृत्तियजिततः संस्कारा स्वावशेषकम्पते । " - वही पृ० ११ १

4 - " तस्य परं वेरास्यमुपायः तस्य समधिः परमुत्तरम् । "

5 - " स एव निर्धोजः संस्काररोपणनाथः<sup>वही पृ० ४९</sup> संप्रतिरस्यैर्धौ<sup>संस्कारोपणनाथः</sup> इति । " - वही पृ० ४९ १

असम्भारतसमधिनिष्ठ चित्त को और अधिक सुस्पष्ट करने के हेतु विचरणाकार में नितरुत्पीन्य किन्तु सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है यथा - सभी विषयों का विनिवर्तन हो जाने पर चित्त उसी प्रकार ज्ञान हो जाता है जिस प्रकार दृढकता हुआ अंगारा धीरे-धीरे क्षीण होने के उपरान्त अन्त में एकवचन शब्द अर्थात् राख के रूप में हो जाता है । यह उपाया असम्भारतकाल में निरूप्यभूतिक चित्त के लिए बहुत ही उपयुक्त है । इस उदाहरण द्वारा व्यक्तकार का इस अर्थ में यह विचार सामने आता है कि असम्भारतकाल में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है । परिणामतः चित्त में पुनः उनका प्ररोध नहीं हो पाता । जिस प्रकार जलती अग्न के धीरे-धीरे ज्ञान होने पर केवल राख बची रह जाती है उसी प्रकार वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल उनके संस्कारमय अवशिष्ट रह जाते हैं । ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं । इनसे पुनः किसी भी प्रकार की वृत्तियाँ नहीं बनती ।

असम्भारत-समाधि के दो भेद हैं । (1) उपावप्रत्यय-असम्भारत-समाधि (2) भवप्रत्यय-असम्भारतसमाधि । भवप्रत्यय-असम्भारत समाधि विवेक तथा प्रकृतिलीन उपासकों को होती है । इन उपासकों को अपनी अपनी उपासना के द्वारा 'केल्य' शब्द को समान भूषित का 'सुनभय' होता है । केल्य का अर्थ अमुष्य तथा ताव नहीं होता अतः इन साधकों के योग के योगफल प्राप्त हो मानना चाहिए । 'विवेक' और 'प्रकृतिलीन' उपासक अपनी साधना एवं उपासना के काल पर मुक्त की भी अवस्था को प्राप्त करते हैं ।

। - " पावकथ्य अततः प्रदीपय श्लेषनथ शनितानेस्वरात्तथतः प्रगच्छन् स्तापतेर्वासात्कला । "

उपायप्रत्यय-असम्भ्रान्त-समीप - प्रथम-पाद के 20वें सूत्र के

आधार पर असम्भ्रान्तसमीप का यह दूसरा विवेक है। यहाँ पर असम्भ्रान्तसमीप के उपायों का वर्णन किया गया है। ब्रह्मा, इन्द्रि, समीप शीव असम्भ्रान्तसमीप के उपाय विरूपा हैं। 'ब्रह्मा' द्वारा इत्यन्विष्ट होने पर उत्ताइसहित योग के आठों साधनों का अनुष्ठान करने पर आगमज्ञानविषयक इन्द्रि सुदृढ़ हो जाती है। इन्द्रि के सुदृढ़ होने पर विवेकाधी का चित्त ब्रह्मता से रहित हो जाता है और इस प्रकार का अनाकुलचित्त ही समीप के योग होता है। ऐसा चित्त ही समीपस्थ होकर प्रकृतप्रत्यक्ष बुद्धि के द्वारा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। यह आत्मज्ञ के चर्चार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार के ज्ञान के निरन्तर होते रहने पर अन्त में 'पर-वेराथा' द्वारा इस ज्ञान को प्रति भी वेराथा हो जाता है जिसके फलस्वरूप असम्भ्रान्तसमीप होती है।

इस प्रकार उक्त उपायों द्वारा योगी असम्भ्रान्त योग को प्राप्त करता है। असम्भ्रान्तयोग के निर्दिष्ट विविध चरणों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि असम्भ्रान्तसमीप का दूसरा चरण ही अर्थात् उपायप्रत्यय-असम्भ्रान्त-समीप ही 'योग' माना जा सकता है। इस समीप के स्वरूप से 'असम्भ्रान्तयोग' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम-पाद के 18वें सूत्र से असम्भ्रान्तयोग का तात्पर्य निर्दिष्ट होता है और प्रथम-पाद के 20वें सूत्र से तथा उसकी व्याख्या द्वारा असम्भ्रान्तयोग की प्राप्ति के साधन के अन्त प्रकाश प्रकाश गया है। अतः यह गर्वना उचित है कि 'उपायप्रत्यय असम्भ्रान्तसमीप' योग है।

। - "तवभ्रातान् - इत्यनुक्त" इति - आत्मवर्णनविरामस्यव्याख्यासिद्धिः ।

तद्व्यपधाद्य वेराथा (व्याप्यभ्या) त् परस्माद्वेराथासिद्धिः । असम्भ्रान्तः

समीपः इति ॥"

— विवरण पृ० 51

पौगवार्तिक

असम्भारत योग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल निरोध संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं<sup>1</sup> । यह समग्र निरात्मक होती है । यह समग्र ही निर्बन्धि समग्रि कही जाती है । चित्त के सारे संस्कार ही चित्त के बीच के सार । इन संस्कारों का यह समग्रि में यह हो जाने के साथ नाश हो जाता है । संस्कारों का नाश हो जाना ही निर्बन्धि समग्रि है । निर्बन्धिसमग्रि में चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं, इनके निर्बन्धि समग्रि को जेई इति नहीं होती है श्रेष्ठिक निरोधसंस्कार चित्त के बीच नहीं माने जाते<sup>2</sup> ।

यहाँ विश्वामित्र का विशेषण वाचस्पतिमिश्र से किया है । वाचस्पति-मिश्र ने स्थापित समग्रियों को बीच माना है, उनका चित्त से निराल जाना ही निर्बन्धि समग्रि है । विश्वामित्र के अनुसार चित्त के जितने भी संस्कार हैं सभी बीचस्थ हैं, इन सभी का यह ही जन्म निर्बन्धि-समग्रि है । असम्भारतयोग के विद्वान् वेदों का उल्लेख वर्तिसंस्कार ने अष्टांगिधित्तसम्भार में किया है ।

-----

1 - " निरभ्युत्कलवृत्तिकां संस्कारमात्रार्थं चित्तं निरुच्छ्रमम् " ।  
पौ०वा० पृ० 4 F

2 - " तदवश्यं निरोधावच्छिन्नं संस्कारोपर्यं संस्कारमात्रानुसारी  
संस्कारमात्रस्यैव प्रमाणवति भवति । सेयं प्रमाणवतिता स पूर्वोक्तो निर्बन्धिः  
समग्रिः निरोधयोगे न किञ्चित्त्व योगे प्राप्य इति विशेषणत आध्यात्मिक सेवित  
वाच्यार्थः । - - - बीचवाच्येन वाच्य निरोधस्य स्वस्यावधिधर्मो हेतुस्या स्थापकर्म-  
वि परिपश्यत या च तत्कालवृत्तिसंस्तथायः । " - वडी पृ० 15 F

मनवप्रत्यय-मनवप्रत्ययसम त्रिय - विवेक उपासक वैमिषिन प्रत्यय में शरीर कभी कभी क्षुब्धकाल में भी निरोधसंस्कारयुक्त चित्त द्वारा केवलत एव के समान मुक्त अनुभव करते हैं। अनुभूत होने पर वे प्रारब्ध जगत्सिद्धों का योग करते हैं। इस योग द्वारा वे प्रारब्ध-उन्मत्त-संस्कारों को समाप्त कर मुक्त हो जाते हैं। यहाँ विज्ञानभिक्षु का मत वाचस्पतिमिश्र से मिल्य है—वैश्वस्यतीतिग मे अनुसार विवेक योग समाप्ति में व्युत्थान होने पर प्रारब्ध योग करने के पश्चात् पुनः इस संसार में जन्म लेते हैं इसी लिए विवेक शरीर प्रकृतिलीन की समाधि योग नहीं कही जाती। इसके विपरीत योगवार्तिककार के अनुसार प्रारब्ध-योग के पश्चात् विवेक तथा प्रकृतिलीन मुक्त हो जाते हैं। मोक्षफलवाचक होने के कारण यह समीचीन भी योग कही जा सकती है।

इसी तरह प्रकृतिलीन उपासक भी शरीर तथा प्रकृति वैश्या की उपस्थाना द्वारा संसार को त्याग कर तिग शरीर से प्रकृति या अक्षय में लीन हो जाते हैं। प्रकृतिलीन होने के उपरान्त भी व्युत्थान होने पर योग द्वारा अपने प्रारब्धजगत्सिद्ध संस्कारों को समाप्त कर जीवन्मुक्त की योग मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के अनुसार मनवप्रत्यय प्राप्त विवेक और प्रकृतिलीन

1 - " ते हि वैमिषिनप्रत्यये कदाचिच्च सर्गसिद्धिं स्वसंस्कारमाशेषगतौ चित्तं न संस्कारोपेक्ष्य निरोधवाच्येन चित्तौ, केवलयपकीम्य प्राप्नुवन्तो व्युत्थमकाले च स्वसंस्कारस्य वैश्वस्यप्रापकसंस्कारस्य विचारं मनस्यैवर्षयोगं प्रारब्धकर्मव्यभिक्तं शीतवाद्युत्ति शीतकामान्त, ततो मुच्यन्त सीत शेषाः । " -- योगवार्त्त पृ० 61 f

2 - " शरीररोपासमया प्रकृतिवैश्वस्यतीतिगत्तया वा ये ऋहृमाहं सत्त्वर्षं तपस्या तिगशरीरेण सह प्रकृत्यावरणे गतः तेषु प्रकृतिलीनः । तेषु चित्तमाप्न-  
काले चैतिसि श्लेषयेव प्रकृतिलीने संस्कार-संश्लेषे सत्यसंस्कारतयोरेव केवलयपकीम्य प्राप्नुवन्ति यावद्विचारोपश्रवणात् चित्तं पुनर्व्युत्थितं न भवति - - - । अधिकार समाप्तौ च तेषु मुच्यन्त इत्यादिः । "



उपासक भी असञ्जातयोग को प्राप्त कर कैवल्य नाम करते हैं ।

उपायप्रत्यय असञ्जातसमीप - शास्त्रोक्त उपायों द्वारा असञ्जात-  
योग को प्राप्त करना उपायप्रत्यय-असञ्जातयोग है । ये उपाय हैं कर्मा,  
वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा । योग के प्रति प्रीति प्रवृत्त है । अर्थात् का  
योग साधना के लिए प्रयत्न करना वीर्य है । प्रयत्न से ध्यान करना स्मृति है ।  
समाधि योग का धरम अंग है । असञ्जातयोग से उत्पन्न जीव ब्रह्म का कैव-ज्ञान  
ही प्रज्ञा है । इन उपायों के अनुष्ठान से साधक शीघ्र असञ्जातयोग प्राप्त करता  
है ।

। - " ईतिरेषां विवेकप्रकृतिस्वामीतिरक्षानां वैशानां वा मनुष्यास्त्रिणाम वा न जन्म-  
मात्रावसंभवातो वयति, किन्तु अष्टाऽऽविद्याः, प्रज्ञापर्यमेधा-इत्यर्थः । "

- योगवार्तिक पृ० 62 F

योगवीथिका

असम्भ्रान्त-समाधि में विवेक स्थापित रूप ज्ञान का ही निरोध परचेरस्य द्वारा हो जाता है । ज्ञान के प्रति चेरस्य-बन्धन का उन्मूलन ही 'परचेरस्य' है । इस परचेरस्य द्वारा असम्भ्रान्तसमाधिकृतिक प्रज्ञा तथा सम्भ्रान्तयोग की पराकाष्ठा रूप विवेक ज्ञान का ही निरोध हो जाने पर चित्त में कोई ज्ञानात्मक वृत्ति रोध नहीं रह जाती । इस समय चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं । अतः इस समय जो समीप होती है उसे असम्भ्रान्तसमाधि नाम दिया गया है । असम्भ्रान्त-समाधि में स्वित रहने पर ही योगी केवल्य प्राप्त करता है । वृत्ति-निरोध के उपरान्त चित्त का प्रकृति में प्रकृतित्व विलय तथा पुरुष की स्वस्वावस्थिति ही केवल्य है । असम्भ्रान्त-समाधि के विशिष्ट चरणों का उल्लेख इन्धेनि की किया है ।

बन्धनव्यय-असम्भ्रान्तसमाधि - यह समाधि विवेक तथा प्रकृति-सीमाओं को छोटी है । इस समीप में वेद की अपेक्षा बिना किन्तु हुए, अर्थात् वेद रहित संस्कार केवल बुद्धि द्वारा समाधि के साधनों का अनुष्ठान करते हैं । इस व्यापार में व्याख्याकार ने बन्धनव्यय का ही अर्थ किया है । विवेक, प्रकृति-सीमा के स्वरूप का विधिक विवेचन नहीं किया है । केवल विवेकों के स्वरूप का विवेचन किया है कि जो वेद की अपेक्षा नहीं रखते हैं वे विवेक कहे जाते हैं<sup>2</sup> ।

1. " शान्तिःप्यतर्कबुद्धि परचेरस्यम् । तदव्यापारयोगः पुन्याव्ययते यः संस्कार-मन्त्रावरोधो वृत्तानि रोधः स संभ्रान्तसमाधिकृतिकप्रज्ञा इत्यर्थः । - - - - - मन्त्रे तु चित्तसंश्रान्तविलयव्यापारोऽपि न निश्चिन्तित विरोधः । " - योगवीथिका पृ० 15

2. " विवेकानां प्रकृतितयाणां च अतिशयोक्तौ भवप्रत्ययसंस्कारो भवति । मयो ज्ञेय प्रत्ययः कारणं यद्येति व्युत्पत्तीरत्यर्थः । वेदनेरपेक्षेणैव बुद्धिप्रकृतिसम्भ्रान्तः सिद्धो विवेक इति । ते च महाव्ययो वेदाः तेषां न साधनानुष्ठानम् । "

यह समीच योग है अथवा नहीं इस विषय पर भी व्याख्याकार मेल हैं। अतः इस व्याख्या के आधार पर ऋषय-असम्भ्रान्तसमीच के बारे में कोई भी निर्णय नहीं किया जा सकता।

उपायप्रत्ययसम्भ्रान्तसमीच - इस समीच के विषय में व्याख्याकार भावात्मक ने कोई विवेचन नहीं किया है।

पार्तकलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में असम्भ्रान्तयोग का उल्लेख योगवर्षिका के ही समय किया गया है। असम्भ्रान्तयोग के द्विविध भेदों को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है।

ऋषय-असम्भ्रान्तसमीच - अतः समीच विवेक और प्रकृतलीन साधकों को होता है। विवेक और प्रकृतलीन में दृग्भ्यः सम्भ्रान्त है। विवेक स्मृत देह की अपेक्षा नहीं करते हैं। वे बुद्धिग्रह, लम्बायागोई, अहंकार इत्यादि की उपासना द्वारा अपने स्मृत शरीर का परित्याग कर वृत्तिरहित और संसार-रहित बुद्धिद्वारा केवल्य के समान अनुभव करते हैं। परन्तु एक निश्चित समीच के जाने पर विवेक उपासक संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्म से लेते हैं। इसी लिए इस समीच का नाम ऋषय-असम्भ्रान्त के अर्थात् 'जन्म के कारण पितृका'।

प्रकृतलीन प्रकृतियोग की उपासना द्वारा प्रकृतिक को छोड़कर प्रकृति में अपने स्मृत शरीर को लीन कर, स्मृत देह तथा उस समय की वृत्तियाँ से रहित केवल्य विवेकव्यति द्वारा मुक्ति का अनुभव करते हैं तब पुनः इस समीच के समाप्त हो जाने पर प्रकृति लीन वेवर्षि इस संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं।

1 - " नवो जन्म प्रत्ययः कारणं यथेत्थर्थात् । " - पार्तकलयोगसूत्रवृत्ति  
 ५० १६१

- ग प्रकृति की उपासना द्वारा मुक्त होना तथा पुनः संसार में प्रविष्ट होना का क्रम पुनः कीर्ति चलता रहता है । प्रकृतियों तथा विवेकों के संसार की प्राप्ति होती रहती है अतः अक्षयव्ययसम्प्रदायसमाधि उच्यते ।

उपायप्रत्यय सम्प्रदायसमाधि — आत्मसाक्षात्कार ने इस समाधि का सर्वप्रथम योग दीपिका को ही प्रेरित किया है ।

### समिपका

असम्प्रदायसमाधि का ही 'संस्काररोधः' नाम दिया गया है ।

परब्रह्म-द्वारा जब सम्प्रदायकालिक सांख्यकृति का ही निरोध हो जाता है तब चित्त में कृत्तियों के संस्कार-मान तत्त्वानुत्पन्न रह जाते हैं<sup>1</sup> । पुनः उनका ही निरोध निरोध-संस्कारों के द्वारा कर देने के परब्रह्म चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं जो चित्त के साथ ही प्रपान में लीन हो जाते हैं । असम्प्रदाय-समाधि को निर्बीज-समाधि कहा गया है, क्योंकि यह समाधि आत्ममन रहित होती है तथा इसमें कर्मसंयोग का अभाव रहता है<sup>2</sup> । असम्प्रदाय समाधि के दो पैद इस व्यवस्था में भी निरूपण हैं ।

1 - "तेषां चित्तं संस्कारान्तरात्मन्यस्यसंप्रदायतः ।"

— समिपका पृ० 10 f

2 : "स निर्बीजः समाधिः । निरतमनस्तत्कर्मसंयोगात्वाधेत्यर्थाः ।"

— यही पृ० 10 f

योगसूत्रार्थबोधनी, योगसिद्धान्तसंग्रह

इन व्याख्याओं में अभिव्यक्ति का पर्याप्त अनुकरण किया गया है । अथास और वेराथ द्वारा वृत्तियों का अभाव होने पर असम्भ्रतसमधि होती है । असम्भ्रतयोग का अर्थ परवेराथ है । परवेराथ द्वारा सम्भ्रत-समधि का निरोध कर निर्जिज्ञ-असम्भ्रतसमधि सिद्ध होती है । निर्जिज्ञ-समधि में कर्मरूपी बीजों का अभाव हो जाता है । केवल निरोध संस्कारचित्त में रह जाते हैं । असम्भ्रतसमधि के द्विविध वेदों को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है ।

असम्भ्रतसमधि — 'अथ' का अर्थ अविद्या किया गया है । इस समधि के मूल में अविद्या के अतः यह समधि वैय है ।

उपायप्रत्याय असम्भ्रतसमधि -- योगियों के लिए उपायप्रत्याय असम्भ्रतसमधि ही उपादेय है । अथ विवरण अभि-प्रा के समान है ।

। - " परं वेराथं सम्भ्रततोत्थानविकृत्य स्वसंस्कारं शेषयति स निर्जिज्ञः समधिः कर्मवीजानावात् । "

— योगसूत्र १० ११

### वास्तवी -

असम्भ्रान्तसमाधि में सम्भ्रान्तक त्रिक चित्त की सतिवकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमत्र शेष रह जाते हैं और इसके परमात चित्त में कोई मई वैधिका वृत्ति नहीं बनती । चित्त के प्रकृतगत संस्कारों का निरोध निरोधसंस्कारों से होता है । इस प्रकार असम्भ्रान्तसमाधि में चित्त में किसी भी प्रकार के प्रत्यय नहीं रह जाते । केवल निरोधसंस्कार चित्त में तब तक बने रहते हैं जब तक चित्त अव्यक्त में लीन न हो जाये । चित्त के साथ ही ये निरोधसंस्कार भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष प्रकृता अपने स्वर में प्रकीर्णित होकर कैवल्य की खाा का अनुभव करता है ।

असम्भ्रान्तसमाधि का उपाय 'परवेराध' है । परवेराध द्वारा ही सम्भ्रान्तसमाधि की पराकृष्ट-विशेषकृति तथा धर्मव्यवसायि के प्रति वेराध उत्पन्न होता है और साधक निर्बीज-समाधि में लीन हो जाता है । निर्बीज-समाधि असम्भ्रान्तसमाधि का ही दूसरा नाम है । असम्भ्रान्तसमाधि में शेषस्व भावबन्ध नहीं होता है, निरात्मबन्ध समाधि होने के कारण ही इस समाधि को असम्भ्रान्तसमाधि कहा गया है । असम्भ्रान्तसमाधि में चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का निरोध हो जाता है । बीजस्व वृत्ति तथा वृत्तिजन्यसंस्कारों का निरोध हो जाने से ही यह समाधि निर्बीज कही गयी है ।

। - " सम्भ्रान्तं तस्मिन् तदपि निरस्य पञ्चाप्रव्ययडोमर्णं निरस्यैतदस्यैऽपि गम्यते तथा सोऽसम्भ्रान्तयोग इति । श्लेषविभयस्तथा बीजस्याभावाद् निरोधः समाधि-निर्बीज इत्युच्यते । "

— वास्तवी पृ० १७ १

निर्बोज समीप के जो वेद लिख गए हैं । उपायप्रत्यय-निर्बोज-समीप और  
बन्धप्रत्ययनिर्बोजसमीप ।

बन्धप्रत्यय अलम्ब्यमानसमीप -- बन्धप्रत्यय निर्बोजसमीप कैवल्य के  
लिख उपयोगी नहीं होती । यह समीप विवेक तथा प्रकृतिलोभों को होती है ।  
स्वप्नसूक्ष्माशरीर से हीन को विवेक कहते हैं । विवेक साधक को जब शरीर के  
प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है तब ये वैराग्य के द्वारा अपने शरीर का त्याग  
कर देते हैं । तत्कालशरीर प्रकृत में लीन हो जाता है और उस समय साधक  
विवेककैवल्य के समान वशा का अनुभव करता है । विवेकों को पुरुषव्यति नहीं  
होती । अतः पुरुषव्यति के अभाव में चित्त के संस्कारों का अर्थक प्रकरोच प्राप्त  
नहीं होता । इतर वैराग्य से उत्पन्न वैराग्यसंस्कारों की शक्ति जब क्षीण हो जाती  
है तब पुनः उनका इस संस्कार में जन्म होता है । पुनः जन्म देने तथा  
पुरुषव्यति से हीन होने के कारण विवेकों को समीप बन्धप्रत्यय-अलम्ब्यमानसमीप  
होती है ।

इसी तरह प्रकृतिलोभ उपासक की वैराग्य द्वारा अपने शरीर का रू-  
त्याग प्रकृति में कर देते हैं परन्तु विवेकहीनता के कारण तथा साधिकाचित्त के  
कारण वैराग्य से उत्पन्न निरोध-संस्कार की शक्ति का क्षय होने पर प्रकृतिलोभ इस  
संस्कार में फिर से जन्म लेते हैं । वैराग्य की भावना द्वारा उक्त साधक देहपात  
करते हैं । अतः इस समय को समीप को निर्बोज कहा गया है ।

। - " विवेकानां वेदानां, तथा प्रकृतियानामपि धैर्यतथ्यम्, ये तु  
पुरुषव्यतिहीनाः संशयान्तरसे ज्ञानेनयौष विरागवन्मते न वेद-माने, तद्विरागवत्  
तदनुसृतसमावेशे तेषां विवेकहीनत्वात् साधिकात् चित्तं प्रकृतौ लीयते ।"

— भाष्यती पृ० १७१

परन्तु बेरायतसंस्कार को शक्ति के शोण हेतु ही निर्वाहसमय दूर ले जाती है और पुनः उनका जन्म इस संस्कार में ही जाता है । निर्वाह <sup>अनुपत्यु-</sup>समय दुरी छविगत हो जाती है अतः यह समीप योग नहीं है ।

उपायप्रत्यय असम्भ्रान्तसमय - अद्यापि उपायों के अनुष्ठान से व्युत्थानसंस्कारों का नाश ही जनि पर परबेराय के द्वारा असम्भ्रान्तसमय सिद्ध होती है । प्रथम विवेक का अर्थ = विशय या विशिष्ट ज्ञान का उत्कर्ष किया गया है । यह समीप ही योग के लिए केवल साधक है ।

### स्वामिनारायणवाच्य

चित्त की सभी दुरितों का प्राथमिक विनाश जिस समीप में होता है उस असम्भ्रान्तसमय क इति है । असम्भ्रान्तसमय में चित्त में केवल दुरितों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं अतः इसे संस्काररोधसमय भी कहते हैं । असम्भ्रान्तसमय में प्रकल्पितसंस्कारों का भी निरोध, निरोधसंस्कारों से ही होता है और अन्त में सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में हो रहते हैं और चित्त के साथ ही अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष स्वरूपावस्थित होकर केवल ऊर्ध्वाधोमुख को प्राप्न करता है ।

1 - " वृत्त्यविशेषः = वैशिष्ट्यं = उत्कर्ष इति दास्य । "

" व्युत्थानसंस्कारान्तो परबेरायै सम्भ्रान्तः समीप-र्षवतीति । "

-- भाष्यतो पृ 60 F

2 - " सर्वज्ञां घृतीनां विरामश्च - अव्यक्तविलयश्च, प्रत्ययः = कारणं दास्यं बेरायं युक्तेषु व्यस्यम्, तदव्यक्तः = तत्प्राप्तितम्, तत्पूर्वः = तद्धारकः, अन्धोऽसम्भ्रान्तसमीप-र्षवतीति । "

-- स्वामिनारायणवाच्य - पृ 85 F



असम्भारतमतिथि में कोई वीर्यकृति नहीं बनती । परंपरारथ द्वारा दम्बबीजभावता का प्राप्ति कृतिपूर्वक चित्त में पुनः प्रमुख नहीं हो पाती । अतः इस इस सन्धि में कुछ ध्यान नहीं होता है इसी आधार पर इस सन्धि का नाम असम्भारत दिया गया है । असम्भारतसन्धि को ही निर्बीज-सन्धि भी कहते हैं । श्लोक अतस्त्वन रचित इति के कारण यह सन्धि निर्बीज-सन्धि है । असम्भारत-सन्धि के दो श्लोक मिल गये हैं । (1) श्वप्रत्ययसम्भारतसन्धि (2) उपाय-प्रत्ययसम्भारतसन्धि ।

श्वप्रत्ययसम्भारतसन्धि -- श्वप्रत्यय असम्भारतसन्धि विदेहों तथा पृथ्वीतलों को होते है । शरीर की अपेक्षा नहीं करते हुए केवल वीर्यकृतियों के द्वारा रहने वाले विदेह कहे जाते हैं । ये सिद्ध योगी होते हैं ये श्लोक से बिना किसी साधन का अनुष्ठान एक शरीर के भाव द्वारा शरीर जी रचना करने में समर्थ होते हैं । ऐसे सिद्धों को जन्म से ही असम्भारतयोग की सिद्धि प्राप्त रहती है । इसके लिए उन्हें किसी साधन के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती । विदेहसिद्ध शरीर को अपेक्षा नहीं करते हुए केवल वीर्यकृतिमय अवस्था में रहते हुए जन्म में कृतियों के संहार शंकावस्था में पहुँच कर केवल को वशा के समान मोक्ष की स्थिति का अनुभव करते हैं । जब पारथ कर्षों का विपत्त दूर हो जाता है तब से कुछ काल पश्चात् अपनी इच्छानुसार न्यून शरीर धारण कर लेते हैं । शरीर धारण उनकी इच्छा के अधीन है अतः संहार में लोग उन्हें ईश्वर तथा देवता की ही उपाधि भी देते हैं ।

1 - " असम्भारतये ध्येयोऽर्थो यत्र सः असम्भारतः । "

- स्वा०न०प० पृ० 86

2 - " शरीरनेरपेक्षेणवीर्यकृतिमत्त आत्मनो देवाद्यो पुण्योपायमानः तेषां साधनानुष्ठानं विदेहा सम्भारतयोगो भवप्रत्ययो ऽ भवः संहारः जन्म इति यावत् तन्निमित्तको भवति । ते तु योगिनः सिद्धयोरने एव । "

— वही पृ० 86 ।

ब्रह्मसूत्र के अर्थ को समझाने के लिये अनेक उपायों को उपलब्ध करने हुए अपने ही शरीर को अद्यतन में वह ब्रह्म के किन्हीं भी अर्थों में लीज कर अन्ततः शरीर में रहते हुए केवलत्व के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं। कुछ निश्चित समय के उपरान्त वे फिर से इस संसार में जन्म ले लेते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि पुनः जन्मकारण वे स्वयं से करते हैं। ब्रह्मसूत्र के अर्थ को समझाने के लिये पुनः जन्मकारण वे स्वयं से करते हैं। अतः इनके योग को भवप्रत्यय-असम्भवात्समाधि या योग कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों को भी देखता, ईश्वर नाम से संसार में लीज कर लेते हैं।

उपायप्रत्यय असम्भवात्समाधि -- ब्रह्मसूत्रों के अनुष्ठान से जो असम्भवात्समाधि होती है वह केवलत्व-भावक होती है। उपायों का निर्वहण इन शरीरों में किया गया है। योग का फल भवप्रत्यय है अतः इससे प्राप्त के लिये योग में भाव, शक्ति का होना शक्य है। शक्य के अन्तर्गत ही जन्म पर योग के चित्त में उत्पन्न उत्पन्न होता है। शरीर द्वारा योग के विरोधी ब्रह्मसूत्रों के लिये फल प्राप्त होता है और योगी को योग की प्राप्ति होने में सहायता मिलती है। आत्मविषयक अद्वैत ध्यान शक्ति है। यमादि उपायों से हुए हुए चित्त में ही समाधि होती है इसमें आत्मविषयक सत्यज्ञान प्राप्त होता है जिसे असम्भवात्समाधि कहते हैं। ब्रह्मसूत्र और पुरुष का विशिष्टज्ञान ही विशेषज्ञ है। इन उपायों के अनुष्ठान से योगी केवलत्ववाक्य असम्भवात्समाधि को प्राप्त करता है। असम्भवात्समाधि का साक्षात् उपाय परमेश्वर है।

1 - " ब्रह्मसूत्रेण जडतत्त्वान्पि स्थानमभिव्यक्तं तदुपासनया प्रकृतं चित्तं शरीरं शरीरेण सह तदुपायव्यभिचारेण जडरूपेषु लीना ज्ञानिनः । तदीयं सत्तत्त्वकार-  
शरीरेण चित्तैः केवलत्ववदनुभवस्तु इव । " -- काठोपनिषद् पृ० ४६

2 - " परमेश्वरान् गुण वेदुःखान्कारणकारणान् असम्भवात्समाधि-  
रतिर्भवति । " स हि 'सत्त्वपुरुषाद्यतत्त्वान्पि परमेश्वरं केवलं प्रकृतं  
यदेवेति तथा परमेश्वरं पुरुषं समर्पयति । "

व्यासभाष्य

ईश्वर नितामृत शुद्ध तथा सभी प्रकार के क्षेत्रों से अपराहृत है । क्षेत्रों का उससे सम्पर्क न तो ज्ञान में था न वर्तमान में और न भविष्य में भवति वह तथा से क्षेत्रों से अपराहृत है इती मित् ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है । ईश्वर नित्यमुक्त है । वह कैवल्य प्राप्त कर लेने वाले क्षेत्रों की तरह मुक्त नहीं क्षेत्रों से केवल पुरुष ज्ञानोत्कमल में बन्धनों से बंधे रहते हैं और ज्ञाने बल कर ज्ञानो साधना के बल पर उन बन्धनों को छीनकर मुक्त होते हैं । ईश्वर की मुक्तता इनसे किन्तु है । ईश्वर तो सदैव से मुक्त है वह कभी भी किसी भी काल में बन्धनयुक्त नहीं रहता है अतः उसकी मुक्ति नित्यमुक्ति है ।

ईश्वर में शैक्यत्वादि का भी व्यपदेश नहीं हो सकता क्षेत्रों की व्यपदेशों के अन्तर जो पुरुष-तत्त्ववैश्वानर है उसमें जलिया, अग्निता, राग, क्रोध और क्षीणित्येव नामक क्षेत्रों, धर्म-अधर्म-एक कर्मों, उनके विपक्षों तथा विपक्षों से बनने वाले कर्मक्षेत्रों के भौग का व्यपदेश होता है क्षेत्रों परस्पर चित्ताधिक अर्थों में फिर भी व्यवधानकाल में बुद्धि से संघर्ष होने के कारण वह बुद्धिगत सुखीवदुखी का भोक्ता कहा जाता है । परन्तु ईश्वर में क्षेत्रों तथा वस्तुनामों का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता क्षेत्रों का बुद्धिगत सुखदुःखादि से सम्पर्क नहीं होता ।

.....

- 1 - " यो ह्यनेन भोगोऽपराहृतः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।"  
 - व्यासभाष्य पृ० 66 F
- 2 - " कैवल्यं प्राप्तास्तौर्हं सन्ति च तद्वचः कैवलीनः । ते हि ज्ञीणि बन्धनानि छिद्यन्ता कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरश्च च तत्कवन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्ताश्च पूर्वा बन्धकोटिः प्रसक्तानि, नैवमोषिकश्च । यथा वा प्रकृतिं सोमशोस्तरा बन्ध-कोटिः सप्तम्यते, नैवमोषिकश्च । सतु सदैव मुक्त सदैवैश्वरशीत ।" - वही पृ० 66 F

ईश्वर देववर्षायुक्त है। ईश्वर का देववर्ष साक्ष और शीतल से विनिर्मुक्त है। इसके समान देववर्ष में तो किसी चीज पर के और न इससे बढ़कर कोई अन्य देववर्ष है अतः शास्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर का देववर्ष साक्षशीतल-विनिर्मुक्त है। ईश्वर को इस देववर्ष का प्रमाण हमें शास्त्रों से मिलता है। पुनः यह पूछा जा सकता है कि इन शास्त्रों की क्या प्रामाणिकता है ? उत्तर है — ईश्वर ही इन शास्त्रों का प्रमाण है। इस प्रकार ईश्वर के देववर्ष और साक्ष के बीच निरन्तर सम्बन्ध है। ईश्वर का उत्कर्ष इनका साध्य है इस प्रकार ईश्वर और शास्त्रों में वाच्य-वाचक भाव सर्वथा भी सिद्ध होता है। यह सर्वथा भी निश्चय सिद्ध है क्योंकि दशमे 'सुष्टि' में ईश्वर के देववर्ष का स्वस्व इन शास्त्रों के द्वारा ही ज्ञान जाता है। ईश्वर का ज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि ईश्वर को भूत, वर्तमान और भविष्य का अतीन्द्रिय ज्ञान रहता है। ईश्वर को क्या-क्या प्रतीतियों के ऊपर निःस्वार्थभाव से डोली है इसी ज्ञान को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने लिखा है — "तस्यात्मानुसहामिडिपि भूतानुसहः प्रयोजनम् ज्ञान-क्षोपदेशेन कल्प प्रलय महाप्रलयेषु संक्षारिणः पुरुषानुसृष्टिर्ध्यामीति ।" पृ० 66 . योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर अवतार नहीं धारण करता है। प्रतीतियों को रक्षा के लिए अपने सकल शक्त से जीवों पर उद्धार करता है। ईश्वर शरीर है, सर्वव्यापी है, यह सभी गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि ईश्वर का काल से अवरोध नहीं होता वह निष्कलाकारित है सभी सुष्टि में यह पूर्ण से विद्यमान माना जाता है अतः जब तक जितने भी गुरु हुए हैं उन सभी का यह गुरु है।

। - "सत्यमपितद्वर्षति सदेवैश्वरः सदेव मुक्त इति । तच्चतस्रैश्वर्यं साक्षात्साक्षविनिर्मुक्तम्, न तस्य देववर्षान्तरेण तद्विज्ञायते ।"

— व्यवसाय पृ० 67 f

सत्येश्वर की

ईश्वर न तो घेतन है और नहीं अघेतन है बल्कि ईश्वर केसा, कर्म, विपत्साधारणों से अपराहृत्य पुरुष विरोध है । ईश्वर सदेव मुक्त है । यह वृत्त वर्तमान और बहिष्प्य दोनों कालों में सभी प्रकार के बन्धनों से रहित है । यहाँ पर वाचस्पीतीगत्र में प्रकृतितय-प्राप्त तथा विवेकप्राप्त तथा कैवल्यप्राप्त योगियों से तुलना करते हुए यह विवेचन पश्चुत किया है कि जत योगी कैवल्य प्राप्ति के पूर्व बन्धन में अवल्लय रहते हैं । अपनी साधना के क्त पर बन्धनों को दूर कर कैवल्य को प्राप्त करते हैं । परन्तु ईश्वर तो सदेव से मुक्त है तथा भी बन्धनों का स्पर्श ईश्वर को नहीं हुआ इसीलिए ईश्वर को पुरुष-विरोध तथा सदेव-मुक्त कहा गया है ।

ईश्वर प्रकृतिसत्य को धारण करता है परन्तु ईश्वर के सत्य में अविद्या का तेषामात्र भी सम्पर्क नहीं होता है । ईश्वर अपनी इच्छा से प्राणियों का उद्धार करता है यह उद्धार की क्रिया, ज्ञान कर्म के उपदेश द्वारा सम्पन्न होती है । इस ज्ञान आर धर्म का उपदेश हमें शास्त्रों के द्वारा प्राप्त होता है ।

ईश्वर सुष्टि और संहार की क्रिया अपनी इच्छानुसार करता है । इन कार्य से ईश्वर की विशिष्टता में तथा ऐश्वर्य में कोई अन्तर नहीं आता । ईश्वर का उक्त कर्म शाश्वत् है । महाप्रलय के समय भी ईश्वर का चित्तसत्य प्रधान में किलीन नहीं होता क्योंकि ईश्वर का ऐश्वर्य, उत्कर्ष, शाश्वत है हमेशा रहने करता है । अतः वह प्रकृति में किलीन नहीं होता ।

.....  
 1 - " एह त् पुत्रापरकीटनिमेष इति । सविष्य विरोधं वर्णयति स तु सदेव मुक्तः सपेश्वर इति ।  
 --- त० य० पृ० 68 ।

2 - " न श्वेश्वरस्य सवाप्येतश्चापि यथापि नुवभित्तुत्समुत्कर्षेण सह स्वस्वतीगभावः सङ्कथः सपेश्वरीयता उक्तम् - प्रकृतिसत्त्वापावानुर्वीति । - - - अि तु तापत्रय - परातन्त्रित्य भाव महावन्धनेनुवृत्तिरिष्यतिम ज्ञानसमीपवेशन ।"  
 --- वही पृ० 68 ।

3 - " अनादौ तु सृगसंहारप्रकथे सगन्तरसमुत्पन्नसिद्धीर्षावधिसमये पूर्णं मया सत्त्वप्रकर्मउपाशेषः इति प्राणिकान् कृत्वा भगवान्मैगस्तुजहार - - - न श्वेश्वरस्य चित्त-सत्त्वं महाप्रलयोपि न प्रकृतिसत्त्वमुपेतंति वाच्यं ।"  
 --- वही पृ० 68 ।

यस उक्तता है कि ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हुए कहते हैं - ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का प्रमाण शास्त्र है । इस शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण शास्त्र नहीं है । उसका कारण प्रकृष्ट-सत्य है । शास्त्र का प्रमाण प्रकृष्ट सत्य है साथ ही शास्त्र का कारण भी प्रकृष्ट-सत्य है । इस प्रकार शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष में तन्मोल्याभय बोध नहीं है क्योंकि शास्त्र का कारण श्रवण या आयुष्य प्रकृष्टसत्य है , शाश्वतिक उत्कर्ष नहीं । जब कि शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण या आयुष्य शास्त्र नहीं है । शास्त्र स्वयं में दोनों स्तरों पर प्रकृष्ट सत्य ही प्रतीत है तर्थात् शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष दोनों का कारण प्रकृष्ट सत्य है न कि परस्पर एक दूसरे के कारण है । शास्त्र स्वतः प्रामाण्य है । भौतिक मन्त्र आयुर्वेद का व्यवहार में लाने पर यह देखा जाता है कि ये शास्त्र अपनी सत्कार्यता का प्रमाण स्वयं देते हैं । अतः इनके लिए वाचस्पतिविरक्त ने टीका ही लिखा है कि 'प्रकृष्टित्वात्प्रामाण्यव्यक्त्यादिवाचस्पतिविरक्त्यात्प्रामाण्यं सिद्धम् ।' अतः यह स्पष्ट है कि इन शास्त्रों की प्रामाणिकता ईश्वर से नहीं सिद्ध होती बरन् स्वयं सिद्ध है । परन्तु कारण की दृष्टि से ईश्वर का प्रकृष्ट सत्य इन शास्त्रों का कारण है । ईश्वर का प्रकृष्टसत्य रजो, तमो गुणों के स्तरों से रहित नितकृत शुद्ध तथा प्रकृष्टस्वैयं प्रकृतप्रमाण है अतः उसका सत्त्वोत्कर्ष इतना अधिक उच्च भौतिक का है कि उसमें रजोगुण तमोगुण का प्रम मातृ भी नहीं होता । इतिहास ईश्वर के सत्य को प्रकृष्टसत्य कहा गया है ।

। - " न ज्येश्ठरथश्वत्सवर्षं शास्त्रमिदं युक्तम् । कथयिष्यामि ह्यं  
 ज्ञयादात्मेनैवैवंप्रकृतानादीति मत्तः । परिहंसति प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । "

- तत्वो ७० पृ ७१ ।

### राजमार्तण्डवृत्ति

अधिप्यादि क्षेत्रों से विहित, प्रतिपिच्छ और ध्यामय रश्मि कर्णों, कर्णों के विपाक तथा कर्माद्य संस्कारों से तोनों कक्षों में अपराङ्गुट पुरुष विशेष ईश्वर है । ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से सारे जगत की दृष्टि और उद्धार करने में समर्थ है ।<sup>2</sup> यद्यपि सभी जलारी पुरुषों में निहित आत्मतत्त्व भी उसी का और है परन्तु बुद्धि से संयुक्त होनि के कारण इन आत्मतत्त्वों में अज्ञान, कर्माद्यादि का व्यवेशमात्र तब होता ही है, परन्तु ईश्वर में क्षेत्रादि का व्यवेशमात्र ही नहीं होता, क्योंकि ईश्वर का क्षेत्रीयक वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः तोनों कक्षों में भी इतका क्षेत्रादि से कोई सम्बन्ध नहीं होता । अतः वह ईश्वर विलक्षण है अर्थात् विशेष लक्षणों वाला है ।

#### ईश्वर की विशेषताएँ —

- 1) ईश्वर का सर्वोत्कर्ष अस्ति है ।
- 2) ईश्वर सदा मुक्त है अतः मुक्ति प्राप्त किए जीवों से उसकी कोई समझता नहीं है ।
- 3) ईश्वर एक ही अनेक नहीं ।
- 4) ईश्वर का क्षेत्रवर्ग अपनी परात्मज्ञा घर है । उसके क्षेत्रवर्ग की ओर कार्य सीमा नहीं है । वह अकालवर्षित अक्षय तत्त्व है ।
- 5) ईश्वर अपने वयानु स्वभाव के कारण दृष्टि के अन्त में प्रतिबर्णों का उद्धार करता है ।

1 - " विमन्तीति क्षेत्रा अधिप्यादयो वक्ष्यमाणः । विहितप्रतिपिच्छ ध्यामिधरसाधिकर्माधि । विपच्यन्त इतिविपच्यः कर्मज्ञानि ज्ञानानुर्ध्वगाः । आत्म-विपच्यधिकित्तुमो शेरत इत्यासाया वासनक्षत्राः सभराराक्षीरघराङ्गुटीकन्धवि फलेषु न संस्पृष्टः । पुरुषविशेषः - अक्षेद्यः पुरन्धेयो विविच्यत इति विशेषः । "

— राजमार्तण्डवृत्ति पृष्ठ 63 F

2 - " ईश्वर ईशानशील इच्छामन्त्रिण सकलजगत्कुरण वयः । "

- वही पृष्ठ 63 F

- 6) ईश्वर सर्वज्ञ है । उसकी सर्वज्ञता दृष्टि के अति से अतः तब सिद्ध है । उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है । ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है ।
- 7) ईश्वर का ऐश्वर्य शान्तल से प्राप्त नहीं परंतु स्वभाविक है । ईश्वर शान्तल वात्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शान्तल है ।
- 8) ईश्वर का वाचक "प्रणव" या "ओम्कार" है । वाचक और वाच्य का संबंध नित्य है । चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । परिभाषितवाच्य वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव का संबंध भी नित्य है । इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरन विशेष कहा गया है ।

1 - " आद्यानां सृष्ट्यां ब्रह्मवीनामपि स गुरुत्वदेभ्यः ।"

— २१०भा०बु० पृ० ७० १

2 - " वाच्यवाचकभावतस्ततः संबन्धो नित्यः ।"

— वही पृ० ७३ १



- 6) ईश्वर सर्वज्ञ है । उसकी सर्वज्ञता दृष्टि को ज्ञान से अलग तक सिद्ध है । उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है । ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है ।
- 7) ईश्वर का ऐश्वर्य ज्ञानबल से प्राप्त नहीं बल्कि स्वाभाविक है । ईश्वर शक्तिवत सत्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शक्तिवत है ।
- 8) ईश्वर का वाचक "ब्रह्म" या "अक्षर" है । वाचक और वाच्य का संबंध निश्चय है । चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । परिणामस्वरूप वाच्य ईश्वर और वाचक ब्रह्म का संबंध भी नित्य है । इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरुष विशेष कहा गया है ।

1 - " ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मज्ञानं स गुरुः-ब्रह्मज्ञानम् ।"

— श्रुति १०० १० १० १०

2 - " ब्रह्मवाचकब्रह्मज्ञानः संबन्धो नित्यः ।"

— श्रुति १० १० १०

## विवरण

\* ईश्वर \* को पुरुष विशेष कहा गया है । 'ईश्वर' केना, कर्म और विपश्चातों से तीनों कर्मों में प्रकृष्ट है । सामान्यपुरुषों में कुछ पुरुषों का इन क्षेत्रों से सर्वथा जीवनपर्यन्त बना रहता है, केवलविविधताभी योगी का मेल की अवस्था के पूर्व काल में इन क्षेत्रों से सर्वथा बना रहता है, परन्तु ईश्वर ही एक ऐसा तत्त्व है जो तीनों कालों में इन क्षेत्रों से प्रकृष्ट रहता है । 'प्रकृष्ट' का अर्थ विवरणकार ने 'असम्बन्ध' किया है । ईश्वर का क्षेत्रादि से किसी भी काल में कोई सम्बन्ध नहीं होता है<sup>2</sup> । वह सर्वत्र युक्त है ।

ईश्वर का क्षेत्रवर्ष निश्च, निरतिशय तथा अन्य सभी क्षेत्रवर्षों से उत्कृष्ट प्रकार का क्षेत्रवर्ष है<sup>3</sup> । प्राय उलटा है कि ईश्वर का क्षेत्रवर्ष अनिमित्त है यह निमित्त । 'निमित्त' शब्द को इन्होंने 'कारण' का पर्याय माना है जब कि अन्य व्याख्याकारों द्वारा, वाचकार, वाचस्पतिमिश्रादि ने 'निमित्त' शब्द को 'प्रमाण-धारी' माना है । विवरणकार का कहना है कि 'ईश्वर' के प्रकृष्टतत्त्व को न तो 'सकारण' माना जा सकता है और न ही निष्कारण, क्योंकि यदि ईश्वर के प्रकृष्टतत्त्व को सकारण मानते हैं तो ईश्वर की स्वस्वगत विविष्टता अर्थात्, 'सर्वेश्वरत्व' की इति उत्पत्ति होती है और यदि ईश्वर के प्रकृष्टतत्त्व को निष्कारण प्रकृत्या निमित्त मानते हैं तो स्वभावज्ञानबोध की सम्भावना होती है ।

1 - " न कालविविष्टता, उपलक्षणार्थत्वं -- न पराङ्मुखते, नापि पराङ्मुखते-  
नापि पराङ्मुखते इति । "

— विवरण पृ० 54 F

2 - " क्षेत्रात्कर्मविपश्चातवासम्बन्धी (श्वयोगी) तर्कः । "

--- वही पृ० 54 F

3 - " नित्यनिरतिशयसम्बन्धानेवार्थं शक्ति सञ्चितकार्थः । "

--- वही पृ० 54 F

ईश्वर का प्रकृत सत्त्व निष्कारण नहीं है । शक्ति तबका निमित्त कारण है । 'शास्त्र' का तात्पर्य है 'ज्ञान' । शास्त्र के द्वारा जो हमें ईश्वर के उत्कृष्टसत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है अतः ईश्वर के उत्कर्ष को समीक्षित माना जाता है । ईश्वर के उत्कर्ष और शास्त्र में परस्पर बोजगद्वुरवत् अनविदितपक्ष है । अतः यहाँ पर ईश्वरोत्कर्ष को ज्ञान (शास्त्र) का कार्य और 'शास्त्र' को 'ईश्वरोत्कर्ष' का कारण मान्य है । शास्त्र और 'ईश्वरोत्कर्ष' में परस्पर प्रमत्त-प्रमेय स्वरूप अनविदितपक्ष है । ईश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान यद्यपि हमें शास्त्रों से ही प्राप्त होता है परन्तु ईश्वर का ज्ञान अनुमान प्रमत्त के द्वारा होता है ।

'ईश्वर' के उत्कर्ष की सकारणत्व को सिद्ध करने के उपरान्त उसके श्रेयस्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है । 'ईश्वर' का श्रेयस्य 'सम्प्रदाति-शायिनिर्भूत है । ईश्वर के श्रेयस्य के समस्त प्रकृत श्रेयस्य और कोई नहीं है । इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए विवरणकार ने ईश्वर के स्वस्य का उत्तम श्रेयो-निश्चित पक्षियों में किया है ।— "

" तस्माद्यस्य सशक्तिव्य श्रेयोभित्त-श्रेयस्यं स ईश्वर इति  
प्रधानपुरतः श्रुतिरिवतः पुरतश्चिश्रेयोभित्तः श्रुतः ।"

1 - " तत्र यथैव ज्ञानसंसारकृति प्रकृतानामश्रेयोनिमित्तमौत्सुक्यव्येन  
बोजगद्वुरवत् अनविदितपक्षः । "

— विवरण पृ० ५३ ङ

2 - " तत्रोत्कर्षो ज्ञानस्य कार्यमेव । ज्ञानमपि तत्र कारणमेव । "

— वही पृ० ५५ ङ

3 - " शतयोः शक्तिोत्कर्षयोः प्रमत्तप्रमेयत्वतिसिद्धयन्तः श्रेयोभित्तः । "

— वही पृ० ५६ ङ

4 - " ईश्वरप्रामाण्यस्यानुमानेन श्रुतिसिद्धिः । "

— वही पृ० ५६ ङ

5 - " इत्येव -- विवरण पृ० ५७ ङ

ईश्वर निरतिशय तथा सर्वज्ञता का बीज है । इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । यह अतीन्द्रिय ज्ञानवान् है । 'अतीन्द्रियज्ञान' का अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान । ईश्वर ही एकमात्र ऐसा ज्ञाता है जिसे उक्त दोनों कालों-सर्वथा ज्ञान रहता है । ईश्वर, ज्ञान की प्रकृष्ट-परत्प्राप्त्य है । यही तिरु उसे सर्वज्ञ कहा गया है ।

ईश्वर ही इस संसार का निर्माता है, परलोक है और संसार धारक है <sup>2</sup> । ईश्वर में ही शेषव्य की परत्प्राप्त्य है इसीलिए उसे 'परब्रह्म' की भी संज्ञा दी गई है । ईश्वर का ज्ञान प्रकृष्ट ज्ञान है, उसमें विपर्ययाधिक्य तथा भ्रम की भावना नहीं होता । ईश्वर ब्रह्मानु है । प्राणियों पर अनुग्रह कर उन्हें शिवद्वारा ही पदक से विनिर्मुक्त कर धर्म और ज्ञान का उपदेश देता है और उनका एक संसार से उद्धार करता है । ईश्वर ही सभी प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार कल देता है <sup>3</sup> । ईश्वर की इन सभी विशेषताओं का ज्ञान, आगम और अनुमान प्रमाण से होता है ।

1 - " अतीन्द्रियग्रहणं त्रिविधम् - सूक्ष्मविषयं अद्वैततत्त्वमित्यं विष्णुश्रुत्य-  
विषयं । " - - - स सर्वज्ञः तिरुः । "

- बिबरन पृ० 57 f

2 - " तेन अग्निर्मन्त्रिभ्यापनोपसंहराविकर्तुं शकितिरुः । तयैश्वर्यं धारिण  
वर्षमानश्च यत्र काष्ठप्रापितः , स परब्रह्मणः । तत्रैव अत्राभ्याविकविर्ययवोभभावि-  
रुः । " - - -

- बही पृ० 57 f

3 - " तस्मात् प्रधानपुरुषश्चातीरकः सर्वप्राणिभक्तकर्मफलपरिस्फुरणजाना-  
स्तदनुग्रहकारणम् ईश्वरः तिरुः । स प्रकृष्टतत्त्वस्वीयावान् ईश्वरः कथं कर्ता ?  
कथं ज्ञानुग्रहणीत ? इत्येवमतिथं न योर्दीपित्यम् । आगमतः पर्यवेष्ट्या इदुक्तत्वात् ।  
अनुमानश्च य तिरुव्यवस्थानुपपत्तिः विशेषतः क्वागतभीति । "

- बही पृ० 73 f

### योगवार्तिक -

चिन्तानिष्ठु ने ईश्वर को पुरुष विरोध मानते हुए ईश्वर को पुरुष से स्वयम् वृक्ष नहीं माना है । योगवार्तिक में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि - " तथा शेषशरणा पुरुषैः स्वतर्कव्यस्तदुपाधिः प्रथमे जीत शेषः ।" योगशास्त्र ० ७०१ अर्थात् ईश्वर का स्वतर्क पुरुष में और उसकी उपाधि का स्वतर्क प्रथम में होता है। ईश्वर सामान्य पुरुष नहीं है । यह पुरुष-विरोध है । विरोधता का मत को है कि साधारण पुरुषों में शैली, कर्म, विपाके का व्यवहार होता है क्योंकि प्रत्येक पुरुष को बुद्धि तद्-तद् कर्मों में अनुरक्त रहती है। अतः प्रत्येक यह पुरुष को शरीर माना गया है परन्तु विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं से युक्त, बुद्धि के कारण इन साधारणपुरुषों का व्यवहार पुरुष में होता रहता है परन्तु ईश्वर में इन शैली कर्मों का व्यवहारमात्र ही नहीं होता अतः ईश्वर को विरोध पुरुष कहा गया है ।

ईश्वर शेष मुक्त है <sup>१</sup> । कैवल्य प्राप्त योगियों से ईश्वर के कैवल्य-स्वरूप की तुलना नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर में शैली परास्मर्यप्राप्त है जब कि योगी अपने अतीत फल में शेष शरीर शैली से परास्मर्य रहता है ।

1 - " ते हि शिरःपदगर्भायः प्राकृतिकानि ऋणानिपृथीक्षितानि विवेक मुक्ताः, न तु शैलीपरामर्शान्या, ईश्वरस्तु सर्वैक शैलीत्वं ध्यान-प्रवृत्त्यन्तः शून्यादि भिद्य इत्यर्थः । ईश्वरश्च तथा शैलीवि शून्यत्वे मानम् " ।

- योगशास्त्र ० ७०१

2 - " सर्वैकमुक्त जीत । शुद्धाव्य इत्यर्थः । सर्वेश्वर जीत । "

- शरीर ० ७०१

ईश्वर का देवत्व सभी देवत्व से बढ़कर है । ईश्वर की उपाधि - प्रकृष्टकर्तृता को है । ईश्वर की उपाधि-साक्षत तथा निव्य है । सृष्टि और संसार नामक उपाधियाँ ही ईश्वर की उपाधि है । ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सृष्टि और संसार का एक बनाता रहता है । ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण हमें शास्त्रों में प्राप्त होता है और शास्त्रों की प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध मानी गई है अतः ईश्वर और शास्त्रों की प्रामाणिकता के संकष में अन्विष्टाश्रय बोध नहीं पाया जाता है ।

ईश्वर कोई अवतार नहीं होता । ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, शक्ति का भी मूल है । ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहा गया है । कारण वही प्रकृति की साक्षात्कार का संकल्प कर सृष्टि के लिए समर्थ बनाता है । विज्ञानविदु ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार किया है । इसके साथ ही साथ विज्ञानविदु ने ईश्वर को निर्गुण भी कहा है । निर्गुण इस लिए कि ईश्वर गुणों के अधिमान से शुभ्य है इस विवेचन का युक्त करने के लिए ही <sup>स-शेने</sup> गीता से उद्धरण भी दिया गया है -

“ परन्तु निर्गुणः प्रोक्ते इष्टकारयुतोऽपरः । ”

## योगदीपिका

'ईश्वर' का तत्त्व-प्रतिपादन सुन के शब्दों में ही महागोेश ने पुरुष के स्वरूप की विवेचना की है। शैवा, कर्म, विपाक, महागोेश्याय शब्दों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इन सबके मूल, सर्वमूल और अधिष्ठ में अपराङ्गत पुरुष-विरूप 'ईश्वर' है। ईश्वर जोहों अर्थात् आत्माओं से प्रसूत है, विशिष्ट है शैविक दृष्टिसे जोहात्मा भी शैवाय से प्रसूत है, परन्तु अधिष्ठ होने के कारण शैवाय का इन जीवात्माओं में व्यपदेश होता ही है। ईश्वर में शैवाय का व्यपदेश मात्र ही नहीं होता।

ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। ईश्वर अन्तर्दामी है, यह विद्वान्-गर्भस्थ का भी गुरु है, गुरु होने के कारण ईश्वर का ज्ञान सब्द प्रदान करने वाला भी कहा गया है। यह चिन्मय, अविनाशी है, महागोेश, सृष्टि-सम्पन्न सिद्धात्म को स्वीकार करते हुए ईश्वर के संबन्ध में लिखते हैं कि जीवात्माओंपरिधि है और ईश्वर कारणोपरिधि है। महागोेश ने 'ईश्वर' के स्वरूप के संबन्ध में वेदान्त तानि के वर्णन को भी स्वीकार किया है।

-----

। - " कर्षोपरिधिर्द्वयं जीवः कारणोपरिधिर्द्वयः ।" इति श्रुतेः ।

## पारमार्थिकयोगसूत्रप्रदीपिका

शैव, कर्म, विपत्तियों तथा कर्मकार्यों से शरारद्गुण्ड पुरुष विशेष  
सर्वत्र है । शैवर सर्वत्र मुक्त है । कैवल्य प्राप्त मुक्त जीवों से शैवर का  
मेख नितम्ब पृथक् है । कैवली की मुक्ति कृतकाल में नहीं होती अर्थात् मेख के  
पूर्व में बर्ण रहते हैं परन्तु पुरुष किसी भी काल में बर्ण नहीं रहता है ।  
बहु तो सब से ही विनिर्मुक्त है । बहु तीनों कालों में अज्ञातविशेष अस्मिन् होता  
हुआ मुक्त रहता है ।

शैवर अपनी इच्छा मात्र से उस सत्त्व का उच्चार करने में  
समर्थ है । इस कार्य का सम्पादन शैवर जान, किया और शक्ति स्थापित करता  
है । राजस, तमस रहित, विशुद्ध सत्त्व के प्रकाश से ही पुरुष प्राणियों का उच्चार  
करता है । सत्त्वगुण का परिग्रहण कर शैवर सृष्टि का कार्य करता है और तमो-  
गुण का परिग्रहण कर संहार करता है । इन गुणों का ग्रहण कर लेने से शैवर  
के शक्तिवत् तथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस संघट्ट में शैव वर्णन भावाग्रेसर  
की श्रद्धा की ही तरह है ।

1 - " कालत्रयेऽप्यशरद्गुण्डः पुरुष-विशेष शैवर इत्यर्थः । "

— पा०यो०पृ०१०० वृ० ११ ।

2 - " शैवरश्च वाश्वेदनामनिज सकल जगद्गुण्डरजसगुण्डम् । "

— वही वृ० ११ ।



## मीमांसा

वेदा, कर्म, विधानों तथा कर्माणां से तोनाई कर्तों में ही असम्बद्ध "पुरम्" "विशेष" ईश्वर' है । 'विशेष' शब्द द्वारा ईश्वर की मुक्ति की विशेषता विचार्य गई है । मुक्तजीव मुक्ति के पहले कथन में भाव्यता रहते हैं अतः उनका योद्धा तोनों कर्तों में नहीं होता परन्तु ईश्वर तो स्वयम् से ही शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है । वह तो सब से मुक्त है अतः उसकी मुक्ति किसी काव विधान से सम्बद्ध नहीं है यही कारण है कि ईश्वर की मुक्ति अन्य सत्त्वों की मुक्ति से पृथक् और विधीयते है । ईश्वर प्राकृत, वैकरीक और इक्षिणाक्य इन तीनों कथनों से सर्वथा अक्षुब्ध है । इन तीनों प्रकार के कथनों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है ।

प्राकृतकथन - प्रकृति में तीन हैंनि सत्त्वों का कथन प्राकृत-कथन कहलाता है ।

वैकरीककथन - कृतेन्द्रियों में तथा प्रकृति के विकारों में तीन हैंनि सत्त्वों का कथन वैकरीक कथन है ।

इक्षिणाक्य - यह कथन वेदताओं तथा लंकारी मनुष्यों को होता है ।

ईश्वर इन तीनों प्रकार के कथनों से तीनों कर्तों में विनि मुक्त है

1 - " वेदाविधिचित्तस्यैः 'प्राकृतैः' लंकारीकः पुरम्विद्वत्स्वविवेकेन मीमांसयात् तेः कथनयोऽप्यसंबद्धः 'पुरम्' 'ईश्वरः' 'विशेष' यथेन कथनप्रदा-  
लंकायमधीना मुक्तजीवेशो ब्रह्मवृत्तिः कृता । "

- मीमांसा पृ० 12 F

2 - " प्राकृतो तीनानां प्राकृतो कथः । कृतेन्द्रियेषु विकारेषु तीनानां विधेदानां वैकरीकः । अध्येषां वेदनाराशीनां इक्षिणाक्यः । "

- सत्रो पृ० 12 F

यही उसकी विशेषता है जिसके कारण उसे "विरोध" "पुरुष" कहा गया है ।

ईश्वर निरतिशय ज्ञान, क्रिया और शक्ति से सम्पन्न है ।

ईश्वर सुदृढ़ सत्त्विक चित्त से सम्पन्न है । अपने इस सत्त्विक चित्त द्वारा वह संसार समुद्र में पड़े हुए बुद्धी प्राणियों का उद्धार करता है । प्राणियों के उद्धारार्थ वह ज्ञान और धर्म का उपदेश देता है । इस क्रिया का संपन्न ईश्वर सत्त्विक चित्त से ही करता है । इस प्रकार सत्त्विक चित्त की उपादेयता निवृत्त होती है क्योंकि बिना सत्त्विकचित्त की सहायता के ईश्वर लक्षणधर्मोपदेश - तत्स कार्य करने में समर्थ नहीं होता । यह कारण कार्य ईश्वर अपने संकल्प से करता है ।

ईश्वर के चित्त-सत्त्व के विषय में एक प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के इस चित्तसत्त्व का क्या नाम है ? इसका स्पष्टीकरण व्याख्याकार ने हम शब्दोक्ति किया है । ईश्वर का चित्त सत्त्व आत्मिक ज्ञान क्रिया शक्ति से सम्पन्न है अर्थात् सामान्य पुरुषों का चित्त जड़ होता है । उसमें ज्ञान, क्रिया और शक्ति का संसार पुरुष के सम्पर्क से चित्तलक्षणावर्तित पड़ने पर होता है । बिना पुरुष के सत्त्विक चित्त जड़, अचेतन रहता है परन्तु ईश्वर का चित्त-सत्त्व स्वाभाविक रूप से ज्ञान, क्रिया और शक्ति से सम्पन्न होता है ।

। - " आत्मिकी ज्ञानचलक्रिया च एव 'सर्वेश्वर' इति चिदेववाच्यीर्यते क्रमा । "

निरतिशय सल से संपन्न ईश्वर ने ही वेद की रचना की है । ऐसा  
 शास्त्रों से प्रमाण मिलता है । ईश्वर की सर्वशक्ति वेदों से प्रमाणित होती है ।  
 ईश्वर का काल से अविच्छेद नहीं हो सकता । यह सवा ने है । ईश्वर ने ही  
 ऋग्मन्दि को भी रचना की है । अतः यह सर्वप्रकरण सिद्ध है कि ईश्वर  
 सर्ग के आदि के पूर्व से ही विद्यमान है अपरिण्त ईश्वर अनदि और अनन्त है ।

सुत्रार्थबोधनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

ईश्वर का स्वस्त निर्धारण इस व्यक्त्या में मधिप्रवा तथा भाष्यकार  
 व्यास के समान किया गया है । ईश्वर की विशेषता का उल्लेख मधिप्रवा के  
 सङ्गुप किया गया है और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन भाष्यकार की शक्ति किया  
 गया है ।

1 - " वेदप्रमत्तपरिसङ्घः सर्वक ईश्वरः । "

— मधिप्रवा पृ० 14 F

2 - " यो ऋग्मन्दि विदधाति एव यो वेदोच्च प्रतिनोति तमे । "  
 इत्याद्या ।

— वही पृ० 14 F

## भाष्यती

योग शास्त्र में वेद नित्य तत्त्व माने गए हैं । प्रधान और पुरुष । ईश्वर को यदि प्रधान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं तो ईश्वर की चेतनता बाधित होती है । ईश्वर चिन्तन, हे और प्रधान 'जड़' है । अतः "चेतन" 'ईश्वर' की परिकल्पना प्रधान में नहीं हो सकती । ईश्वर को पुरुषात्त्व के अन्तर्गत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कारण लौकिक पुरुष में इन्द्रिय, शैवुल का आरोप होने से उसमें चित्त द्वारा अर्जित ज्ञान, कर्म, विपाकाणवों का व्यपदेश भी होता है परन्तु ईश्वर में ज्ञानादि का व्यपदेशमत्र भी नहीं होता है । वह इन सबके अपराङ्मुष्ट 'पुरुष विरोध' है ।

'ईश्वर' की विशिष्टता संकली, एक पृथक् और विरोध विवेचन भाष्यतीकार ने प्रस्तुत किया है । इसके अनुसार ईश्वर जो कि केशव से सर्वथा अङ्गुष्ठ है, उसका समर्क विद्यामूलक निर्माणाचित से कदाचित होता है । ईश्वर अपने शरणा में आए हुए विवेकार्थी योगियों को ज्ञान का उपदेश विद्यामूलक निर्माणाचित द्वारा ही देता है । इस विशुद्ध सत्य द्वारा निर्माणाचित का ईश्वर से पराङ्गा होने पर भी ईश्वर के नित्यत्व में कोई बाधा नहीं होती । विद्यामूलक निर्माणाचित का ईश्वर से संपर्क होना भी उसकी विशेषता का ही द्योतक है ।

ईश्वर नित्यमूक है । उसको मुँस त्रिकालों से अवधारित है अर्थात् वह मूल, वर्तमान, और भविष्य सभी काल में सदा मुक्त रहता है । नित्यमूक

-----

। - " किन्तु विद्यामूलनिर्माणाचितेन का वाचित् पराङ्मुष्टः स पुरुषविरोध ईश्वरः । "

ईश्वर की तुलना जोधन्मुक्त प्रकृतिलीन और विवेकी ने नहीं की जूनी बाहितर । कारण इनमें से कुछ मुक्ति के पूर्व भी रहते हैं बाह में मुक्त होते हैं, कुछ भविष्य में पुनः बन्धनयुक्त हो जाते हैं अर्थात् ये तीनों कालों में मुक्त नहीं होते । इसके विपरीत ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है जो सर्वथा सभी कालों में मुक्त है, ईश्वर ही मिथ्ययुक्त है ।

ईश्वर शेषव्ययम् है । 'आनन्दिव्यवस्थित' स्वी तपित्त ही ईश्वर का शेषव्य है । सर्वज्ञता की परलक्षाञ्ज ईश्वर में ही है । इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का श्रेय कहा गया है । इसका शेषव्य सत्य और अस्तिताय से विभिन्न है । अर्थात् ईश्वर निरीक्ष्यशेषव्य से युक्त है । ईश्वर के शेषव्य के लिए सृष्टि और संहार के कार्य का उसमें अनुमान करना स्वाभाविक नहीं है । सृष्टि और संहार के कार्य का कारण अथवा ब्रह्म ईश्वरव्यवर्ण है । ईश्वरव्यवर्ण जगत की सृष्टि, पालन और संहार करता है । सृष्टि, स्थिति और विनाश के लिए ब्रह्मा, विश्व और रज्जु रूप शेषव्यताओं का अनुमान किया गया है । इस प्रकार ब्रह्मतीकार के मतानुसार सृष्टिसंहार की क्रिया का सम्भावक ईश्वर नहीं ईश्वरव्यवर्ण है ।

ईश्वर को विशिष्टता उसके वयत्तुस्वभाव के कारण भी सवीक्षित है । ईश्वर सर्वत्र है तथा वयत्तु है । अपने इसी विशेष स्वभाव के कारण वह वयत्तु शरण में शर ह्यु योगियों को शान और शर्म का उपदेश देकर उनकी रक्षा करता है । ईश्वर एक है । ब्रह्मव्यव देवता अनेक है । ईश्वर के विसृष्टता के शास्त्रत उक्तर्ण का प्रमाण शास्त्रों से प्राप्त होता है । ईश्वर का वाचक वचन है ।

1 - " स ऽ सवैव मुक्तः सवैवैश्वरः श्रित, नकमेनासंहराता एव नित्यमुक्तपुरव्याः समाख्यन्त श्रित, भव्य । "

-- भास्वती पृ० 66 f

2 - " स च नगवान परेश्वरो जगद्व्यापारतिलभो नित्यमुक्तत्वात्, मुक्तपुरव्य जगत्सर्जनमनुबध्मन् शास्त्रव्यापकोपकञ्च जगत्सर्जनपालनातिकर्तव्यमथर ब्रह्मव्योईश्वरव्यवर्णव्य । "

-- वही पृ० 75 f

3 - " ईश्वरतां कार्यं आनन्दव्योपदेशेन संसृतिर्ना पुरव्यानामुत्तरव्यम् । "

-- वही पृ० 77 f

4 - " ईश्वर एक एव ब्रह्मव्यो देवता असंहराताः । "

-- वही पृ० 79 f

स्वामिनारायणभाष्य

इस कथाप्या में ईश्वर के लिए 'परमेश्वर' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । परमेश्वर शिवद्वैतशैली, शुक, कृष्ण और अशुभकृष्ण स्व तीनों प्रकार के कर्मों तथा उनके धर्म-अधर्म स्व कर्मों से और जन्म-मौगामुक्त वातनामों से कभी भी कियो भी कल में स्पष्ट नहीं होता है । कोशकमीधपाकनाय चित्त के धर्म हैं, अतः केवल उन्हीं पुरुषों को स्पर्श कर सकते हैं, जो सचित्त हैं । पुरुष उन्हें साक्षरत्व पुरुष हैं या प्रकृतितोम या विवेक प्राप्त पुरुष हैं, सभी सचित्त होते हैं अतः वे सभी भूत शिवध्व और वर्तमान कालों में क्षेत्रादि से संबद्ध रहते हैं । इसके अतिरिक्त जोयन्मृत योगी भी यद्यपि 'योग' द्वारा इन क्षेत्रों से मुक्त होकर ही कैवल्य प्राप्त करता है परन्तु भूतकाल में तो उसका भी सम्पर्क इन क्षेत्रों से बना ही रहता है । परन्तु परमेश्वर का इन क्षेत्रों से कभी भी कियो भी कल में सम्पर्क या संबन्ध नहीं रहता है । परमेश्वर का साक्षरत्व पुरुषों से यही शेषिष्ठ्य है इसीलिए परमेश्वर को या ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है ।

1 - " ईश्वरः - परमेश्वरः, स च तस्यः ।" -

— स्वामिनारायणभाष्य पृ० 96 F

2 - " तैः सर्वैः कदापि कालविशेषेऽपरत्वाभ्येऽसंशुभः परमेश्वर इति ।" -

— वही पृ० 96 F

3 - " तथा सर्वेषां हि भूतशिवध्ववर्तमानकालान्धतमलच्छेदेन क्षेत्रकमीधपाकनायानां योगक्षयसंश्लेषान् ।" -

— वही पृ० 96 F

4 - " तद्वारणायैव 'पुरुषविशेष' इति विशेषणान् ।" -

— वही पृ० 97 F

पुरम्भ-विशेष ईश्वर की स्वगत विशेषताएँ हैं - सर्वज्ञता, सर्वमिदम्बुत्वता और सर्वेश्वरत्वता । ईश्वर को इनमें विशेषताओं के कारण इसे पुरुषोत्तम तथा 'परमात्मा' कहा गया है । उपनिषदों में 'ब्रह्म' और 'परब्रह्म' का वर्णन प्रायाः है तथा उनमें इन दोनों के अन्वयगतत्व का भी उल्लेख है । उपनिषदों में ब्रह्म से परब्रह्म को केष्ठ माना गया है । ब्रह्म में सर्वेश्वरत्व न ही होता है, परब्रह्म में ही यह सर्वज्ञता तथा सर्वेश्वरत्व होती है परन्तु योग में प्रति-पादित ईश्वर उपनिषद के परब्रह्म से भी उत्तम है । सर्वज्ञता इसी लिए योग के ईश्वर के लिए पुरुषोत्तम, परमात्मा और परमेस्वर शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

'योग' में वर्णित ईश्वर का स्वरूप गीता के 'शर' और 'अशर' ब्रह्म से भी भिन्न है । योग का ईश्वर लोगों लोगों को धारण करने वाला उत्तम पुरुष है । अक्षयतवेद्यात्म के अनुसार परमेस्वर-तत्त्व ओषतत्त्व से भिन्न नहीं है । इसी तरह स्मृतिवर्षों में भी जीव को ईश्वर का ही माना गया है । इसके विपरीत

1 - " सर्वविद्या सर्वज्ञत्ववित्ततः पुरुषोत्तम इति परमात्मा व्यापिते । "

— स्वा०न०श०पु० पृ० १७१

2 - " कठवल्गा यथा-ह्येतवेद्याऽशरं ब्रह्म ह्येतवेद्याशरं परम् । "

— वही पृ० १७१

3 - " सर्वज्ञत्वम् परब्रह्मणः तमेविति, ब्रह्मन्तु न तथा सर्वज्ञत्वम् । "

— वही पृ० १७१

4 - " एवापि मे पुराणी लोके शरशरत्वर एव च । शरः सर्वत्रि दूनानि कूटस्थाऽ-  
शर उच्यते । उत्तमः पुरम्भस्त्वयः परमात्मैत्युदाहृतः । यो लोकप्रयमार्गीत्यय विशर्वा-  
व्यय ईश्वरः । परमात्मा मतीतेऽहमशरादीप चोत्तमः जतोऽपि लोके वेदे च प्रथितः  
पुरम्भोत्तम । "

— वही पृ० 124

5 - " अक्षयतस्तु - परमेस्वरतत्त्वं जीवतत्त्वादिब्रह्म न चेतोऽद्यद्युपगच्छन्ति ।  
तेषामयमसायः - 'न हि जीवतिब्रह्मे परमेस्वरतत्त्वे किमीप प्रमाणं परमायः । "

— वही पृ० 106

6 - " ममेवसि जीवलोके जीवन्तः सनातनः । सर्ववृत्तस्थमार्गान् सर्ववृत्तानि  
वाश्रमि । "

— वही पृ० 107 F

योग में प्रतिपादित 'ईश्वर' पुरुष से विशेषता रहता हुआ 'पुरुषविशेष' मना गया है । अतिमनारायणभाष्यकार ने 'ईश्वर' सर्वभूी अथ वानि के सिद्धान्तगत मते की तुलना में 'योगवर्तन' में प्रतिपादित ईश्वर के स्वस्व को ही भेद माना है ।

'ईश्वर' में देवत्व की पराकाष्ठा के साथ साथ ज्ञान को भी पराकाष्ठा है । भूत, विश्व और वर्तमान का ज्ञान, स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान, सामान्य और विशेष का ब हुनम ज्ञान ही ज्ञान की पराकाष्ठा है । यह पराकाष्ठा ईश्वर में ही है और इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का श्रेय भी कहा गया है । तैत्तिरीय अतोक्तिक सत्ता की तुलना करते हुए ईश्वर की ही सर्वज्ञता सुपिद्य होती है । यथा- पशुओं की तुलना में मनुष्यों में ज्ञान अधिक होता है । मनुष्यों की तुलना में देवताओं में, देवताओं की अपेक्षा सत्तालोक में स्थित पितृ ऋषि में, पित्रादि की अपेक्षा प्रकृति-लीनों में, प्रकृतिलीनों की अपेक्षा धिराजनीय ईश्वरों में, इनकी अपेक्षा महत्कायत्व ईश्वर में और इनकी अपेक्षा ब्रह्मलोकस्थ महायुक्तों में, महायुक्तों की अपेक्षा अक्षर ब्रह्म में

1 - " कोशकर्मैवपुरुषादपरपराशुभः पुरुष विशेष ईश्वरः । "

-- स्वा०म०श० पृ० 96 F

2 - " कश्चिन्नीवाविकल्पं प्रयदति परमं ब्रह्म याथाऽवभासात् । स्वकीपाध्यात्मना-  
व्ये वदति तदितरः कल्पमानात्मनेवात् ।। कश्चित्त्वशिस्तनु साक्षात्परिणीतवदितस्वात्म-  
नेवात्स एते । ज्ञानता, सिद्धान्तभेदः स्वयमिद गवितो योगीषद्वात्मपतः ।। "

-- बडो पृ० 125 F

3 - " यावत्तं भूतशिविधद्वर्तमानानां श्रुतयुक्त्यपवाचनानां सामान्यतो विशेषत्वच  
जातुत्वं यवपेक्षया धनाधिकं तवपेक्षया तस्य विशिष्टत्वम्, एवमेव कश्चिदिव बहुगुणं  
कश्चिद्वहुतरगुणं कश्चिद्वहुतगुणगुणं, तदेतद्वैश्वर्तमानं यच्च निरतिशायतां -  
पराकाष्ठां प्राप्तं तत्रैव सर्वज्ञताबीज-सर्वकलाधिकरणीमिति । "

-- बडो पृ० 125 F



और अक्षरब्रह्म की अपेक्षा परब्रह्म में सर्वज्ञता होती है परन्तु ईश्वर ही प्रकृति  
 ऐसा तत्त्व है जिसके ज्ञान से अक्षरकण्ड अल्प किमी का ज्ञान नहीं है । ईश्वर ही  
 सर्वज्ञता म्यूनाधिक शेषों से युक्त है । ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है । यह पूर्व पूर्व  
 सर्गों में उत्पन्न ब्रह्माविष्णु, महेशादि का गुरु है । 'गुरु' शब्द यहाँ 'पिता'  
 'अन्तर्यामी' और ज्ञान-नेत्र प्रदान करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ईश्वर  
 ज्ञान से अनवच्छेद्य है, नित्य है, सर्वज्ञ है ।

1 - " तद्यथा - परब्राह्मण्यपेक्षया मनुष्यात्मामधिकमज्ञं सर्वज्ञत्वं तदपेक्षया देवानां  
 तदपेक्षया सत्त्वलोकादपि प्राचीनां तदपेक्षया प्रकृतिज्ञानानां तदपेक्षया विराट्जातीयेश्वरानां  
 तदपेक्षया सृष्टात्मवासोविवरानां तदपेक्षया उच्चात्सु तत्वासीविवरानां तदपेक्षया अद्भुतमहात्मना  
 वासोविवरानां तदपेक्षया प्रकृतेर्मायातो अक्षरवसित्तमां ब्रह्मलोकास्थानां महामुक्तानां,  
 तदपेक्षयाऽक्षरब्रह्मणो ब्रह्मणोऽपेक्षया च परब्रह्मणोऽपेक्षयाऽपि निरवधिर्मायितं । यतः—  
 परब्रह्मवदत् फलेश्चिदधिकः तत्समानो वा नास्ति तदपेक्षया परब्रह्मवधापि सर्वज्ञत्वमिच्छं  
 म्युनं समानं वा स्मरिषीति । "

ब्रह्मसंहिता पृ० 128, 129 ।

2 - " गुरु - पिता-अन्तर्यामी विद्यायां ज्ञाननेत्रप्रद इति याचकम् । "

— वही पृ० 129 ।

3 - " तद्वनच्छेदास्तु परमात्म दीप्ताग्निमहापणो मुक्तास्तेऽपि परिच्युता निश्चयवर्षाः  
 सर्वगुप्सुरिति । "

— वही पृ० 130 ।

व्यासवाक्य

योगसाधना के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं उन्हें योग के विघ्न कहते हैं। 'विघ्न' को ही अक्षराय भी कहते हैं। ये विघ्न-व्यधि, इष्याय, मीमां, प्रमाय, मत्तक्य, जदिरति, प्रान्तिवर्तन मत्तक्यभूमिकल और अन्वयविधत्तक्य के षेव से 9 प्रकार के हैं। ये विघ्न ही चित्त को विक्षिप्त करते हैं अतः विघ्नों को 'चित्त के विक्षेप' भी कहते हैं। सभी विघ्न चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं। चित्त की प्रमाणाधिकवृत्तियों विक्षेपों के उत्पन्न होने पर ही उदित होते हैं। वृत्तियों के बिना विक्षेपों की स्थिति चित्त में नहीं होती। इस प्रकार 'विक्षेप' और चित्त की वृत्तियों साथ साथ रहती हैं।

व्याध्यादिक के प्रभाव से ही प्रमाणाधिक वृत्तियों उत्पन्न होती हैं। अतः विक्षेपों को वृत्तियों का उत्पन्न करने वाला मानना सुदृढपूर्ण नहीं है। वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला होने के कारण ही इन विक्षेपों को योग का विघ्न कहा जाना चाहिए। अब सक्षिप में 9 वीं विघ्नों की व्याख्या की जा रही है --

शरीर के घातु, रस और श्मिन्धियों में विषमता होने पर जो शारीरिक पीड़ा होती है उसे व्यधि कहते हैं। चित्त की सक्रम्यता ही इष्याय से उपपन्नोदित स्वर्तकाल मीमां है। समीप के तापनों का ज्ञान ही प्रमाय है। शरीर के म्बरोपन के कारण चित्त की जम्बुवृत्ति ही मत्तक्य है। चित्त की विषमों के प्रयोग के प्रति सात्सा जदिरति है। मिथ्याज्ञान ही प्रान्तिवर्तन है। समीप तापना में भूमिकाओं का लाभ नहीं होता मत्तक्य भूमिकल है। प्रायः हुई भूमिकल में चित्त का प्रतिभूत न होना, ये सब चित्त के विक्षेप ही योग के विघ्न कहे जाते हैं।

। - " नमान्तरायविक्षेपस्तस्य विक्षेपाः । सहेते चित्तवृत्तित्तिवर्तनित एतेषामपाने न चक्षित पूर्वोक्तविधत्तक्यवृत्तयः । "

## सत्यवेदासारणी

योग के नवो विघ्न, चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं । अतः ये सभी योग के प्रतिपक्षी बने जाते हैं । चित्तवृत्तियों से स्वयमेव योग के मार्ग में बाधाएँ हैं योग के लिए इनका निरोध परमावश्यक है । अतः योग निरोधक चित्तवृत्तियों के साथ रहने वाले व्याख्यानिक भी योग के निरोधक सिद्ध हुए ।

नवो विघ्नों में लोभ और भ्रान्तिवर्जन विपर्ययवृत्तियों के सम्मर्गत ही आ जाते हैं अतः इनका वृत्ति होना स्वतः सिद्ध हो गया । शेष व्याख्यानिक चित्तवृत्तियों से अन्य रह कर वृत्तियाँ नहीं कहलाती हैं परन्तु व्याख्यानिक के प्रकट होते ही तत्प्राण चित्तवृत्तियाँ जड़ हो जाती हैं जो योग के लिए बाधक होते हैं । इस प्रकार नवो विघ्न चित्त की प्रवृत्तियों में सम्मर्भूत हैं । ये विघ्न चित्त का योग के मार्ग से दूर धुंदाते हैं अतः इनके योग का प्रतिपक्षी तथा चित्त का विरोधक कहा गया है । ये चित्त के विरोध के द्वारा चित्त वृत्तियों के साथ साथ भी रहते हैं । इन विघ्नों की दृष्टक-दृष्टक व्याख्या इस प्रकार से की गई है ।

व्याप्ति - धातु, रस और इन्द्रियों से शरीर की स्थिति है । वात, पित्त और श्लेष्मा धातु है । शरीर, जल से रस और विषेय परिभाषा समता है और क्रियाशीलता जिसे द्वारा होती है वे ही इन्द्रियाँ हैं । जब धातु, रस और इन्द्रियों में किसी प्रकार की विध्वंसता अथवा म्यूनविषय होता है तब शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है और उस समय जो वृत्तियाँ जीवन होती हैं वे चित्त को विकृष्ट कर योग से हटाती हैं ।

1 - "सोऽयम्विस्तारानि तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोध प्रतिपक्षी । येऽपि न वृत्तयो व्याधिप्रकृतयस्तोऽपि वृत्तिसाधनवर्तितजतिपक्षा इत्यर्थः । "

— लोके ०५० १० १

2 - "वेधश्चम् = म्यूनविक्रमाव स्थिति । "

— लोके ५० १० १

शकर्मण्यता - तत्त्ववेत्तारदीकार ने "शकर्मण्यता" का अर्थ कर्म करने में अयोग्यता किया है। अर्थात् कर्म न कर सकने वाली स्थिति ही शकर्मण्यता है।

शेष -- उभयकोटिपर्याप्त ज्ञान ही शेष है। डॉ या नष्ट के प्रति सविचारक ज्ञान ही उभयकोटिपर्याप्त ज्ञान है।

विपर्याप्त - विद्याज्ञान ही विपर्याप्त नामक विद्यन है।

अभावमम् - प्रयत्न का न होना अभावमम् नामक योग का विद्यन है। प्रयत्न नहीं करने पर समर्थता की भावना नहीं हो सकती। अतः प्रयत्नहीन होकर रहना समर्थता के लिए एक प्रकार से बाधा ही है।

तमोगुण के कारण शरीर में विक्षिप्तता का भाव जन्म भी योग के लिए बाधा है। यहाँ पर भावस्वीतीमिश्र ने विद्यन का नाम अज्ञस्य नहीं दिया है पर अज्ञस्यवासी स्थिति का ही वर्णन किया है। अतः यह वर्णन आतच्छरणा विद्यन के विषय में ही है।

तुच्छा - शरीर का अर्थ भावस्वीतीमिश्र ने तुच्छा किया है। तमोगुण की भावना ही तुच्छा है। इसके होने पर चित्त इतस्ततः नातन्वया शीघ्रता होता रहता है।

अतन्वयभूमिकत्व - समर्थता की मधुमती, मधुप्रतीका और त्रिवोक्ता नामक भूमियाँ हैं। इनको प्राप्ति न होना अतन्वय भूमिकत्व नामक बाधा है।

समर्थता की भूमियों के प्राप्ति होने पर ही यदि मन इसमें स्थित नहीं हो पाता है तो समर्थता की भूमियाँ अवाप्त्य ही जाती हैं। इस तरह के विद्यन को अनवशिष्टतत्त्व नामक विद्यन कहा जाता है।

## राज्यात्मिकवृत्ति

राज्यात्मिककार ने मनो के प्रेरकतत्त्व, मूल तत्त्व का उल्लेख किया है । विषय की वृद्धि से इनका यह विवेचन विशेष स्थान रखता है । क्योंकि राज्ञेय और तमोगुण ही मूलतत्त्व हैं, इन विवेचनों के । इन विवेचनों के मूल में यह गुण ही हैं जिनसे प्रवृत्त होकर ये मनो मत चित्त को शिक्षण करते हैं । चित्त की एकामता को रंग करना ही विवेचन है । इन विवेचनों का वर्णन उल्लेखनीय है ।

व्याधि — धातु के वैधव्य से आरथि का होना व्याधि है । यहाँ पर वृत्तिकार राज में रस, और इन्द्रियों का महाम निर्देश नहीं किया है जब कि व्यास तन्त्रवैशारदीकार, योगवार्त्तिककार ने व्याधि के अन्तर्गत धातु, रस की विषयता से इन्द्रियों में वैधव्य का होना व्याधि माना है ।

स्थान — चित्त की अकारण्यता ही स्थान है ।

साध — उन्मत्तकीटक जान हो जिसमें अन्तस्मय ही उसे साध कहते हैं । यथा — समधि को साधना की जाय अथवा नहीं इन प्रकार के साध से चित्त स्थान नहीं हो पाता है । फलतः समधि साधना नहीं हो पाती ।

.....  
1 - " नवेते रजस्तमोवताद्वयर्तमन्विवित्तस्य विधेयः भवति । तेरेकामता विरोधिभित्तं विविप्यत्त इत्यर्थः । "

-- रा०मा०पु० पृ० 79 F

2 - " उन्मत्तकीट्यात्मनं जलं संज्ञयः योगः साधो न वेति । "

-- यही पृ० 79 F

प्रमाद -- समीप के साधनों के प्रति उदासीनता ही होने से उनका अनुष्ठान नहीं करना प्रमाद है ।

अलस्य -- शरीर और चित्त का शरीरत्व के कारण योग प्रति के हेतु अयत्नशील होना अलस्य है ।

शिवरति -- चित्त का विषयों के साथ सम्बन्धित होना तथा इच्छाओं से, तुच्छाओं से, युक्त होना शिवरति नामक विघ्न है ।

ज्ञानित्वान् -- विपर्ययज्ञान ही ज्ञानित्वान् हैं । यथा शुक्ति में रजत का ज्ञान ।

अलक्ष्यभूमिकत्व -- किसी कारणवश समीप की भूमि को प्राप्त न कर सकना अलक्ष्यभूमिकत्व नामक योग का विघ्न है ।

अवस्थितत्व -- समीप की भूमियों के प्राप्त हो जाने पर भी चित्त का उसमें स्थित नहीं हो सकना अवस्थितत्व नामक विघ्न है ।

## विवरण

प्रथमपाव के सूत्र 31 में उल्लिखित चित्त के नवास्तराय योगवापि के मार्ग में बाधक है । इन नवों अस्तरायों को चित्त का विशेष कहा गया है क्योंकि इन अस्तरायों के द्वारा समधि का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और समधि योग ही जाती है । ये अस्तराय समधि को बाधित करने वाले हैं अतः उन्हें योग का प्रतिपक्षी तथा योग का अस्तराय भी कहा गया है । इन अस्तरायों के बहारा चित्त विषयों में अविज्ञ हो जाता है ।<sup>2</sup>

योग के इन अस्तरायों के उचित होने पर ही प्रमाणाधिकृतियों भी उचित होती हैं । ये दोनों चित्त में साथ-साथ हो रहते हैं । अस्तरायों के प्रभाव में चित्तवृत्तियों की स्थिति चित्त में नहीं होती और चित्तवृत्तियों के बिना इन व्याधि तर्क विशेषों की स्थिति भी नहीं होती । इस प्रकार ये दोनों एक दुसरे की सहायता से ही चित्त में रहते हैं । सूत्र में कथित 9वें अस्तरायों में से 'सौम्य' और 'अस्मितवर्त्म' की स्थिति विषयव्यवृत्तियों में ही होती है । शेष सात अस्तराय यों उचित होते हैं' यों ही प्रमाणाधिकृतियों उचित हो जाती हैं और इस प्रकार सभी अस्तराय चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं । इन अस्तरायों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है ।

व्याधि — शरीर के अन्तर वात, पित्त और श्लेष्मादि में विभ्रमता आने पर व्याधि होती है ।

1 - " तदेते नवास्तरायाः । अन्तरं विवरं विच्छेदं कुर्वन्त प्रायश्चित्तीयस्तराया विशेषः, प्रतिपक्षाः योगप्राप्तेरुपसर्गाः । "

— विवरण पृ० 82 f

2 - " चित्तं विश्राम्नि विभयेच्छित्त चित्तविशेषः । " -- वही पृ० 82

3 - " अर्थभ्रामभावे व्याधिप्रवृत्तीमभित्ते सहायकलावावाप्त्त नवमित्त पूर्वोक्तः प्रमाणाव्यधिकृतवृत्तयः । "

— वही पृ० 82 f

स्थान — चित्त की क्रियाशीलता का एक जगह, स्थापित हो जाना ही 'स्थान' है ।

संशय — 'अपानुर्वा पुरमो वा' इति उच्यते किं चित्तं तान् ही 'संशय' है ।

प्रमाण — 'समर्थ' के विहित कारणों का भाषण न करना प्रमाण है ।

भावस्थ — शरीर और चित्त का शरीरम जिस्तरे दोनों में प्रकृति न हो वह स्थिति ही 'भावस्थ' है ।

अधिराति — चित्त का विषयों के प्रति अवलम्बित 'अधिराति' नामक विकल्प है । इसे ही गर्व या लज्जा की कहा गया है ।

अभिप्राय — विषयवस्तु ही अभिप्राय है ।

अन्यभूमित्व — समर्थ की चित्तकवि के रूप से बाहर भूमि में हैं इन भूमियों की अवधि ही अन्य-भूमित्व है ।

अनवस्थितत्व — प्राप्त भूमियों में जो चित्त का प्रतिष्ठित, स्थित न होना अनवस्थितत्व है ।

इस प्रकार ये 9 प्रकार के योगमूल हैं जिन्हें समर्थ स्थिति होती है ।



## योगवार्तिक

प्रथम-मध्याय के 30वें सूत्र में वर्णित नवों अन्तराय चित्त को योग मार्ग से विविधत कर रहे हैं । अतः उन्हें विधेयक कहा गया है । ये नव विधेयक ही चित्त के विधेय हैं । ये विधेय चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं । चित्तों के उदित होते ही उनसे संबन्ध चित्तवृत्ति बन जाती है । चित्तों के उदित होने और तत् पट्टण चित्तवृत्ति के बनने में जो सूक्ष्म-कौतिक व्यवधान पड़ता है उसी वृत्तियों के सङ्घ में कोई बाधा नहीं पड़ती । 'व्यापारि सति चित्तवृत्तयः' तथा केवल चित्तवृत्तयः भी योग को र्ण करती हैं । इसीलिए चित्तवृत्तयः तथा नवों अन्तरायों को 'योग-वृत्तयः' कहा गया है ।

वार्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र की श्रुति '9वां चित्त' किस प्रकार चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं, इसका विवेचन नहीं किया है। परन्तु इससे वर्णन में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि परब्रह्म से इन्हीं वाचस्पति और वाच्यकार के मध्य स्वारस्य सिद्धाया है ।

व्याधि — धातु, रस और इन्द्रियों में वैषम्य होने पर शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है । धातुओं और रस को गड़बड़ी से शरीर की इन्द्रियों में विपर्यय उत्पन्न होती है और इस वैषम्य से ही शरीर रोगग्रस्त हो जाता है ।

अकर्मण्यता — अकर्मण्यता का अर्थ विज्ञानविद्यु ने योग के अनुष्ठान में अग्रम किया है, अर्थात् योग के लिए विहित साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकना ही अकर्मण्यता है ।

-----

। - सूक्ष्मज्ञानात्मकसनेन सहेत्युक्तम् । एतेषामप्यवधानेनैव व्याधिरतिवर्त्तना च तन्निवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो नवमित् योगवृत्तयः इत्यर्थः ।"

सौम्य और शक्तिवर्धन — यह ऐसा होना चाहिए जयवा ऐसा नहीं होना चाहिए हम प्रकार का द्विविध सविद सौम्य है ।

गुरु और शक्तियों द्वारा बतये गले समीप के लिए साधन हैं । उन साधनों की शक्तिया न करना अर्थात् उन साधनों का आचरण नहीं करने- से भी योग बंग होता है । यहाँ प्रमाण नामक विषय का नाम नहीं दिया गया है । यद्यपि उसी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है ।

शरीर में वातुओं की गड़बड़ी से शारीरिक अणुध्व जाता है, समेष्टित से चित्त बारी होता है । शारीरिक और मानसिक गुरुता से समीप के साधनों के अनुष्ठान में चित्त बड़ी धीरत होता है अर्थात् चित्त अनुष्ठानों को करने में प्रवृत्तकृतित नहीं हो पाता है और एत प्रकार की अप्रवृत्ति ही योग के लिए बाधक होती है<sup>1</sup> ।

विषयों के समीप से उनकी प्राप्तिविषयक अभिलाषा 'गर्ह' है । गर्ह का अर्थ अभिलाषा है<sup>2</sup> । इच्छा अनन्त है अतः विषयों के सम्पर्क से अनन्त इच्छा उत्पन्न होती है जिससे समीप बाधित होती है अर्थात् चित्त, 'योग' को साधना करने में प्रवृत्त नहीं हो पाता । यह अभिलाषाओं की पूर्ति में ही रह जाता है ।

मधुमत्प्रादि भूमियों में से किसी एक की भूमि की शक्ति नहीं होना कलाप है ।

इसके शक्तिरक्त ताप प्राप्त हुई भूमि में चित्त का प्रतिष्ठित न होना अनवाञ्छितत्व नामक योग का विषय है ।

ये नव योग के गले अर्थात् विषय हैं जो चित्त को बाधित करते हैं ।

-----  
 । - " कथयुत्सव कथाविना, चित्त युत्सव समाप्त, ताव्यां हेतुव्यामपवृत्तः समीपसाधनानुष्ठानमु<sup>3</sup>संयोगात्मा सम्पर्कजन्यो गर्हः अभिलाषः । "

## योगवीक्षण तथा धर्मयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में इन विषय का समान विवेचन <sup>पाप्म</sup> है । धर्मः दोनों के विवेचन को एक साथ ही उद्धृत किया जा रहा है । व्याख्या से चिन्त विविधता लेकर 'योगसाधना के योग्य नहीं रह जाता है अतः व्याख्या के योग का अन्तराद्य कहा गया है । ये अन्तराद्य 9 प्रकार के हैं ।

व्याधि - धातु, रस को विषमता <sup>के</sup> कारण इन्द्रियों में वैषम्य का होना व्याधि है ।

स्थान - अकार्यव्यय । योगानुष्ठान में चिन्त का अग्रम होना ही स्थान है ।

संशय - गुरु तथा शास्त्र द्वारा उचितव्यय योग के सत्त्वों के प्रति उच्चकोटिक ज्ञान ही संशय है ।

प्रमाद - अनवधान ही प्रमाद है । समीची के साधनों के प्रति ध्यान न देना प्रमाद है ।

अज्ञान - शरीर और चिन्त का शरीरपन के कारण अज्ञानत्व होना अज्ञान है ।

विचरति - विषयों को अविज्ञानात् विचरति है ।

भ्रमिन्वर्तते - गुरु भाव द्वारा प्रमाणित उपदेशों के विचरति निश्चय का होना ही भ्रमिन्वर्तते है ।

1 - " गुरुराकांक्षित साधनेषु विचरति चिन्तम् । " - योगवीक्षण पृ० 2

2 - " प्रमादोऽनवधानम् । " - यहाँ पृ० 22 ।

3 - " गुरुभावप्रामाण्यविचरतिनिश्चयः । " - यहाँ पृ० 22 ।

अनवधिप्रत्यक्ष - भाग्य का अनुष्ठान करने पर भी योग की श्रुतियों की अप्राप्त प्रत्यक्ष श्रुतिकत्व है ।

अनवधिप्रत्यक्ष - तब योग की श्रुतियों में भी योग का कथित होना अनवधिप्रत्यक्ष नामक विध्न है ।

### मीमांसा

चित्त को योग से विशिष्ट करने वाले चित्त विशेष ही योग के विध्न या अन्तराय है <sup>2</sup> । ये विध्न 9 प्रकार के हैं । 9वों प्रकार के विधनों का वर्णन इस व्याख्या में भी उसी प्रकार किया गया किन्तु प्रकार व्याख्यान में किया गया है । केवल ज्ञानिनिवर्तन <sup>3</sup> नामक योग के विध्न का वर्णन श्रेयों से विध्न रत्न में किया गया है । यस्मिन् इस विध्न का स्पष्टीकरण इसी व्याख्या में हो गया है । ज्ञानिनिवर्तन के विध्न में व्याख्याकार लिखते हैं यह 'स्फूर्तिरहितविर्ययः' है अर्थात् इसमें हँसना न कर सन्देश नहीं बना रहता । इसमें जो वस्तु जित दश में विद्यार्थ देते हैं उसके उसी रूप का उस समय कुछ ज्ञान रहता है । सन्देश नहीं रहता । यथा 'शुभिल में रजत हल' जब होता है तब केवल यही सन्देश है कि यह रजत है है अन्य कोई वस्तु नहीं है । यह सभी विशेष, योग को नष्ट करने वाले हैं । इनके तीव्रतम दुरासुवैर्जनस्यापि भी योग के नष्टक होने से विध्न ही माने जाते हैं ।

1 - " अनवधिप्रत्यक्ष योगश्रुतिप्रत्यक्षेऽपि योगश्रुति इति । "

योग वेदिका पृ० २२१

2 - " य चित्तं योगश्रुतिप्रतिष्ठितं प्रतीयमानं 'ते' 'चित्तविशेषाः' योग 'अन्तरायाः' विद्या मन्त्र । "

मीमांसा पृ० १६१

3 - " ज्ञानिनिवर्तनमेककोटिको विपर्ययः । "

- यही पृ० १६१

## योगसूत्रार्थवैशेषी, योगसिद्धान्त चम्पिका

ये चित्त को योग से विशिष्ट करते हैं उन्हें योग का अन्तराय प्रथवा योग के विघ्न कहा गया है । सुख के अन्धकार पर योग के विघ्न सब प्रकार के बतारण ग्रह हैं । इन विघ्नों के स्वरूप का उल्लेख इन व्याख्यातों में अत्यन्त साधुशैली के ही सङ्घा किया गया है । किसी विशेष बातों का उल्लेख नहीं किया गया है ।

### भाव्यता

नरकमेकार ने योग के विघ्न से संबंधित सुख पर व्याख्यान न बंधकर केवल भाष्य के ऊपर ही व्याख्या लिखी है । 'प्रभाव' और 'अनवच्छिन्नत्व' नामक विशेषों का निर्बन्धन इनकी व्याख्या में अनुपलब्ध है । शेष वर्णन भाष्य के ही समान है ।

### स्वार्थमनाराधन भाष्य

चित्त को विशिष्ट करने वाले विधावर्गीय ही विशेष हैं । विशेषों से योग बाधित होता है अतः इन्हें योग का अन्तराय भी कहते हैं । यह अन्तराय चित्त की वृत्तियों के साथ ही रहते हैं । इनका वर्णन कुण्डलतत्त्वार्थ के अनुसार इस प्रकार है -

व्याधि — वहतुपत्तौ तौर श्लेष्मता में विषमता जाने पर तथा योगम जल के परिवर्तन विशेष रसादि में श्लेष्मता जाने से इन्द्रियों में विषमता जाती है । जिससे वेदना उत्पत्ति कष्ट होता है और यही व्याधि है कि जो योग से चित्त को विशिष्ट करती है ।

। - " विधाव्यस्तु परमरया चित्तविशेषका इति तत्र महत्तियतिः । "

तेन चित्तवर्धयेव तत्त्वतद्व्ययमं न तु रजोगुणे इति । "

स्थान -- योगयोग के अनुष्ठान में चित्त की अवस्था ही स्थान है ।

साध -- योग के कल के प्रति सम्यक् 'साध' है ।

प्रभाव -- समाधि के साधनों के अनुष्ठान में पर्यवशीत नहीं होना प्रभाव है ।

आलम्ब -- अर्थज्ञान के द्वारा शरीर में गुरुत्व होने पर तथा तमोगुण के कारण चित्त में गुरुत्व होने पर शरीर और चित्त का समाधि के लिए साधनों का अनुष्ठान नहीं करना आवश्यक है ।

विपरिणत -- विषयों की प्राप्ति के लिए चित्त का अनिर्लभित होना विपरिणत है ।

आत्मनिर्वास -- विपरिणतज्ञान ।

अलम्बभूमिकत्व - चित्त की मधुमती, मधुपतीका, विज्ञान और अकारणता नाम से चार भूमियाँ हैं । उनमें से किसी एक को भी प्राप्त न होना अलम्ब भूमिकत्व नामक विघ्न है ।

अनर्थागतत्व -- मधुमती में से किसी भी एक का साथ होने पर भी उसमें चित्त की आस्था का न होना अनर्थागतत्व है ।

ये विशेष चित्त का योग से अलग रहते हैं । चित्त में सम्यक् साधना की योग्यता होने पर भी इन विघ्नों के कारण चित्त योग के लिए अयोग्य हो जाता है ।

1 - " योगस्य भूमित्वात्मनकत्व - तत्रजनकत्वोपेक्षप्रकारकज्ञानम् । "

सातोनातोपाठो पृ० 133 F

2 - " योगस्य समाधि साधनत्व' नास्तीत्याकारक' विपरिणतज्ञानम् । "

-- यही पृ० 133 F

व्याख्यान

द्वितीय विरोध के पक्षस्थित्य द्वितीयरहित चित्त का ज्ञानम्ब के साथ  
तथाकारापरित हो जाना ही 'समाप्ति' है । 'समाप्ति' शब्द का तात्त्विक अर्थ  
तथाकारापरित है । द्वितीयों से रहित स्वच्छ निर्मित चित्त का जब प्रादुर्भाव ज्ञानम्ब  
से संपर्क होता है तब चित्त प्रादुर्भाव हो जाय है । इसी तरह मूल्य और महीण  
रूप भक्तियों से भी उपरक्त हुआ चित्त तत्त्व<sup>तत्</sup>कार का हो जाता है । इस प्रकार  
स्वच्छ चित्त का ज्ञानम्ब के अकार से अकारित हो जाना ही 'समाप्ति' है ।  
'समाप्ति' के स्वप्न को अर्थक शब्द करने के लिए वाच्यकार ने स्पष्टिकर्मण का उदाहरण  
दिया है । जिस प्रकार अत्यन्तस्वच्छ, निर्मित स्पष्टिकर्मण अपने उपर रखी हुए  
पदार्थों के अकारवीभूतित होती है अर्थात् स्वच्छ स्पष्टिकर्मण के संपर्क में जो भी पदार्थ  
भ्रता हैं उसी के अकार और रंग की वद मीच भी वसित होनी लगती है उसी प्रकार  
जब चित्त की द्वितीयों वदत हो जाती है तब जित निर्मित चित्त अपने सभोप में  
भार हुए ज्ञानम्बों के अकार से अकारित हो जाता है ।

समाप्ति और तत्त्वज्ञान समीची के विषय में यह अर्थ है कि  
तत्त्वज्ञान-समीची चित्त की एकत्र भूमि में होती है । इसमें चित्त की क्षेत्रगुण,  
कर्मस्थानगुण द्वितीयों का विरोध होता है और चित्त को अपने क्षेत्र-विषय का  
सत्य ज्ञान प्राप्त होता है । समाप्ति में द्वितीयों का विरोध नो मत्प्रज्ञान काल में ही

। - " केतवः प्रहोतुमहजमहोद्यु पुरभीन्विद्यमृतेषु या तत्त्वतर्जनता मेधु  
द्वितीय तथाकारापरितः सा समाप्तिरित्युच्यते । "

हो चुकता है अतः स्वच्छ चित्त स्थिरता को प्राप्त कर अपने प्राणमन के प्रसरण पर उपरान्त ही ज्ञानमग्न हो जाते हैं । अर्थात् समाधिस्थ<sup>का</sup> में चित्त में तत्राकारापत्ति होती है । समाधिस्थ के चार भेदों का उल्लेख किया गया है (1) सच्चिदानन्दमाधि (2) निर्दिक्ता (3) सच्चिदानन्द (4) निर्दिक्ता, समाधिस्थ ।

सच्चिदानन्दमाधि — समाधिस्थान प्राप्त किए हुए योगी के चित्त में जब शब्द, अर्थ और रस के मिश्रित स्वरूप का आधान होता है तब सच्चिदानन्द समाधिस्थ होते हैं । यथा — 'गो' शब्द के उच्चारण से समाधिस्थ चित्त वाले योगी के चित्त में 'गो' के शब्द, अर्थ और रस के मिश्रित स्वरूप की समाधिस्थ सच्चिदानन्द समाधिस्थ है ।

निर्दिक्ता समाधिस्थ — निश्चित समाधिस्थ में प्राणमन विषय के केवल अर्थमग्न का आधान होता है और चित्त प्राणमन पदार्थ के अर्थमग्नकार का हो जाता है । इस समाधिस्थ में शब्दानुमानजन की कृति निवृत्त हो चुकी रहती है अर्थात् इस समाधिस्थ में चित्त शब्दानुमानजन से शून्य होकर केवल ध्येय के अर्थमग्न के प्रसरण से युक्त रहता है ।

सच्चिदानन्दमाधि — शब्दरस और निमित्त के सम से युक्त तथा पदार्थों के भूतसम्बन्धों में चित्त को तत्राकारापत्ति सच्चिदानन्दमाधिस्थ है ।

1 - " तत्र समाधिस्थ योगीन्द्रो यो गवाद्यर्थः समीपवशात् समाधुः स वेदान्तार्थानधिकस्तानुविष्य उपावर्तते सा सञ्ज्ञा समाधिस्थः सच्चिदानन्दमुच्यते । "

श्वेतसाम्भत् पृ० 109 १

2 - " पदार्थमात्रस्वरूपं प्राणमनस्य स्थापनमेव कथंति सा निर्दिक्ता समाधिस्थः । "

— वहीं पृ० 111 १

3 - " तत्र भूतसम्बन्धानि व्यक्तं चक्रेषु वेदान्तनिमित्तानुभावविषयेषु सा समाधिस्थः सा सच्चिदानन्दमुच्यते । "

— वहीं पृ० 118



निर्विचारासमापत्ति — जब वेदा यज्ञ और नियतों में रीढ़त प्राध्या-  
भूत भूतसूत्रों के स्वरूप से रीढ़त वेदा केवल महात्मनविध्याकार रहती है तब उसे  
निर्विचारा समापत्ति कहते हैं ।

सधिलका और निर्विचारा समापत्ति न्यून विषयक होती है और सविचारा  
निर्विचारा एतन्मिष्यायक समापत्ति होती है । ये चारों समापत्तियाँ महात्मन युक्त  
होने के कारण समीप होती हैं । समीप होने के कारण ये सम्बन्ध-समापत्ति को भी  
बेची में आती हैं ।

### तत्त्ववेत्तारपी

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी मत्स्वत बुद्धियों का निरोध हो जाने  
के परचात ब्रह्मचिन्ता जब ध्यान में परिपक्व होकर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है  
तब सात्त्विक चिन्ता ग्राही, जगत् और माह्य रस विषयों के आकार से आकर्षित हो  
जाता है । चिन्ता तत्त्व का उक्त भावधर्मों के आकार से आकर्षित होकर ही समापत्ति  
है ।

वाचस्पतिमिश्र को व्याख्या के अनुसार समापत्तिकाल में व्युत्पी रजो,  
तमो, बुद्धियाँ सर्वथा निरुद्ध रहती हैं, परन्तु सात्त्विकबुद्धि बनी रहती है : क्योंकि  
इन्होंने सात्त्विक चिन्ता की विषय के साथ मवाकाराकर्षितता को ही समापत्ति भना  
है । भाष्यकार ने मनों से रीढ़त स्थित हुआ ब्रह्म-चित्तको ही समापत्ति के योग्य  
माना है ।

1 - " प्रजा च स्वस्था शून्येवर्षिमात्रा यथाभवति तथा निर्विचारेऽप्युच्यते ।"  
व्यासभाष्य पृ० 118 F

2 - " तेषु ग्राहीतुग्राह्यग्राह्येषु, चिन्तस्य धरितस्य ध्यानपरिवाकशशावपडत-  
रजस्तमोमाध्य चिन्तसत्त्वस्य यत् सर्वजनता सवाकारता सा समापत्तिः । "

वाचस्पतिभिरा के अनुसार आठ प्रकार की समाप्तिर्या हैं । (1) ग्राह्यविभया सवितकसिमापत्ति (2) ग्राह्यविभयाभिर्चितका समापत्ति (3) ग्राह्यविभयासविधारा समापत्ति (4) ग्राह्यविभया निर्धारा समापत्ति (5) ग्राह्यविभया सविधारा समापत्ति (6) ग्राह्यविभया निर्धारा समापत्ति (7) ग्राह्यविभयासविधारा समापत्ति (8) ग्राह्यविभया निर्धारा समापत्ति ।

इनमें ग्राह्यविभया सवितर्का और निर्धितर्का सूक्त विभक्त होती हैं और ग्राह्यविभया सविधारा निर्धारा सूक्त विभक्त होती हैं ।

### राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त की वृत्तियों के लीज हो जाने पर चित्त जब केवल श्रेय-सा में ही स्थित रहता है तब एवेय के प्रसार के समान ही प्रसार चित्त का भी हो जाता है । इस प्रकार चित्त में तद्रूपता रूप परिणाम का होना ही समापत्ति है । समापत्ति के चार चरणों का वर्णन इन्होंने भी किया है । चारों समापत्तियों का विशेषतः माध्य के ही समान है अतः वर्णन में समानता होने के कारण उन समापत्तियों का पुनः वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

.....

। - " लीजवृत्तयो यथा लकीवृत्ति तस्य गहीनु ग्राह्यग्राह्येषु शक्तेभ्य-  
विभयेषु नक्षत्रदर्शनता समापत्तिर्भवति । तस्यैवं तत्रेकाग्रता, तद्व्यक्तता तस्यैवं  
लीजवृत्ते चित्ते विभयश्च शक्य-मानश्रेयोदर्शनाः तदाविद्या समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो  
भवतीत्यर्थः । "

विवरण -

'समापत्ति' शब्द सत्यगोपित का पर्याय है । शीघ्रपुस्तक चिन्तन का महीन्द्र, महान और छात्रों के आकार से आधारित हो जाना ही समापत्ति है । वेदों के अध्ययन काल में भी चिन्तन विषयाकाराधारित होता है परन्तु अद्युक्तकालिक तथ्याकाराधारितता को समापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि अद्युक्तकाल में चिन्तन में रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव बना रहता है । 'समापत्ति' काल में चिन्तन की राजस और तमस वृत्तियों शीघ्र हो चुकी होती हैं और चिन्तन बहिष्कारसंछक हो इन वृत्तियों से अनभिभूत होता हुआ अतीन्द्रिय अज्ञान के आकार से आधारित होता हुआ तत्पर्याय ही बसित होता है । विवरणकार ने 'समापत्ति' और 'सत्य' के स्वरूप में समानता देखते हुए दोनों को समान माना है । 'समापत्ति' और 'सत्य' दोनों स्थितियों में चिन्तन राजस और तमस वृत्तियों का निरोध कर बहिष्कार-संछक अवस्था में रहता हुआ, अद्युक्तकाल चिन्तन अज्ञानानुपरक होता हुआ तत् तत् अज्ञान का अन्त-ज्ञान प्राप्त करता है ।

विवरणकार ने 'शीघ्रपुस्तकचिन्तन' शब्द का अर्थ 'वाद्युक्तकालिकचिन्तन' का शीघ्र हो जाना' किया है । समापत्तिकाल में चिन्तन शीघ्रपुस्तक होने के कारण

1 - " सत्यगोपितः समापत्तिः सा च तादृशी पश्यन्तमित्येवमुक्तैरेव भवति । यद्यपि अद्युक्तकालिकचिन्तन समापत्तिरिति । तथापि सा न समीचीनतरा रजसमोर्ध्व चिन्तनस्य स्मृतिवस्तुत्वमिति । "

— पतिज्ञानयोगसूत्रभाष्यविवरण पृ० 101 f

2 - " एवं ह्येष चिन्तनबहिष्कारोऽर्थात्, येन अतीन्द्रियवर्षसमापत्ति चिन्तन तथ्याकारं भवतीति । "

— वही पृ० 98 f

3 - क :- " तेषु अतीन्द्रियेषु तिष्ठन्तीति तस्य तत्त्वतापिनिश्चयं यद् अतीन्द्रियज्ञानता । "

— वही पृ० 101 f

3 - ख :- " पूर्वसत्यं कृत्वा समस्तं भुवनप्रस्तारं पश्यतीति । "

— वही पृ० 287 f

अव्यक्त स्वरूप हो जाता है । ऐसा चित्त जब महीन्द्रपुरम्ह के सम्पर्क में आता है तब उसी के स्वरूप के आकार का भासित होनि लगता है । बुद्धि का बोधकता ही 'महीन्द्र' का स्वरूप है । अतः जब बुद्धि विषय-वृत्तियों का बोधना न होकर केवल पुरुष और प्रकृति का विविधत काल प्राप्त करती है तब पुरुष-व्येककति से मुक्त चित्त जाता होता है । ऐसे पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसके क्षेत्राधि से विमुक्त चित्त के आकार से आकृष्टित हो अना महीन्द्र विषयक समापित है । इसी तरह 'महत्त्व' और 'माह्य' अलम्बनों से उपरका इति पर 'महत्त्व' तथा 'माह्य' समापितत्वां होती है ।

समापित के चार क्षेत्रों का उत्तम विवरण-कार ने भी किया है । जब शब्द, अर्थ और ज्ञान से निश्चित धेयत्वम्ब से चित्त तत्कालकृष्टित होता है तब सर्वस्वत्वसमापित होती है । जब वही धेयत्वम्ब शब्दवृत्तप्रकृति से इत्य केवल स्वस्वमात्र स्वरूप से ही भासित होता है तब निश्चितक समापित होती है । इस समापित में धेय स्व अलम्बन माह्य और अनुमानज्ञान से भी इत्य केवल माह्यमात्र स्वरूप से चित्त में विभाषित होता है । सर्वितर्क और निश्चितक समापित स्थूल माह्यविषयक होती है ।

1 - " तथा महीन्द्रपुरम्हस्य सम्पर्क बुद्धिव्यवस्थास्वरूपमव्यक्तम् । स एव बुद्धेर्बोधा यदा विषयवृत्तिसिद्धिर्न च बोध्याभवति तदा सत्त्वपुरुषाद्यता-व्यतिथ्याप्रवस्था  
— यतः जतयोः स्वरूपविषय विवरण पृष्ठ 99 F

2 - " तथा समापितत्वमुच्यते । "  
— वही पृ 0

3 - " अतः स्वस्वत्वमधिधेयविकल्पैः सकीर्णं विमया इतरेतरप्रत्ययानुबन्धा सा सकीर्णसमापितः । "  
— वही पृ 102 F

4 - " माह्यमात्रैव सा विभाष्यते । "  
— वही पृ 103 F

जब मृतसूक्ष्म तन्मन्त्रादीविविधयः देशकालनिमित्तादि के अवधिभ्यः होते हुए  
 ध्येयविविधयः अनन्ते हैं तब उस ध्येय के तदाकाररूपकारित होने पर सविचार-समापत्तः होती  
 है और जब मृतसूक्ष्मविषय देशकाल और निमित्त से अनवधिभ्यः होकर चित्त में  
 स्थापित होते हैं तब निर्विचारा-समापत्तः होती है । सविचारा और निर्विचारा  
 समापत्तियाँ सूक्ष्मविषयक होती हैं ।

### योगवार्तिक

योगवार्तिक निर्गल चित्त का अतीन्द्रिय विचारे में सद्यक् रूप से  
 तदाकाराकारित में जलत समापत्तः है । समापत्तः सम्भवात् समीपे क्व फलरूपे है  
 कोटि बन्दी सम्भवात्समापत्तः में ध्येय-विषय का सद्यक्-भवन प्राप्त हो जाने के पश्चात्  
 ही समापत्तः में चित्त को ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है ।<sup>3</sup>

1 - " सर्वं हि यस्तु देशविचिरवच्छिद्यस्य सन् विषयिणोऽपि साक्षात्संप्रत्यक्षमात्रं  
 व्यवहारस्य उपपत्तेः । तेष्वेवमृतेष्वेवं मृतेषु कोटिविचिरवच्छिद्यस्यैवैतन्न या समापत्तः सा  
 सविचारेत्युच्यते ।" — विश्वरूप पृ० 110 f

2 - " तेरनवच्छिद्येषु मृतसूक्ष्मेषु सर्वधर्माप्युपाधिषु सर्वव्यर्थाननुभूयन्ति तानि सूक्ष्माणि  
 समीपोपाकाररूपकानि । सवच्छिद्येषु सर्वेषु विषयेषुऽनन्तत्वात्सा समापत्तः । तत्र या  
 समापत्तः सा निर्विचारेति ।" — वही पृ० 111 f

3 - " समापत्तः सद्यसात्सम्भवात्साक्षात्कारितः प्रत्यक्षवृत्तिरित्यर्थः ।"  
 " कोटिजातस्य निर्मलस्य भौरेव च हीनोर्विषु तन्विद्यतया सर्वजनस्य सद्यसात्साकारता ज्ञयते,  
 सा च सा सापत्तः सा समापत्तः ।" — योगवार्तिक 108 f

" अत्र सम्भवात्समापत्तः प्रकृत्याः समापत्तः सति तन्मन्त्रोपरि साक्षात्साक्षात्कारिता ।"  
 -- वही पृ० 108 f

'समाधीन' की स्थिति सम्बन्धितसमाधि में होती है क्योंकि दोनों समाधियाँ सातम्बन होती हैं । असम्बन्धितसमाधि निर्धन होती है अतः उसमें समाधिस्थियों नहीं हुआ करती । विद्वानविद्यु के अनुसार समाधीनस्थियाँ पाँच प्रकार की होती हैं । (1) सवितर्क, (2) निर्वितर्क (3) सविचार (4) निर्विचार और (5) महीतुविषयक-समाधीन ।

सवितर्क — व्युत्पत्तिस्थियों के शब्द अर्थों और ज्ञान में अथवा स्वप्न से युक्त विषय का साक्षात्कार होने पर सवितर्कसंज्ञक समाधीन होती है । सवितर्क समाधीन में नारायण के स्वरूप को उत्पना कर उसमें चित्त के लक्षणकारण करित हो जनि पर सत्त्व की नारायण के रूप का भाव होता है ।

निर्वितर्क समाधीन — वार्त्तिककार ने भी सुतस्मृतिमानकाल से श्रुत केवल अर्थमन्त्रकार से आकर्षित चित्त की समाधीन को निर्वितर्कसमाधीन कहा है ।<sup>2</sup>

सविचार, निर्विचारसमाधीन — सविचार और निर्विचारसमाधीन सूक्ष्मभूतस्वप्न सातम्बन होती होती है । इन्द्रियादि के सूक्ष्मकारण तन्मन्त्रात् है, इन वर्तमान सूक्ष्मभूतों में देशकालनिमित्तों सहित अनुभूत इन सूक्ष्मविषयों की सातम्बनकारितता सविचार समाधीन है । जब देश कालादि से रहित सूक्ष्मभूतों में चित्त का साक्षात्कार होता है तब निर्विचार समाधीन होती है ।

महीतु विषयक समाधीन — महीतुविषयक समाधीन का क्षेत्र घुस्व है । जब चित्त चित्त पुरुष के ज्ञान स्वप्न के प्रत्यक्ष से आकर्षित हो जाता है तब महीतु विषयक समाधीन होती है ।

- 1 - " नारायणोऽपि भवते ' इत्यादि स्वप्न सवितर्क समाधीनसंज्ञितः ।"  
— पौ०वा०पु० ११११
- 2 - " अक्षित विषय इत्यादि वा समाधीनः सा निर्वितर्कसंज्ञितः ।"  
— यज्ञो पु० ११११
- 3 - " माह्यग्रामाद्योः सूक्ष्मभूतैः सवितर्कविद्यमानतः पंचमै च महीतुस्थितिः ।  
— यज्ञो पु०

विद्यमानविद्यु मे समापत्त विभक्त्य अपने विघार की वेधताह बताई है कि मातृय और मातृय का अन्त-पत्ति विधितर्क, निर्धितर्क और विधिवारा निर्विधिवारा में हो जाता है । परन्तु ग्रीको का अन्त-पत्ति- इम खूल, सूक्ष्म श्रुती में नहीं हो सकता । अतः इसके लिए <sup>अपरा</sup>पुरुषतत्त्व के लिए ग्रीको विभक्त्य समापत्त की मातृय त्रिनिधाय है । इन्हींमे वाचकानिम्न द्वारा प्रतिपादित जाठ प्रकार की समापत्तियों का जन्म किया है और समापत्तियों के केवल पंथि प्रकार ही बताए हैं ।

योगवीथिका: पार्श्वतयोगसूत्रवृत्ति

समापत्त शब्द का अर्थ साक्षात्कार है । समापत्त शब्द से 'साक्षात्कार' का अर्थ स्पष्ट होता है और साक्षात्कार शब्द से समापत्त का अर्थ स्पष्ट होता है । इन दोनों शब्दों का अर्थ हुआ अत्यन्त-स्पष्ट से तदाकारकारित हो जाता है । 'समापत्त' शिस्त की उस स्थिति में होती है जब कि शिस्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और अन्त शिस्त स्वतः ही सभी विषयों के अर्थग्रहण में समर्थ हो जाता है । निरन्तरवृत्तिक स्वच्छ शिस्त समापत्तकाल में छोय स्थ अन्तमन के अकार को ग्रहण कर छोय विषयकारकारित हो जाता है । ग्रीकोत, ग्रीको और मातृय ये तीन छोय विषय ही निरन्तर वृत्तिक शिस्त के अन्तग्रहण हैं । 'ग्रीकोत'मे तात्पर्य है पुरुष सामान्य । ग्रीको, अयोध्या प्रकार की शिस्तों ही 'ग्रीको' हैं और खूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ये तीन प्रकार के 'मातृय' विषय हैं । 'ब-श्रुती' को 'खूल' कहा गया है, 'ब-तन्मात्राओं' को 'सूक्ष्म' कहा गया है तथा प्रकृति-तत्त्व को सूक्ष्मतर मातृय विषय माना गया है । इन तीनों छोय विषयों में ही योग का समस्त विषय ग्रीकोत हो गया है । इसीलिए इन तीनों छोय विषयों के साथ शिस्त का अत्यन्त-स्पष्ट तदाकारकारित हो जाता है-जन्म ही समापत्त है । समापत्त के चार चरणों का वर्णन इन व्याख्याओं में ही प्राप

1 - " सम्प्रतिश्रित ए साक्षात्कारपरिभाषा ।" - - - सा च तत्त्वतर्पणतत्त्वात् तेषु ग्रीकोतविषु स्थितश्च शिस्तश्चाशोभीकौचैः सद्यस्वकारतात्प्रेतार्थः ।"  
 --- योगवीथिका पृ० 26 f

2 - " तथा च यतिश्चतस्रस्त एव सर्वांगग्रहणसमर्थः ।" --- वही पृ० 26 f  
 3 - " अथ ग्रीकोत पुरुषसामान्यम् । ग्रीको च गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या कर्षणात्मात्र अयोध्याविषयम् । मातृय च खूलसूक्ष्मतरसूक्ष्म शिस्वीयम् । ब-श्रुतार्थे तन्मात्रावृत्तितत्त्वम् ।"  
 --- वही पृ० 26 f

सहितर्क-समाप्ति — 'सहितर्क' शब्द का विश्लेषणात्मक अर्थ इस प्रकार से किया गया है — "विपरीततर्कयोगात्सहितर्कसहित्यर्थः, अत एव तत्कालीन योग एव सविकल्प इत्युच्यते ।" अर्थात् विपरीत तर्क से युक्त सवितर्क समाप्ति है । अतः सवितर्क समाप्ति का सविकल्प-योग को संज्ञा दी गई है । इस समाप्ति में स्मृत विषयों के शब्द, सर्व संज्ञा एतत् का अभाव अन्य साक्षात्कार प्राप्त होता है ।

निर्दिष्टता-समाप्ति — यह समाप्ति भी स्मृत विषयक होती है । यह समाप्ति ध्यानार्थमात्र को प्रत्यक्ष करती है । विकल्प शून्य होने के कारण इस समाप्ति को निर्दिष्टता समाप्ति कहा गया है । यह समाप्ति अविद्या के तत्त्वाभाव भी सम्बन्ध से रक्षित होती है । सम्भवतः इसी लिए इस समाप्ति को 'परप्रत्यक्षम्' यह संज्ञा भी दी गई है । अविद्या का तत्त्वाभाव भी सम्बन्ध न होने से चित्त को छेद्य विषय के अर्थ का शेष साक्षात्कार होता है अतः (परप्रत्यक्षम्) यह संज्ञा इस समाप्ति के लिए उचित दी गई है ।

सविचारा और निर्दिष्टता समाप्तियों :- यह समाप्तियों सूक्ष्म विषयक अज्ञान्मूर्ति होती है । स्मृतियों का कारण सूक्ष्म-तन्म हो है । इन सूक्ष्म-तन्मों के साथ चित्त की सम्बन्धमात्र सविचारा समाप्ति है<sup>5</sup> । यथा - वायु, जल पृथ्वी ये सभी स्मृत कर्तृ हैं तन्मों के सूक्ष्म कारण तन्मात्राएँ हैं । इन तन्मात्राओं के अभाव से अज्ञान्मूर्ति ही जन्म है निर्दिष्टता-समाप्ति है ।

1 - "ऋषयः - योगवीथिका पृ० 27 f

2 - "तत्र समाप्तिस्तत्राभ्ये गीरिति शब्दे गीरि शब्धे गीरिति तान्मिप्रव्यावृत्तयेः शब्दार्थान्तरात् ये विकल्पा अभिव्यक्तम् ।"

— वही पृ० 27 f

3 - "ध्यानार्थमात्रावगतिद्वन्द्वी विकल्प शून्या स्मृत समाप्तिर्निर्दिष्टसहित्यर्थः ।"

— वही पृ० 28 f

4 - "इयं समाप्तिः परंप्रत्यक्षमुच्यते अविद्यात्तेजोनाम्यसंपर्कान्ति ।"

— वही पृ० 28 f

5 - "तत्र स्मृतस्तु यस्मिन् तदुपरान्तं सूक्ष्मे समाप्तिः सविचारा ।"

— तन्मोऽर्थात्तन्मयोगस्तु कृति पृ० 29 f



## मणिप्रभा

जिस प्रकार स्वच्छ जीवजातमणि अपने समीप स्थित विविध फूलों के रंगों से उपरका होकर बेसी ही वास्तित होती है उसी प्रकार अध्यास बेरास द्वारा वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर नितम्ब निर्मल स्वच्छ चित्त अपने स्वरूप का परित्याग कर अन्तस्मान के अकार से अकारित हो जाता है ।

स्वच्छ चित्त जब मग्न ज्ञात इन्द्रियों के सम्पर्क में जाता है तब वह मग्नकारक स्थित होता और जब मग्नोत्तरार्धार्थ अस्मितस्वरूप पुरुष से उपरका होता है तब अपन स्वस्वरूप का परित्याग कर अस्मितकारक स्थित होता है । इसके अतिरिक्त वृत्तित पर्यन्त बहुल सूक्ष्म ज्ञात विधियों के सम्पर्क में जाने पर उनके अकार का भी भित होता है । इस प्रकार क्षीणवृत्तिक चित्त का स्वस्वरूपद्वारा द्वारा मग्नोत्तरार्ध और मग्नकारक से उपरका होने पर तद्रूपता या सम्बन्धित ही समापित है । समानित और सम्बन्धित-समाधि में मणिप्रकाश ने अश्वे माना है क्योंकि सम्बन्धितमणि में ही स्वरूप और सूक्ष्म विधियों का सम्बन्ध जान होता है और समापित में ही स्वरूप तथा सूक्ष्म योग्य पदार्थों की सम्बन्धित होती है । समापित के चार चरणों का निश्चय शब्द के अन्वय पर किया गया है ।

## योगसूत्रार्थवैशिष्ट्यो, योगसिद्ध्यात्मनिश्चयः

योगसूत्रार्थवैशिष्ट्यो, और योगसिद्ध्यात्मनिश्चयः में अकारकाल ने विषय का विवेचन मणिप्रभा के समान ही किया है ।

। - अध्यासबेराश्यायां क्षीणरजस्तमो वृत्तिकाया चित्तान्तेः बहुलसूक्ष्मवृत्तात्ममग्नोत्तरार्धेण मग्नोत्तरार्धेणैवैवृत्तौ पूर्वेतितामित्याऽऽद्यपुराणेषु चोपरकतस्य स्वस्वभाविकेन वा माहात्म्य-कारणवृत्तितः स सम्बन्धितः ॥ ”

समापित सम्बन्धयोग का पर्याय है । एकाग्रभूमिक चित्त में ही समापित होती है । उद्योग ग्राह्य और ग्राहक ही समापित के विषय हैं । समापित-काल में चित्त इन विषयों के तद्रूप हो जाता है । चित्त का योगजन्यन के प्रति तद्रूपापिता ही समापित है ।

समापितकाल में प्रतीता के समक में चित्त ग्राहीभार हो जाता है । ग्राहता का अर्थ यहाँ पुरुष्कार बुद्धि है । पुरुष्कार बुद्धि ही शक्ति है । अतस्तु कर्तृत्व और बोधत्व के मूल में बुद्धि ही है । पुरुष् को चित्तव्यवस्थापित करने पर ही पुरुष् का बुद्धिवृत्तियों से सम्बन्ध होता है तबो सारा ज्ञान शक्तिमान् स्त्री पुरुष्-तत्त्व का होता है । चित्त का शक्तिभार होना ही ग्राहीसमापित है । अत-तत्त्व तथा सूक्ष्मत्व ही ग्राह्यविषय है । सूक्ष्मत्व के अन्तर्गत सूक्ष्म, घटतीव भीतिक पर्याय हैं और सूक्ष्मत्व के अन्तर्गत तन्मात्रात् जाती हैं जब चित्त इन सूक्ष्मशक्तियों तथा सूक्ष्ममात्राओं के भार से भारित होता है तब ग्राह्यविषयक समापित होती है । चित्त जब उद्भाकार हो जाता है तब ग्राहक समापित होती है । ग्राहक का अर्थ इन्द्रिय नहीं प्रकृत इन्द्रियशक्ति है । इन्द्रियशक्ति स्त्री अतन्मन के तद्रूप होने पर ही ग्राहकाकार समापित होती है । समापित के चार भेद हैं (1) सचित्तक (2) निर्वित्तक (3) सचित्तक और (4) निर्वित्तक। अतन्मन-समापित सचित्तक, निर्वित्तक है, और सूक्ष्म-विषयक-समापित सचित्तक, निर्वित्तक है ।

सचित्तक समापित — एकाग्रभूमिक चित्त जब शक्तार्थ ज्ञान के शक्तिविकल्प के अकार से शक्ति होना है तब सचित्तक समापित होती है । यह समापित कृत विषयों में होती है ।

1 - " एकाग्रभूमिक चित्तस्य, शक्तिजन्य = स्वच्छन्दोक्तिव् ग्राहीसुग्राह्यविषय समापितविषयः, तत्त्वतर्जनात् तत्त्वः सामर्थ्यं स्वच्छं ग्राह्यादि विषयेषु सवेव या स्थितता तादृशभवेन दोषरक्तत्वं यथास्वच्छत्वं ज्ञेयं स्वच्छेनोपरागात् सेव समापित, सम्बन्धतत्त्व योगस्थापरपर्याय इति । "

— भाष्यती पृ० 107

2 - " सूक्ष्मविषयेषु ग्राह्या प्रक्या परिपूर्णत्वे तयो या समापन्ता सा सचित्तकैति । "

— वही पृ० 111 F

निर्दिष्टार्क समापत्ति — जब ध्येय विषय का ध्यान, विषय के नाम और तत्त्व के माध्यम के बिना किया जाये तब यह ध्यान "निर्दिष्टार्क" होता है । निर्दिष्टार्क इसलिए शारीक इस ध्यान में विकल्पों का मिश्रण बिलकुल नहीं रहता । यह ध्यान शक्ति के लिये ही तब अनुमानाविद्यमानों के संकेत से शुरू-हल रहता है । "शून्य-व्यवस्थाओं" विशेष अर्थ का द्योतक है । वास्तविक रूप से शुरू नहीं प्रत्युत मामाविद्येहीन स्थूल ध्येय-विषयक-समापत्ति ही निर्दिष्टार्क-समापत्ति है ।

निर्दिष्टार्क-समापत्ति में चित्त ध्येय के वास्तविक आकार से आकृष्टित होता है । यह "अवग्रहण" समापत्ति के शीतक इसमें अनुमानविद्ये समापत्ति का मिश्रण नहीं रहता । साथ ही शब्दहीन होने के कारण यह समापत्ति शब्दादि विकल्पों के दूषित से शून्य होती है । इस समापत्ति में आद्यविषय, ध्येयविषय मत्त होता है । शून्यत्व नहीं । ध्येय-विषय निर्दिष्टार्क-समापत्ति में मामाविद्ये विकल्पों से रक्षित केवल अर्थ मात्र में प्रतिष्ठित होता है । इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि निर्दिष्टार्क-समापत्ति में आद्य विषय केवल ध्येय मात्र होता है अर्थात् केवल अर्थ मात्र होता है ।<sup>1</sup> इसीलिए इस समापत्ति का ध्येय-विषय-मिश्रण ही कहा गया है । इस समापत्ति में वास्तविकध्येय ही प्रकटित होता है । असत्पदार्थ कह नशायात्र ही समर्थ नहीं होता ।

1 - " वास्तव" इत्यमशब्देन तदा निर्भरते, न च कश्चिदसत्यपदार्थस्तकल्पगते समीते सा हि निर्दिष्टार्क समापत्तिः । तत् परं प्रत्यक्षं समाधि जातत्वादन्यप्रमाणमप्यत्वात् ।"

— भाष्यतो पृ० 111 पृ० 112 प

2 - "मामाविद्येहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्तिर्निर्दिष्टार्क स्थूलविषयेति सूत्रार्थः । मामाविद्येहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्ति निर्दिष्टार्क स्थूल विषयेति सूत्रार्थः ।"

— वही पृ० 112 प

" आद्यमत्र ध्येयविषयो न तु शून्यमि ।"

— वही पृ० 113 प

सविधारा और निर्धिधारा समापित — सविधारा और निर्धिधारा

समस्तित्वार्थं सुखम भ्रान्तमनो वान्ति नोते । तन्म तन्निव सुखम भ्रान्तमनो ॥ जव इन तन्मन्तर्निव सुखम भ्रान्तमनो के देश, एतल और निगलत सङ्गत अकार से चित्त तवकाराभरित होला डे तव सुख विधयक सविधारा समापित होतो डे । जव इन धर्मो से जगदधिष्णु शास्त्राधिकृत्य से होन श्रेय विधय की तवकारायतिल चित्त में होतो डे तव निर्धिधारा-समापित होतो डे । निर्धिधारा-समापित का पर्यवसान श्रीरंग में होला डे ।

श्रामिनारायणवाच्य

अथैव वेराथ द्वारा चित्त की राजस तमस दुर्लियों के शीघ्र हो जाने के उपरान्त स्वच्छ चित्त की गङ्गोतु, गङ्ग और महादू नद्यक परवार्यो में तवकारा-पित्त ही समापित डे । यह समापित क्रम से पहले शून्य विधयक होति डे तवकारात सुख विधयक होतो डे । अतः गङ्गोत्राधि का क्रम कृष्णवत्सवाध्याय में माह्य, गङ्ग और गङ्गोतु इस प्रकार से निविधत किया डे ।

इन्होंने चित्तानुगत-समापित-समर्पण के अन्तर्गत तवितर्क, निर्धिधर्म समाधि माना डे और विचारानुगत के अन्तर्गत सविधारा, निर्धिधारा-समाधि माना डे । ज्ञानम्ब और अस्मित अनुगत का आवाप्तर भव नहीं किया डे । इस संकल्प में शब्द वर्णन शाम्यानुसार डे ।

1 - " देशकालानिमित्तानुभवाधिष्णेषु सुखानिपयेषु शब्दसहाया वा समापर्तिजयते सा सविधारात्प्रेति । "

— शक्तो पृ० 119 f

2 - " समाधिपथा यथाशब्दव्यवहारजीविकत्याम्वा स्वस्वश्रुत्यैवार्थस्य निर्धातव्योति तश निर्धिधारेत्युच्यते । "

— शक्तो पृ० 119 f

3 - अथासवेराथाध्याय उपायान्तरेर्वा श्रीधराज्जतामस प्रमाणविद्वत्तेः समापस्यस्यश्च चित्तस्य गङ्गोतुम्ब गङ्गेषु - माह्येषु च परवार्येषु, तत्पत्तम्ब तत्रेकात्मता, तद्विजना - तवकारत्वश्चित । "

— स्व०न०प०पृ० 145

### व्यतिरास

व्यतिरास के अनुसार मध्यमिक योगी सुत करप्रदा जाता होता है । योगी को चार अवस्थाएँ होती हैं । (1) प्रथमकालिक (2) मध्यमिक (3) प्रजाप्येति (4) अतिकालतमावनीय । प्रथम पाद के 48वें श्लोकों पाद के 49वें सूत्र के शब्द में श्री सुतम्बरा का वर्णन किया गया । इसमें 'तस्मिन्' शब्द का अर्थ 'निर्विकार-वैशारद्य' है । 'वैशारद्य' का अर्थ है 'स्वच्छ होना' । निर्विकारासमाप्ति में चित्त रजो, तमो मन से रहित होकर स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है चित्त का इस प्रकार से स्वच्छ होना ही 'वैशारद्य' है । इस 'वैशारद्य' की स्थिति में चित्त की जो प्रज्ञा प्राप्त होती है उसे 'अध्यात्मब्रह्म' कहा गया है । यह 'अध्यात्मब्रह्म' ही 'सुतम्बरास' है । यह सुतम्बरास उन्मूल्यतमसमहि-ब्रह्म है । यह सब की चारण करने वाली प्रज्ञा होती है । इसीलिए इसका नाम सुतम्बरा-प्रज्ञा है । सुतम्बरा-प्रज्ञा में प्राप्ति ज्ञान का वैशम्य या मध्यमत्व ही नहीं होता है ।

### तत्त्ववैशारदी

बुद्धि का अध्यात्मिक प्रकृत्यात्मक है । रजोगुण और तमोगुण स्त्री शरीरण से प्राकृत होकर बुद्धि का अगण्य व्यर्थ स्वरूप प्राप्त है । जब अध्यात्म और वैशारद द्वारा रजोगुण, तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब मन स्त्री शरीरण समाप्त हो जाता है और बुद्धि निर्मल होकर अपने व्यर्थ प्रकृत्यात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है इस समय बुद्धि की प्रजाप्येति प्रसूत हो जाती है । जिससे बुद्धि को अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पदार्थों पर सुगमदृष्टान प्राप्त हो

1 - " यदा निर्विकारस्य सम्भवेवैशारद्यमिदं जायते तथा योगिना भवत्येष्टात्मब्रह्मवो  
वृत्तार्थ विषयः क्रमननुरोधी कृदाः प्रपञ्चोक्तः । "

— व्यासभाष्य पृ० 125 f

2 - " तस्मिन्महीतिचित्तस्य वा प्राज्ञा जायते तथा सुतम्बरेति वर्जा भवति । "

— यदो पृ० 126 f

जाता है । यह ज्ञान ही "अध्यात्मप्रसाद" है । जिसको "सतम्भरा-प्रसाद" नाम से अभिहित किया गया है । "अध्यात्म प्रसाद" निर्धिचारासमापित के निर्भत होने पर ही होता है ।

"सतम्भराप्रसाद" पदार्थों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान करती है । सतम्भराप्रसाद से पदार्थों का सुख तथा विरोध ज्ञान प्राप्त होता है । आगम और अनुमान प्रमाण से पदार्थों का सामान्य ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है परन्तु उनके अन्ततम का ज्ञान "सतम्भरा-प्रसाद" से ही प्राप्त होता है अतः "सतम्भरा प्रसाद" अगम और अनुमान ज्ञान को तुलना में विशेष ज्ञान" वाली प्रथा है ।

### राजमार्तण्ड-वृत्ति

अप्य समापितियों की फलरूपा निर्धिचारासमापित है और निर्धिचारा समापित का फल "अध्यात्मप्रसाद" है । अर्थात् "अध्यात्मप्रसाद" और "निर्धिचारा समापित" में फलकारण का सम्बन्ध है । "निर्धिचारासमापित" ही कारण है जिसका कार्य रूप फल "अध्यात्मप्रसाद" है । "अध्यात्मप्रसाद" को ही "सतम्भराप्रसाद" की संज्ञा दी गई है ।

निर्धिचारासमापित के निर्भत होने पर मत्स्या अर्थात् बुद्धि की वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव प्राप्त होता है क्योंकि इस समय बुद्धि रजोगुण गथा समोद्गुणकत यत्ने से अथित रहती हुई केवल सात्त्विक वृत्ति से युक्त रहती है । सात्त्विक वृत्ति प्रवृत्तता की व्योक्त तथा उत्पादक है अतः इस समय बुद्धि में प्रसन्नता का ही

.....  
 । - " निर्धिचारायाः प्रकृष्टाध्याससाक्षाद्देवतारव्ये मेमन्थे सत्प्रध्यात्मप्रसादः समुपजायते ।  
 चित्तं शैवात्मनानारीकृतं स्थितप्रसाद योयं भवति । एतदेव चित्तव्य वेदार्थं यत्तयते  
 शार्दूलम् । "

प्रदर्शन होता है। निर्मित, सुखवास्तविक प्रत्यक्षित में ही समीचीन स्थिर तथा दृढ़ होती है। इस प्रकार तथा दृढ़ चित्त में योगी को सभी पदार्थों का पदार्थ तथा सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। पदार्थों का यथार्थज्ञान ही 'सतम्भारपण' है। इसी कारण पर इस ज्ञान को सब को धारण करने वाली प्रण कला जाता है।

'सतम्भार प्रण' एक विशिष्ट प्रण है। इसमें अस्मिन्मान या अविद्या का तेजोमज्ञ ही सम्पर्क ही नहीं होता। यह पदार्थों के सूक्ष्म और पदार्थ स्वच्छ का ज्ञान करता है। अतः यह आत्ममूर्च्छाजन्यमान ज्ञान से विशिष्ट कही जाती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण यह प्रण विशिष्ट है।

### विचारण

रोगुण और रोगुणों में अव्यभिक्त चित्त को निर्दिष्टार-नमोस्तिसल में वेगारदय प्राप्त होता है। स्वच्छ और सुख चित्त का सत्यिक प्रवाह ही उसका 'वेगारदय' है। इस 'वेगारदय' के उत्पन्न होने पर ही योगी को 'अध्यात्मप्रवाह' होता है। 'अध्यात्मप्रवाह' का अर्थ 'आत्मविज्ञानविकेक' किया गया है; अर्थात् पुरुष और प्रकृति का विशिक्त ज्ञान ही 'अध्यात्मप्रवाह' है। इस अध्यात्मप्रवाह के अहित

। - " अतः सत्यं विमर्शं कदाचित्कीप म विपद्येनाऽऽच्छाद्यते सा सतम्भारपण तस्मिन्सतं भवतीत्यर्थः । "

— ११०म०पृ० पृ० 121 F

२ - " प्रकृत्यात्मनो बुद्धिसात्मस्य रजस्तमोत्यात्मनिवृत्तः स्वच्छः स्थितिवशात् वेगारदयम् । "

— ११०प०पृ०म०वि० पृ० 113 F

है। पर योगी को पदार्थों का अध्ययन, सुख और विविक्त ज्ञान प्राप्त होता है ।  
 उस ज्ञान को ही 'सतम्भरा-ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है । 'सतम्भराब्रह्म' का अर्थ है  
 'सत्य की धारण करने वाली प्रज्ञा' । उक्त ज्ञान सत्य को ही धारण करती है, सत्य  
 ही प्रथम से सर्वथा रूढ़ित होती है इसीलिये 'सत्तात्मप्रसव' नामक ज्ञान को सतम्भरा-  
 ब्रह्म कहा गया है ।

### योगवर्तिनि

सतम्भराब्रह्म के संकल्प में विश्वानुबन्धु ने बहुत सौख्यजनक अर्थ दिया है ।  
 पहले अध्याय के 48वें सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि सचोक्त समीपियों में उत्पन्न होने  
 वाली समीप्यतिथि ही सतम्भरा-ब्रह्म है और उसी का सत्कीय नाम सतम्भरा है ।  
 यथा — " पूर्वसुखोक्तसमीप्यमाधो जयमानः समापत्त्याध्यायाः प्रथया अन्वर्षा हात्रिकी  
 संशामिप्यतिथि । " इस संकल्प में अनेक <sup>योग</sup>सर्वों की देना है यथा — सभी समापत्तियों  
 में सुख न कुछ प्रकाश होती है जित्ने समाधिजनक रहते हैं । यह प्रज्ञा ही सतम्भरा —  
 ब्रह्म कहो जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि विश्वानुबन्धु के अनुसार सतम्भरा-  
 ब्रह्म चारों समीपियों में होता है । इसके अतिरिक्त समीप्यतिथि ही योगी को जो प्रज्ञा  
 होती है उसमें ही सतम्भराब्रह्म कह सकते हैं, क्योंकि समीप्यतिथि ही योगी की प्रज्ञा  
 में लौकिक ज्ञान का सहायक संपर्क की गर्त होता है । इस ज्ञान को प्रमाणात्क विवृष्ट  
 करने के लिये विश्वानुबन्धु ने स्मृति से प्रमाण दिया है — " योगकाले प्रकृष्टा प्रज्ञा  
 भवतीत्यत्र स्मृतिं प्रमाणयति । "

1 - " यथा निर्दिष्टारस्य समीप्येतादृशिवर्ष जायते, तदा योगिनी चक्षुष्यात्मप्रकाशः  
 सारसविदधान विवेकः । असौ च व्यक्त्यान् दूतवीचषयः क्रान्तुरोषी परिप्राटाक्या  
 यावत्सौहाश्रयमनुस्वद्ययत इति क्रान्तुरोषी सुष्टं विधि सतरं शुद्धतरात्मकः प्रजातोः  
 प्रचोचालोकः तथा हि यथावन्तु जानति । "

- विवरण पृ० 113 प

2 - " प्रतीक्य सतस्यीववर्षिकस्यमस्य हि जयते । जगामाना क विभक्त्यैकगवन्वृत्ति

3 - " अन्वर्षा - योगवर्तिक पृ० 126 प -- वही पृ० 114 प

4 - प्रकृष्टा - वही पृ० 127 प



तृतीय-अध्याय के ११वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में निर्दिशतर्क समाप्तिल स्त्री परप्रत्यय ही को 'सतम्भराप्रका' बताया गया है । और यह भी कहा गया है कि निर्दिशतर्क के बाद की श्रुतिप्रका प्रकाशयति नामक तृतीय कोटि के योगी के द्वारा प्रसारित होती है । इसीलिए निर्दिशतर्क समाप्तिल या तत्कल्प अद्यात्मप्रसाध को 'सतम्भरा-प्रका' नहीं माना जा सकता ।

### योगवीपिका, पारतन्त्रयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में अन्य कृति समाप्तियों की तुलना में निर्दिशतर्कसमाप्तिल की विशेषता माना गया है । निर्दिशतर्क-समाप्तिल में चित्त की एकाग्रता निश्चल होती है और चित्त की यह निश्चल-एकाग्रता ही इस समाप्तिल का वैशिष्ट्य है । इस वैशिष्ट्य के होने पर अद्यात्मप्रसाध होता है । 'प्रसाद' का अर्थ अर्थात् इन व्याख्याओं में 'मैर्यत्' किया गया है । अद्यात्मप्रसाध के द्वारा साधक पुरुष का साक्षात्कार योग के साधनों के अनुष्ठान के बिना ही कर लेता है । अतः 'अद्यात्मप्रसाध' के फलस्वरूप साक्षात्कार प्राप्त ही सतम्भरा प्रका है ।

भाषाग्लेश ने त्रितकतीय समाप्तियों की प्रकाश की सतम्भरा-प्रका माना है क्योंकि उन समाप्तियों में जिन ध्युत्सूय विषयों का ज्ञान होता है वह तत्काल होता है अतः उन समाप्तियों के ज्ञान को भी 'सतम्भराप्रका' सर्वत्र देना शक्तिप्रमाणो जीवद् ने ही अपनी व्याख्या में ऐसा ही विवेचन किया है ।

१ - " निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्वम् । "

— योगवीपिका पृ० ३० ४

२ - " तत्र क्वचित् योगे जन्ममानासदा समापत्त्याख्या सतम्भरतर्कमिति । सतस्य सत्यस्यैव भरनात् विषयत्वेन चारणावित्यर्थः । तदितर्कप्रकाशयत्तदधिकल्पः त्वेति सतम्भरजातीयत्वेन समुद्रः । "

— पारतन्त्र योगसूत्रवृत्ति पृ० ३० ४

## मणिप्रकाश

चित्त में से रजोगुण और तमोगुण के अघेत हो जाने पर स्वच्छ चित्त में केवल सन्नित्तक कृति का प्रवाह होता है । इस सन्नित्तक कृति के प्रवाह से चित्त को पकृतिपर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है । इस तरह का ज्ञान ही 'निर्विचारा-समधि' का 'वेतारव्य' है ।

निर्विचारा-समधि के वेतारव्य की परिधि इति पर परमन्तु ज्ञधि पञ्चम पर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का एक साथ ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान ज्ञान्मिच्छ होता है अर्थात् सन्नित्तककृति में स्थित होता है । अतः इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है । अर्थात् आत्मा में रहने वाला 'प्रसाद' पर 'ज्ञान' । 'अध्यात्मप्रसाद' का ही योगसम्बन्ध नाम 'अतम्बरा-परा' है । 'अतम्बरा-परा' निर्विचारा-समधि ज्ञ्य है । यह परा सद्य को धारण करती है । अतम्बरा परा' महामन्त्रैः अनुमानाधि प्रमाणों से विशिष्ट है ।

## योगसुनार्थबोधिनो, योगविद्वान्त चम्बिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रकाश के सङ्गत विवेचन है अतः इनका प्रयोग से इस प्रसंग में कोई कर्त्तव्य नहीं किया जा रहा है ।

। - " स्वच्छचित्तस्थ कृति प्रवाहः प्रधानतस्त सूक्ष्म ज्ञान्मिच्छः यद् सोऽयं निर्विचारासमधिः वेतारव्यम् । "

शास्वती

निर्विचारा-समाप्तिले के वेसाहस्यकाल में परम् निर्मल बुद्धि को एक साधु की समस्त मूल विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है । यह यथार्थज्ञान की सतम्भरा-प्रज्ञा है । 'सतम्भराप्रज्ञा' का अर्थ है सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा । वास्तव में यह प्रज्ञा अपने नाम को सार्थक करती है अतः इस प्रज्ञा का यह नाम सर्वथा अर्थ के अनुरूप ही है ।

स्वात्मनारायणभाष्य --

निर्विचारा समाप्तिले में बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ और मलरहित होती है । निर्मलबुद्धि में केवल सात्त्विकबुद्धि का प्रवाह होता रहता है । ऐसी निर्मल बुद्धि सात्त्विकबुद्धि की एकमात्र ही निर्विचारासमाप्तिले का वेसाहस्य है । 'वेसाहस्य'काल में बुद्धि, पुरुष तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्ता करती है जिसे 'अध्यात्मप्रसाधे'या 'आत्मनिश्चयप्रसाधे' कहा गया है । अध्यात्म प्रसाधे से तात्परासाकार प्राप्ता होता है । जिसे सतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं । 'सत' का अर्थ सत्य है अर्थात् बुद्धिप्रभृति से विभक्त आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही 'सतम्भराप्रज्ञा' है । बुद्धि के विषय सम्बन्धि है । शब्दादि सतम्भरा प्रज्ञा के विषय नहीं बनते । अतया तथा परमात्मा स्वरूप केवल विषय ही सतम्भरा प्रज्ञा के विषय बनते हैं<sup>१</sup> ।

1 - " निर्विचारस्यवेसाहस्ये जते सति सा प्रज्ञा जायते तथा सतम्भरीति संज्ञा । "

शास्वती पृ० 126 F

2 - " अध्यात्मप्रसाधे या प्रज्ञा - सात्मनिश्चयकलासाहकारः - प्रज्ञा लोकः सा सतम्भरा, - सतं सत्यं यथार्थम् आत्मस्वरूपं बुद्ध्यावापि किन्मतया विचरितं विषयोऽभेदीति सा 'सतम्भरा' इत्युच्यते । अतो मुमुक्षुर्विषयिणी प्रज्ञा न सतम्भरा किन्तु सात्म-परमात्मनिश्चयविषयेवेति-तत्त्वम् ।

- सात्मनारायण पृ० 156 F

संभवतः  
२०२३

क्रियायोग और उसकी उपयोगिता  
संस्कृत-शब्द-कोश-प्रकाशक-संस्थान-वाराणसी-221-001-1958-59

व्यसनाध्य

क्रियायोग के द्वारा व्युत्पत्तिवत्त वाच्ये योग की समाधि की प्राप्ति कर सकते हैं । क्रियायोग से केशों की व्युत्पत्तियाँ हाकी पढ़ जाते हैं ।  
पुनः तन्वृत्त केशों को पुत्तियों की प्रथमात्त त्विद्वारा वरु-वोजभावता प्राप्त होती है जिसके कारण से पुनः अक्रियत नहीं हो पाती । इस प्रकार क्रियायोग केशों को मष्ट करने में बहुत उपयोगी है ।

तत्त्ववेदादी

शष्य की तरह तत्त्ववेदादी में भी क्रियायोग की उपयोगिता सिद्ध की गई है । क्रियायोग से केवल केवल तन्वृत्त क्रिय जाते हैं । उनका पूर्ण निरोध प्रसंख्यत क्रिय से ही होता है ।

राजमार्कव्युत्ति

शिवशुद्धि केशों से विलग क्रिया तथा दुःखी होता है । अतः शिवशुद्धि को दुःखार्थ का कारण जानना चाहिये क्योंकि शिवशुद्धि ही शरीर दुर्गो का कारण है । इस प्रकार शिवशुद्धि तथा दुःखार्थ में कारण कार्य संबन्ध हुआ । क्रियायोग के द्वारा उस कारणकार्य के संबन्ध का निरोध किया जाता है, मष्ट नहीं किया

1 - " केशानां वा वृत्तयः शूलान्तः क्रियायोगेन तन्वृत्तः सत्तः प्रसंख्यतेन ध्यानेन हातव्या वाचशुभ्रमेकता वाचद्वययोगकत्वा इति ।"

--- व्यसनाध्य पृ० 158 f

2 - " क्रियायोगश्च पतन्वृत्तमस्ति म्यारारो न तु वन्वृत्तये केशानाम् । प्रसंख्यते तु तद्वन्वृत्तये । यतः सम्यक्प्रतिकारणमाप्तोऽधिकारः कार्यात्तन्वृत्तानां यथा हेतुवृत्तया सा तपोकीर्ति । " --- तत्त्ववेदादी पृ० 140 f

जाता है इत्युक्त केवल रोहता जाता है । प्रिययोग के साधन या उपाय तपस्यादि हैं । तपस्यादि चित्त में व्याप्त अविद्यादि रूपां शक्तियों को विधिल करने हैं । परिणामस्वरूप चित्त समाधि साधना के योग्य स्थिति में आ पाता है । बुक्तियों से आद्यक्षुब्ध चित्त भी इतन्ततः प्रियोग होता रहता है, जब बुक्तियों विधिल हो जाती है तब चित्त शांत हो जाता है और शांत चित्त ही एकमात्र होकर समाधिस्थ होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "प्रियायोग" से श्रेष्ठ इसके लिए जाते हैं, जिनका साधनसाधनाया प्रसंगाना भावि ब्यपार हो होता है ।

### विवरण

विशिष्टचित्त जाते भी समाधि के योग्य बन गये इसी बात को ध्यान में रखते हुए सुप्रसन्न ने प्रियायोग का उल्लेख किया है । "प्रियायोग" को विवरणकार ने "प्रियात्सो योग" कहा है । "तप" शब्द प्रियात्सो "योग" के लिए ही की जाती है अतः योग के लिए किए गए तपस्यादि क्रियाओं को "प्रियायोग" कहा गया है । इसी तरह 'समाधि' को चित्त का धर्म है, उसके भी प्रत्यक्ष योगसाधन के लिए ही की जाती है। अतः 'समाधि' को भी 'योग' कहा गया है । इस प्रकार किन क्रियाओं से योग की स्थिति सम्भव है उन योगार्थ क्रियाओं को "प्रियायोग" कहा गया है । "प्रियायोग" के अन्तर्गत, तपस्या, स्नाय्याय और ईश्वरसाधनाया भावि क्रियाएँ समविधित हैं ।

1 - " श्रेष्ठा वक्ष्यमानस्तेषां तनुकरणं स्वकार्यकारण-प्रतिपत्त्या । तपः इन्द्रिययोः -  
 श्चक्षुस्त्वस्मिन्संगतवद्विद्यादीन्क्षेत्राच्छिपिती कुर्वन्तः समावेश्यकारणतां प्रकल्पे । "

रा०भा०सू० पु० - १३५

२ - " तन्मेष्वि प्रियात्सो योगः प्रियायोगः । तपःश्रद्धा क्रिया व योगार्थस्वाशुयोग इत्युच्यते। चित्तधर्मो हि समाधिर्योगः । तपश्चैतद्व्यं प्रियायोगः । तस्मादनेन प्रियायोगेन योगीति । "

— विवरण पु० १३५

'योग' प्राणि की दृष्टि से विविधवृत्त वस्तुओं के लिए क्रियायोग की उपयोगता स्वयंसेव्य है। 'क्रियायोग' अथ योगीनी सहित समधि की प्रवर्तना करने में सहायक है। क्रियायोग के द्वारा ही अधिद्वारा ही तनुकृत किए जाते हैं। क्रियायोग से तनुकृतशैवा ही विवेकव्यति रमी अग्नि से दध्य-भोगमवता को प्राप्त कर अवसवधर्मों हो जाती है। जिसके परिणाम स्वल्प चित्त अवसवधत योग को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रकार क्रियायोग का योगसाधना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण योग वान है।

### योगवार्तिक

क्रियायोग व्युत्थित चित्त वस्तु साधकों के लिए योग का द्वार है। विज्ञानविद्यु ने क्रियायोग को 'कर्मयोग' का नाम भी दिया है। सत्यक प्रकरणे निष्कामभाव से किया गया कर्म ही कर्मयोग है। 'कर्मयोग' से कर्म के अतिरिक्त विधियों के प्रति चित्त की दृष्टियों का निरोध हो जाता है। इस प्रकार निरुद्ध दृष्टिक निष्पाप चित्त स्फाग्न हो जाता है। सत्त्वसुदृष्ट के द्वारा चित्त अधिद्वारा शैवों को हल्का करके चित्त को समधि के योग्य बनाता है। तनुकृत शैवा सूक्ष्म साक्षात्कारवती प्रसा के द्वारा समान कर्मव्य हो जाते हैं।

। - " इतरयोगसहितः समधिं भावयति, शैवास्व तनुकरोति । वदति च - 'योगानुष्ठानाद्द्विषये धानवीप्सता विवेकव्यतिः' इति । तदेतवह - तनुकृतान्के-शास्त्रसंख्येन शैवातनुकरणात् सजातसव्यवर्तमानिनेन, दधवीज कल्पात् भीजानीय दधप्रसववशतोन् अतएव अवसवधर्मिणः अधिद्वयमानः प्रसवो येषां ते अवसवधः, अवसवधश्च ते धर्मिणश्चेताप्रसवधर्मिणः तानप्रसवधर्मिणः करिष्यति प्रसवव्यक्तिरहितान् करिष्यति ।"

— विवरण पृ० 124 F

२ - तेषां योगद्वारमाह । सा सत्यक निष्कामाधिस्केह सेव्यमानः स हि स एव कर्मयोगः कर्मान्तरि कर्तव्यपद्येधेति दृष्टदृष्टिक निष्पापं च चित्तं करोति ततः क्रमेण सत्त्वोद्वेकवैकप्रसवधर्माणि करोति अधिद्वारादिकं च एकधर्मानावस्येन तनुकरोति ।"

— योगानुष्ठाने 140 F

## योगवीथिका

समाहितचित्त वाले साधक अर्थात् बैराग्य द्वारा अपनी चित्तशक्तियों का निरोध कर योग प्राप्त कर लेते हैं परन्तु व्युत्थित-चित्त वाले साधकों को इन उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग का आचरण करना अनिवार्य होता है। 'तपस्या', 'स्वाध्याय' और 'शुद्ध ध्यान' क्रियायोग के मुख्य साधन हैं। धर्मनिष्ठासमाधि भी क्रियायोग के अन्तर्गत ही आते हैं परन्तु मध्यम श्रेणी के साधक को तपस्यादि उक्त तीन साधनों पर भी रोचन करने पर ही योग की प्राप्ति होती है। 'भावान्मेषा' में योग के अन्य साधनों में से तपस्यादि को प्रकृत साधन माना है। उनके अनुसार तपस्यादि प्रकृत तथा तीव्रतर साधन हैं। केवल इन्हीं साधनों का अनुष्ठान ही 'योग' प्राप्ति के लिए सहायक हो सकता है।

## पारंजलयोगसूत्रबुक्ति

क्रियायोग से योग के प्रतिरोधक कोश हलके किए जाते हैं और चित्त स्थिर होता है। स्वप्रतिचिन्त में शुद्धसात्त्विकबुक्ति का प्रभाव होने रहने से ये चित्त प्रभावहीन होकर दृढ़ होते हैं पुरुष विवेक क्रांति के द्वारा इनका आत्यन्तिक विनशा कर दिया जाता है।

## संक्षिप्त

समाधिप्राप्त में व्याख्यान योग के दो उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग भी 'योग' का उपाय है। क्रियायोग द्वारा चित्त को क्षेत्राधि शक्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त समाधि को साधना करने में सफल हो जाता है। क्रियायोग के तीन साधनों का उल्लेख इस व्याख्या में ही किया गया है। इन तीनों साधनों से चित्त को क्षेत्राधि

1 - "एतन्नि तपत्रावीरिण क्रियास्तौ योगो योग साधनत्वादिदुर्लभः। वक्ष्यति वक्ष्यन्त्या धर्मनिष्ठासमाधिरथः सर्वेषु क्रियायोगस्तथापि तैश्चः समाहृत्य प्रकृतसाधनत्रयं मया प्राथम्येणैव प्रत्युपादिष्टं भूततः केवलैर्मैतैर्नाथि तीव्रतरेण योगो ह्यतीक्ष्णं सूक्ष्मियुम्।"

— योगवीथिका पृ० 35 f

2 - "स क्रियायोग योग हेतु समाधि चित्तैकाग्र्यमुत्पादयति वक्ष्यन्त्याश्च यैस्ता-भ्योगातिव्याप्तरूपेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणैवैवर्षा।"

— पाठ योग सू० सु० 35 f



वृत्तियों को प्रकाश किया जाता है जिससे चित्त समीप में स्थिर तथा स्थान ही सके । समीप लाभ होने के पश्चात् 'विवेकव्यति' के द्वारा क्षेत्रों को अतएव उन्हीं मूल से मष्ट कर दिया जाता है और तब चित्त निर्विकल्पिक में लीन हो जाता है ।

'तन्मूकरण' का अर्थ है क्षेत्रों को सर्वत्र विद्यमानता को समाप्त कर देना कि वह कभी भी उपलब्ध नहो सके । 'समीप' लाभ क्रियायोग का फल है । क्रियायोग से क्षेत्र जब प्रभाव हीन हो जाते हैं तब चित्त 'समीप' में स्थित होने योग्य हो जाता है । अतः क्रियायोग को 'समीप' स्वीकृत का कारण या उपाय कहा गया है ।

### योगसुधार्यवैधीनो, योगीश्वरान्तर्गमिका

इन दोनों ध्यानमार्गों में ग्रीष्मका के ही सङ्घर्ष 'क्रियायोग' का विवेचन किया गया है ।

### भावती

प्रधान ही दुःख का मूल कारण है । क्षेत्रों के परिणामस्वरूप ही जित्त शक्ति वास्तवों का रोग प्राप्ति करता रहता है । 'व्युत्थानकला' अर्थात् 'अतर्किकला' में चित्त क्षेत्राधि वास्तवों तथा उनके विपाक, उनको दृष्टि और कर्मसायतनकारों से चित्त प्रसङ्ग रहता है । राजसो और तामसी वृत्तियों ही योग को अन्तराय अथवा विघ्न है । इन सभी विघ्नों से वर्धित हुआ चित्त योग को प्राप्त करने में असफल होता है जब तक कि कोई ऐसा कर्मकारण न करे कि चित्त को सारी अशुद्धियों दूर हो सके । व्युत्थित चित्त जाने क्रियायोग के द्वारा कथिक, बहिष्क और मानसिक शुद्धिकर प्रथास और मेराथ से

। - " क्रियायोगेन क्षेत्राधिच्छेदु लब्धावसरः समीपः विवेकव्यतिमुत्पाद्य मयात्मन क्षेत्राधिच्छेदितभावः । "

समर्पितनष्ट हेनि मे समर्प्ये होते हे<sup>1</sup> ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान शक्ति क्रियायोग के अंग हैं । कैतों का सङ्ग तथा सुख का त्याग 'तप' है । वाक्यार्थ ही 'स्वाध्याय' है । 'ईश्वर प्रणिधान' ही मन्त्रिक संन्यस है । इन क्रियाओं के द्वारा तापक वायु आचरणों में निरक्त होकर शांत होकर समर्पित में लीन हो जाता है । इस प्रकार 'योग' के हेतु जो कर्तव्य ताप-वायु ही उसका आचरण ही 'क्रियायोग' है । 'क्रियायोग' योग के वाचक तत्त्वों का उन्मूलन करता है । क्रियायोग ही शक्तिपूर्वक कैतों को हलका करने में सार्थक है । इन तन्मूक्त कैतों को विवेकव्यति रक्षी शक्ति से जताकर उन्हें पूर्ण रस से निरव्यय कर दिया जाता है । इस प्रकार अस्वल्प कैतों की निवृत्ति के कर्तव्य में क्रियायोग से महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है फिर भी 'क्रियायोग' योग के अन्तर्गम ही है<sup>2</sup> ।

### स्वामिभारत-वाच्य

निर्याम वाच से आलेखित क्रियायोग से चित्त स्वप्न होता है । स्वप्न चित्त कर्मणः प्रेयसीवश्यां में एकान्न होता है और सम्भ्रान्ततापि को प्राप्त होता है । कैतों की बीजभावता को जताकर नष्ट करने की क्षमता क्रियायोग में नहीं है जन्म तत्त्व क्षान्तशी शक्ति द्वारा कैतों के बीजों को दश बीजभावता प्राप्त करते हैं । वृत्तियों की दशबीजभावता ही वृत्तियों का अस्तित्वनिरोध है । वृत्तियों के प्राक्त्विक निरोध के परिणामस्वरूप चित्त की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है और चित्त असम्भ्रान्तमहि में लीन हो जाता है । लीन हुआ चित्त ही जन्म में जीवनमुक्त हो कैवल्य को प्राप्त करता है<sup>3</sup> ।

1 - " एतः ब्रह्मकर्मोदरतः शान्तोऽस्मत् उपरतीक्रीतधुर्मुखा समाध्यन्तस्य समर्प्ये भवेत् । कश्चि रतये योगमुद्वेग्य कर्मचरणं क्रियायोगः स च कण्ठकैमकण्ठोद्वेगवद् योगीण-वृत्तेन कर्मणा योगप्रतिपक्ष कर्मणा मुन्मूलनम् । " — वास्तवो पृ० 139 f

2 - " एवं क्रियास्थायीपि तपसादीनि सर्ववृत्तिनिरोधस्य ज्ञानसाध्यस्य योगस्य अन्तर्गतं तन्मते । " — वही पृ० 142 f

3 - " चित्तं च समाप्तोत्थितं निरव्ययस्य सत् -असम्भ्रान्तयोगमुत्थितं, जीवनधुर्कृतं गतः स योगी परमेस्वरस्वरसे लभ्य सन् दशबेधीत तथैव परमं कैवल्यं विन्दते । " —

### श्राव्यमाध्य

श्रेणियों के मूल में रहने पर ही कर्माभाव विपाकारम्भी होती हैं । श्रेणियों को उपस्थिति के बिना कर्माभाव उत्पन्न नहीं करते । कहने का तात्पर्य यह है कि कर्माभावों के विपाकारम्भ के समय श्रेणियों की उपस्थिति अनिवार्य है । विपाक ३ प्रकार के हैं ।

(1) जन्म (2) मरु और (3) शौर । 'जन्म' के संबन्ध में कई विकल्प हैं । यथा (1) क्या एक कर्माभाव एक जन्म का कारण है । (2) अथवा एक कर्म अनेक जन्म देता है (3) क्या अनेक कर्माभाव अनेक जन्म देने हैं (4) अनेक कर्माभाव एक जन्म देते हैं ।

उक्त विकल्पों में से कोई भी विकल्प माध्य नहीं है क्योंकि प्रथम विकल्प पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनन्तकाल से बड़े हुए कर्मों और इस जन्म में किए गए कर्मों के फल-फल का नियमन न हो सके से लोगों में अनसुखा फैल जायगा । एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनेक कर्मों में एक-एक कर्म हो जब अनेक जन्म प्रदान करने लग जायेंगे तब तो न जन्मे कितने कर्मों की चारों ही नहीं जा पायेगी । अतः यह मत भी अवस्थाबोध से प्रकृत होने के कारण माध्य नहीं है । अनेक कर्म अनेक जन्मों का कारण हो यह भी असम्भव तथा अनुचित सा है क्योंकि अनेक कर्मों से अनेकों जन्म एक साथ सम्भव नहीं होते । उक्त मतों के सर्वोप सिद्ध हो जाने पर अब 'जन्म' के संबन्ध में माध्य सिद्धान्त का विवेचन उचित है । जन्म से मृत्यु तक जितने भी कर्म-संस्कार एक ही होते हैं वे सभी कर्माभाव संस्कार व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् एकजन्मवत् ही फल देते हैं । अतः कर्माभाव को एकवचिक कहा गया है ।

। • " सत्सु पक्षेषु कर्म श्राव्यो विपाकारम्भी कथितः नोपिच्छन्मरतेः मूलः । "

कर्मसंस्कारों का ही नाम कर्माक्षय है । कर्माक्षय ब्रह्मजन्मलेवनीय और ब्रह्मजन्मलेवनीय होते हैं । ब्रह्मजन्मलेवनीय कर्माक्षय जन्म नहीं देते । ये कर्माक्षय शत्रु और शैव को बड़ा सकते हैं । केवल 'शैव' नामक विपाक को देने के कारण उन्हें 'स्वीयपाकारमी' कहते हैं तथा शत्रु और शैव को प्रदान करने के कारण उन्हें 'स्वीयपाकारमी' भी कहा गया है ।

ब्रह्मजन्मलेवनीय-कर्माक्षय तीन विपाकों वाला होता है । इसके दो दो हैं (1) नियत-विपाक (2) अनियत-विपाक । नियत-विपाक कर्माक्षय एक शैविक होता है अर्थात् एक जन्मस्वी फल देने वाला होता है । अनियत-विपाक कर्माक्षय एक शैविक नहीं होता इसकी तीन गतियाँ होती हैं । (1) विनाशपत विरु ही कर्म का विनाश (2) कर्मों का किसी प्रधान कर्म में अन्वर्तित हो जाना । (3) नियत विपाक प्रधान कर्म के द्वारा बने हुए कर्माक्षय का विरु फल तक पहुँच रहना ।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मजन्मलेवनीय-नियतविपाक कर्माक्षय ही एक शैविक होता है<sup>2</sup> । और जन्म के संबन्ध में यही निश्चय मान्य ठहराया गया है ।

कर्माक्षय और वासना में वैध है । कर्म करने से बुद्धि में बने संस्कारों को कर्माक्षय कहते हैं । कर्माक्षय के जन्म, शत्रु और शैव नामक तीन विपाकों के अनुभव द्वारा जो संस्कार बनते हैं उन्हें वासना-संस्कार कहते हैं । वासनाओं और कर्माक्षयों में अन्ध वैध यह भी है कि वासनाएँ विपाक नहीं उत्पन्न करती केवल उन विपाकों को बर्द्धित कर सकती हैं । जिन्ना प्रकार के कर्माक्षय को प्राप्त होने को होते हैं तदनुकूल वासनाएँ कर्माक्षय शैव के समान उपस्थित ही जाती हैं । चित्त में असंख्य वासनाएँ बड़ी रहती हैं

1 - " यो ब्रह्मजन्मलेवनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः कृतस्वविपाकस्य नामः प्रधान-कर्माक्षयविपाकं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणा विभूतस्य वा चिरमलस्थानाभिगीतः ।

--- अथतथाप्य पृ० 162 F

2 - तत्राब्रह्मजन्मलेवनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमी । "

--- यत्रो पृ० 162 F

परन्तु अभिव्यक्त हममें से लड़ी होती है<sup>1</sup>। जो क्लेशों के निकट ही अर्थात् जिनका एक योग शोध इंसि वाला हो। स्थिति जोर संस्कार में समन्वयना है। जैसा अनुभव होता है उसके अनुभव ही संस्कार बनते हैं। संस्कार, कर्म और वासना के अनुभव होते हैं।

### तत्त्ववेत्तारदी

तत्त्ववेत्तारदीशर ने प्रस्तुत धिया के विवेचन में बाध्यकार के साथ स्वरूप प्रकट की है। इन्हे ही एकजन्म स्त्री पल देने वाले एकत्रिक कर्माय को स्वीकार किया है। 'एकत्रिक' तथा 'एकत्रिक' शब्दों की रचना को समझने पर साफ प्रयास किया है। एकत्र + ठन् से एकत्रिक कर्माय बनता है जिसका अर्थ एक जन्मवही पल देने वाला होता है। एकत्र + ठन् = एकत्रिक बनता है जिसका अर्थ है एकत्र है जिसमें<sup>2</sup> अर्थात् एकत्रिक के अनुसार एक जन्म का कारण माना जाता है। वाचस्पति-मिश्र ने कर्मोत्पत्तय के संदर्भ में 'एकत्रिक' को ही माना है। 'एकत्रिक' पद के लिए साष्ट लिखा है कि यह प्राकृतिक वाठ है। इस प्रकार कर्मोत्पत्तय के संकल्प में उनका बाध्यकार से कोई विरोध नहीं है प्रकट होता है

1 - " यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपश्चस्तशानुगुहा या वासनाः कर्मोत्पत्तयामुत्पत्ते तत्सामेवाभिधीयते । "

— व्यसनाय पृ० 406 f

2 - " यद्यानुभवस्तथा संस्काराः । ते च कर्मवासनासुखाः, यथा च पासनास्तथा स्मृतिरिति ज्ञानि देवकालव्यवहितेषुः संस्कारेषु स्मृतिः स्मृतेषु पुनः संस्काराः इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्मवासनासुखवासनासुखज्ज्ञे । "

— वही पृ० 407 f

3 - " एकत्रोऽस्य त्नाति मत्वर्पायसन् । अक्षिस्थाठ एकत्रिक<sup>प.37</sup> स्मृति । तत्रैक त्रवस्यवा-  
व्यवर्षे ठक्कायः । एकजन्मावस्तिमस्य वचनमित्यर्थः । "

— तत्रैकपृ० 164 f

राजमार्तण्डश्रुति

सैवात्मिक वासनार्थ ही दृष्ट और अदृष्ट जन्मभेदनीय कर्म फल बली हैं । इसी जन्म में प्राप्त कर्मफल दृष्टजन्मभेदनीय होती हैं और जन्मस्तर में प्राप्त होने वाले फल अदृष्टजन्मभेदनीय होते हैं । कर्मफल प्राप्त होने के समय किसी का धित्त में वर्तमान रहना आवश्यक है क्योंकि किसी के रहने पर पुण्य-पाप रूप कर्मों के जति, आयु और योग रूप कर्मफल प्राप्त होते हैं ।

विषय

अविद्यारहितसैवा ही जन्म के कारण है<sup>3</sup> अर्थात् इन किसी के रहने पर ही कर्मात्मक जन्म रूप फल को उत्पन्न करते हैं । यह कर्मात्मक दृष्ट-कर्मफल-अनुभूतितत्त्व और अदृष्टकर्मफल-अनुभूतितत्त्व होता है । ये कर्मात्मक सैवों के होने पर ही अर्थात् सैवा सहित कर्मात्मक ही विषयकारण ही होते हैं । यह विषयक जन्मायुर्भोग के रूप में तोन प्रकार के होते हैं । दृष्टजन्मभेदनीय कर्मात्मक अनियतविषयक होते हैं । ये कर्मा-कर्म केवल योग रूप विषयक होते हैं तो कर्म-कर्म ही योग और अष्टरूप विषयविषयक युक्त होते हैं । इनके विषयक के बारे में निम्नलिखित कुछ भी नहीं कहा जा सकता । किसी तोनना कर्म में होती है सैवा ही फल उसी जन्म में प्राप्त हो जाता है ।

अदृष्टजन्मभेदनीय कर्मात्मक नियत और अनियतविषयक बली होते हैं । इसमें अनियतविषयक अदृष्टजन्मभेदनीय कर्मात्मक ही विषयकारण बली होता है । अदृष्टजन्मभेदनीय नियतविषयक कर्मात्मक ही एकजन्म को करते हैं तब : अदृष्टजन्मभेदनीय नियतविषयककर्मात्मक को एककर्मक कहा गया है ।

1 - " यतः कर्मात् साक्षात्कारात् सैवा एव निर्गम्यते । दृष्टादृष्टजन्मभेदनीय इत्यनेन फलफलम् । अविद्यारहित जन्म नि अनुभवेनीये । दृष्टजन्मभेदनीये । जन्मस्तरानुभवेनीये । दृष्टजन्मभेदनीये । - ११० पाठ पृ १५१ प

2 - " अनागतसंशयः सैवा । तेष्वनविभूतेषु तस्य कर्मात् फलतत्त्वज्ञान एवासा विषयकः फल जात्यायुर्भोग इति । - यही पृ १६४ प

3 - " सैवा अविद्यावयो मुनि जन्मकारणा यस्य कर्माद्यस्य अज्ञेयान्ताः कर्मात्मक चित्तः " - विषय पृ १४३ प

4 - " यो दृष्टादृष्टकर्मनिर्गमितक्यफलः कर्मात्मकः स सैवात्मिक इति यथावत् । " - यही पृ १४३ प

5 - " ननु सादृष्टजन्मभेदनीयस्य प्रायशेऽविषयकस्य रूपमेव जन्म करोतीत्येकजन्मस्यैव-त्वमुच्यते । - तस्य विषयविषयक एककर्मिकः कर्मात्मकः सुज्ञान एव । " - यही पृ १४४ प

योगशास्त्र

कर्मों के मूल में होने पर ही कर्मात्मक फलोद्भूत होते हैं । केवल वायना रूप में । इनका विपाक जन्म, मातृ और प्रीति का होता है । ये विपाक शुद्धजन्मोपनीत और अशुद्धजन्मोपनीत प्रकारक होते हैं । वर्तमानकालीनक प्रीति को दुष्प्रत्यय केरनीय कहा गया है और श्रेष्ठ कालिक प्रीति को शुद्ध जन्मोपनीय कहा गया है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कर्मों के मूल में रहने पर ही कर्मात्मक विपाकारम्भी होते हैं । अतिसिद्ध द्वारा कर्मों के उचितता हो जाने पर कर्मात्मकों का विपाक नहीं होता । परन्तु जिन कर्मात्मकों का प्रीति प्रारम्भ हो चुका रहता है उनका फलप्रीति होता रहता है । कर्मात्मकों का फलप्रीति प्रारम्भ हो चुकने पर फलप्रीति की सम्पत्ति तक कर्मों के रहने में रहने से कोई फल नहीं पड़ता । हाँ फलप्रीति के प्रारम्भ में कर्मों का उपस्थित रहना परमावश्यक है । अतः

केवल और कर्म परस्पर संबन्धित हैं श्रेष्ठि वर्ग-लक्ष्य रूप केवल ही धर्म-सर्वम रूप कर्मों के हेतु शयया शरणा है । अतः प्रत्यक्षतः श्रेष्ठि द्वारा कर्मों का ज्ञेय होने पर कर्मों का ही ज्ञेय होता सिद्ध है । श्रेष्ठिनिष्ठानु ने कर्मों का मात्र नहीं स्वीकार किया है । इनके अनुसार प्रत्यक्षतः द्वारा कर्मों का वह होता ही उचित है तथा स्वीकार्य है । श्रेष्ठिवाह शरणा मात्र में ज्ञेय है । मात्र को स्वीकार करने पर 'कर्म' के मात्र के तादृश-महत् कर्म की श्रेष्ठिजन्म सुनिश्च का ही मात्र हो जायेगा । जब सुनिश्च ही महत् हो जायेगा तब मात्र उचित होगा । अतः कर्मात्मकों को स्वीकार करना व्यावहारिक नहीं है । यहाँ कारण है कि श्रेष्ठिनिष्ठानु ने कर्मवाह को स्वीकार किया है । कर्मवाह स्वीकार करने में कर्म तथा अस्वीकार्य कर्मों का ही फल होता है सुनिश्च का श्रेष्ठि का नहीं ।

1 - " केवलसे कर्मात्मक मूल सत्ये कर्मात्मक विपाकः फलं भवति, केवलस्य सतिनमस्य एव जन्मवि-विपाकारम् । विपाकस्य स्वस्वमह - जन्मःसुधीना इति । "

— योगशास्त्र 1657

2 - " अतः केवलविपाकस्य विपाकारमे हेतुः । अतस्त्वं सारव्यविपाकः सत्यस्य एव न त्वाव्यत इति न तत्र केवापेक्षित । "

— यही पृष्ठ 1677

3 - " अतस्तु केवा ज्ञेयहेतुत्ववत् कर्मात्मकहेतुत्वमपि सिद्धम् । "

— यही पृष्ठ 1667

4 - " कर्मात्मकस्य वाह एव ज्ञेयते न तु मात्र इत्यवधारयति । "

— यही पृष्ठ 1675

यस प्रकार यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है कि जिनके के मूल में रहने पर ही जन्माद्युर्भाग्य विपाक होते हैं। जन्म के संबन्ध में चार विकल्पों का वर्णन योगवार्तिक में भी किया गया है। पूर्व के तीन विकल्पों को निरस्त कर चार्तिककार ने चौथे विकल्प को ही सिद्धान्तित किया है। अतः जन्म के संबन्ध में इनका सिद्धान्त ही अमलवर्णनीय है। जन्म से द्रष्टव्यत्व निश्चित और निश्चय कर्म, संसार की श्रित कर एक जन्म को करते हैं। अनेक जन्म नहीं। इस प्रकार योगवार्तिककार ने ही जन्म के संबन्ध में ही एक ही विकल्प को सिद्धान्त को मान्यता दी है। ऐक्यविकल्प ही नहीं।

योगदीपिका

धर्म, अर्थम स्व ज्ञानों के मूल में होने पर ही धर्म अर्थम स्व कर्मणो एव विपाक काल है। यह विपाक जति, धातु और भोग स्व है। इस संबन्ध में इन्होंने चार्तिककार के साथ सारम्य प्रकट किया है। अतः

पार्श्वयोगसूत्रवृत्ति

ज्ञानों के मूल में रहने पर ही कर्मणो विपाकारम्भो होने हैं। परन्तु विपाक-काल में यदि ज्ञान उच्छिन्न हो जाते हैं तब भी विपाक को जिया होता रहती है। यही कारण है कि जन्ममूल काल में ही प्रारम्भ-भोग होता रहता है।

कर्मणो द्रष्ट और अद्रष्ट कर्मवर्णनीय होते हैं। इनमें से द्रष्टजन्मवर्णनीय, एवविपाकारम्भो होते हैं और अद्रष्टविपाकारम्भो भी होते हैं। अद्रष्टजन्मवर्णनीय कर्मणो जन्म, धातु और भोग स्व मोनों विपाकों का प्रारम्भ करने वाला होता है। जन्म संबन्धी अनेक सम्भावनाओं में से जन्म मरण के पश्चात् पूर्वकृतकर्म समूहों का एक साथ सञ्च होकर जन्म होते हैं। पूर्व कर्मों के द्वारा ही धातु और भोग स्व विपाक भी तैयार किए जाते हैं। कर्मणो के संबन्ध में यही सिद्धान्त इस व्याख्या में मान्य ठहराया गया है।

1. - " अत्र विपाकौ विपाकारम्भः । अतो निःशेषाधि द्वाधारेऽपि जीवनमुत्तानं प्रारम्भ भोग उपपद्यते । " --- पान 0 योग 0 0 0 0 0 41 F

2. - जन्ममरणान्तरे कृतकर्मसमूहो निश्चिन्न फलत् उदकृतत्वानिधिः क्लेश फलो मरणेन फलान्तराभिमुख्यं नीतः युगपदेक-सोपलो कलापस्त एव जन्म करोति, तेनैव धर्मणा तत्र सञ्चयन्त्या भोगवर्णनीयं तत्रिविपाकः स्वमेवः अद्रष्टजन्मवर्णनीय कर्मणोः ।



जीवप्रका

धर्म-वर्षम रूप कर्मसाधों के मूल में काम क्षेत्राधिक होता रहते हैं । मूल में क्षेत्रों के रहने पर ही कर्मसाध विधातकर्म कर्मफल देते हैं । क्षेत्रामूलक कर्मसाध द्रुष्ट-अद्रुष्टजन्मवेदनीय होते हैं । कुल कर्म का ही जन्म में योग प्रत्यक्षवेदनीय कर्मसाध है और कुल कर्म का अन्वयतर में योग अद्रुष्टजन्मवेदनीय-कर्मसाध है । कर्मफल जन्म जाति धार ग्रह्य है, उन्हें विधाक ही कहते हैं । क्षेत्रों के मूल में उक्ति पर ही चित्त में पड़े हुए कर्म सकार उक्त कर्मफल देते हैं । क्षेत्रा जब विवेकव्याप्तितर्कों अर्थन द्वारा व्यवकीनभाव हो जाते हैं तब कर्मसाध फलारम्भक नहीं होती अतः विधाक के विरुध पक्षों का मूल में रहना अनिवार्य है । . .

योगसुवार्थवेदिनी, योगसिद्धान्तसम्प्रिका

इन दोनों व्याख्याओं में क्षेत्रा मूलक कर्मसाधों की ही कर्मफल प्रदायक माना गया है । योगसिद्धान्त सम्प्रिका में इन विधाय का विस्तृत विवेचन किया गया है । चिन्ता क्षेत्रों के कर्मसाध विधाकारणों नहीं होते । जिस प्रकार सत्कार्यभाव के सिद्धान्त के अनुसार बीजव्यव कारण से ही कर्ता की उत्पत्ति होती है और चिन्ता कारण के कार्य नहीं उत्पन्न होता उतों प्रकार कर्मसाधों के मूल में जो क्षेत्र रहते हैं तभी कर्मसाध कर्मफल प्रदान करते हैं । कर्मफल का ही साक्षीय नाम विधाक है । ये विधाक जन्म, ग्रह्य और योग के भेद से तीन प्रकार हैं ।

कर्मसाध द्रुष्ट-जन्मवेदनीय और अद्रुष्ट-जन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार के धनार गत हैं । अद्रुष्ट-जन्मवेदनीय कर्मसाध नियत विधाक और अनियत विधाक धारो होते हैं । नियत अद्रुष्ट-जन्मवेदनीय कर्मसाध ही 'सकर्मिक' धर्मान 'सक जन्म देने वाले' होते हैं । जन्म संबन्धी प्रकृतित सभी इच्छाओं का उत्पन्न करते हुए 'सकर्मिकसाध' का सम्पत्ता इस व्याख्या में भी ही गई है ।

- 1 - " क्षेत्रात्मे 'मूले' 'सत्येव' कर्मो 'विधाका' फलं भवति ।"  
— जीवप्रका पृ० 32 f
- 2 - " इत्यं सत्कार्यवदपदे स्वस्थतस्मेर्भा नित्यमन्वयगत्वेऽपि श्रीजन्मव्यव ।"  
— योगसिद्धान्तसम्प्रिका पृ० 30 f
- 3 - " किन्त्वैकचित्तमेव शरीरे फलस्य वाधः साधुत्वात्क्षेत्रात्केकर्मोव्यवसायार्थः ।"  
— मञ्जी पृ० 61 f
- 4 - " इत्येकमेवकपदे जनिनस्त्वैव नियता द्रुष्टजन्ममौगस्यवसाऽप्युत्कारात् ।"  
— य ही पृ० 59 f

भास्वती

चित्तेन्द्रिय और प्राणाई का व्यापार ही कर्म है । कर्म द्वारा चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें 'कर्माशय' कहा जाता है । ये कर्माशय पुनः अपुनः स्वर्गे जाते होते हैं । कुछ कर्म धार्मिक होते हैं और कुछ कर्म अधार्मिक होते हैं । अतः इनसे जो संस्कार धर्म, अधर्म स्वरूप होते हैं । धर्म, अधर्म स्वरूप कर्माशय ही पुण्य और पापस्वरूप कर्माशय कहे जाते हैं । ये कर्माशय ब्रह्मजन्मवेत्तवन्धि और अदृष्टजन्मवेत्तवन्धि प्रकारके होते हैं । ब्रह्मजन्मवेत्तवन्धि कर्माशय केवल योग रूप का होता है और अदृष्टजन्मवेत्तवन्धि कर्माशय त्रिविधप्राणों वाला होता है । जन्म, आयु और योग ये ही त्रिविधप्राण हैं ।

बेतों के कृत में रहने पर जो कर्माशय विधाकरणीय होते हैं । विधाकरणीय प्रथम विधाकरणीय है । जन्म के दिवस में प्राण में धर्मित प्राणों विकल्पों में पूर्ण के प्राण विकल्पों को निरसन कर चौथे विकल्प को ही न्याय संगत माना गया है । यथा वसुधै कर्म कुर्वन्त स्वतः शरीरं का भूतुकराकर पुनः एक जन्म स्वो फल प्रदान करते हैं । अदृष्टजन्मवेत्तवन्धि नियतविधाकरणीय ही एक भौतिक होते हैं । बेतों के कृत में रहने पर ही अदृष्टजन्मवेत्तवन्धि नियतविधाकरणीय कर्माशय फलानुभूत संस्कार एकजन्मवन्धि फल प्रदान करते हैं । कर्माशयों के अनुसार ही स्वतः शरीर आयु और योग नियतित होते हैं । इस प्रकार अदृष्टजन्मवेत्तवन्धि नियत विधाकरणीय ही एक भौतिक विधाकरणीय । अनेक शास्त्रों अनेक भवपूर्विका होती हैं अर्थात् वासनान् अनेक जन्मों से उचित होने जाते हैं जिससे कारण उन्हें अनेक भवपूर्विका कहा गया है ।

- 1 - " कर्म = चित्तेन्द्रियप्राणानां व्यापारः । " — भास्वती पृ० 161 F
- 2 - " जन्मिहायुर्भाग इति त्रिविधो विधाकरणीयः = फल कर्माशयका, जन्मिहायुः आयुर्वैदिक चित्तिकल्पः, योगः सुखं दुःखं योगश्च । " — वही पृ० 163 F
- 3 - " वसुधै कर्म कुर्वन्त स्वतः शरीरं अन्वयः = अन्वयः अन्वयः अन्वयः अन्वयः । " — वही पृ० 167 F
- 4 - " ये ब्रह्मजन्मवेत्तवन्धि नियतविधाकरणीयः कर्माशयानामेवामिह पूर्णं जन्मम् = जन्मप्राणों सर्वेषां तादृशवैकाराणां अन्वयः अन्वयः अन्वयः अन्वयः । " — वही पृ० 173 F

स्वामिनारायणवाच्य

जीवद्वैतिकमूलक कर्मविधि से ही जति, जाति, भोग, स्वयं फल या विवाह उत्पन्न होते हैं । गृह कर्मविधि ब्रह्मजन्मलेवनीय और ब्रह्मजन्मलेवनीय प्रसारक होते हैं । तोत्र पुण्य और पाप से इनो जन्म में अनुत्पन्न फल ब्रह्मजन्मलेवनीय होते हैं और शुभ, अशुभ कर्मों का फल जो दूसरे जन्म में प्राप्त होता है उसे ब्रह्मजन्मलेवनीय कहा गया है ।

चित्त में अनधिकार से अधिक धर्म-साधर्म स्वयं कर्मों के लक्षण जीवद्वैतिय ज्ञानों या पुनर् जति पर जति, जाति, भोग स्वयं कर्मों का कारण करते हैं ।



। - शक्ति व - जीवद्वैतिकमूलकः कर्मविधि जात्यादुर्बेगजनक इति ।”

गुणद्वैतविरोध अथवा गुणद्वैतविरोध  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

व्यासभाष्य

भाष्यकार व्यास ने ' गुणद्वैतविरोधात् ' अर्थात् 'अभेदोपान्त्' पाठ को स्वीकृत किया है । इस संक्षेप में उन्होने आध्यात्मिक तर्क दिया है —  
यहाँ विषयगुण त्रिगुणात्मक है । गुणानुभवकाल में यद्यपि सत्त्वगुण का प्रभाव ही मुख्य होता है परन्तु इस समय ऐसा नहीं होता है कि जन्म को गुण विमुक्त ही नहीं रहे । ये दोनों गुण ही साथ-साथ रहते हैं तर्जान् तीनों गुण सर्वदा सभी स्थिति में साथ-साथ रहते हैं । जब सत्त्वगुण का प्राकृत्य होता है तब अन्य दो गुण गौण भूत होकर रहते हैं । इसी तरह वारो वारो से जैसा विषय होता है तदनुकूला गुण प्रकृत होते रहते हैं और शेष दो गुण गौण भूत रहते हैं । इस आधार पर यह सर्वथा मध्य विस्तारण है कि गुण परस्पर विरोधी-भाष्य होकर क्रियाशील नहीं होते प्रत्युत क्रियारोपीवत्त्व होकर ही क्रियाशील होते हैं ।

अनुभव की स्थिति का ही यदि अवलोकन किया जाये तो ही हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गुणों में परस्पर अभिरोपबन्ध होता है । जब हमें गुण का अनुभव होता है तब उसी समय मोक्षार्थक और दुःखार्थक दृष्टियाँ भी उत्पन्न हो जाते हैं । विवेकी पुरुष दुःखार्थक विषयभोग के क्षण ही अपने विवेकबल के कारण उन विषय गुणों में ही कुछ जन्म तथा मोक्ष जन्म परिणाम दुःखता को देखकर ही विषय गुणों से विरक्त होना चाहता है । इस आधार पर ही गुणों का परस्पर 'अविरोध' ही परिलक्षित होता है ।

.....  
। - " एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपरिगतं गुणं दुःखं मोक्षं प्रत्ययाः सर्वं सर्वस्या  
व्यभिक्तं, गुण प्रथमं मत्त्वकृतस्वैर्भा विरोध इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति । "

तत्त्वज्ञान की

तत्त्वज्ञान की नीति विषयगुणों को त्रिगुणात्मक माना है । इनका कहना है कि सभी सुख भोगों का परिणाम अन्त में दुःख तथा मोहात्मक ही होता है । विषयगुणों की त्रिगुणात्मकता यह सिद्ध करने के लिए लोगों गुण परस्पर अनुप्रतलनी होकर ही कार्य करते हैं । लोगों गुण सङ्कारी बन्ध से कार्य करते हैं<sup>1</sup> । अतः गुणों में 'अविरोध' का विद्यमान ही स्वीकृत किया जाना चाहिए । तत्त्वज्ञान की नीति विषयगुणों की विरोधात् पाठ को प्रासंगिक पाठ माना है ।

राजसमर्तकबुद्धि

इस व्याख्या में उक्त व्याख्याओं के विपरीत पाठ को स्वीकार किया गया है । भौतिकज्ञान के अनुसार सत्त्विक लोगों गुणों से उत्पन्न बुद्धियाँ परस्पर विरुद्ध होती हैं । सुखानुभवकाल में दुःख की अनुभूति विरोधी, अनुभूति ही है । श्रेष्ठिक लोगों अन्तः के अनुभवों का स्वस्थ विषय विषय है । इन विरुद्ध अनुभवों का उदय भी गुणों के द्वारा ही होता है अतः गुणों में विरोध बुद्धि को स्वीकार किया जाना चाहिए । अपने इतने तर्क के आधार पर भौतिकज्ञान ने 'गुणबुद्धि विरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है<sup>2</sup> ।

विचारकर्ता, योगवर्तिकर्ता, योगवीर्यकर्ता, परार्थकार्योत्पन्नबुद्धिकर्ता और योगविद्यमानव्यक्तिकर्ता ने साध्यकार द्वारा प्रतिपादित विद्यमान को ही मानना ही है । साध्यकार की नीति इन व्याख्याकारों ने ही गुणबुद्धि अविरोधात् पाठ को ही स्वीकार किया है । श्रीधरभक्त ने इन लोगों के विपरीत राजसमर्तकबुद्धिकर्ता के 'विरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है । साध्यकार ने भी गुणबुद्धियों में विरोध होने पर ही सुख सुखानुभव को स्वीकार किया है और इतने आधार पर इन्होंने 'गुणबुद्धिविरोधात्पाठ को स्वीकार किया है<sup>3</sup> ।

- 1 - " सामान्यानि स्वसमुदाहरणान्यनिःशेषः तदुदाहरणैः सङ्गीतविरोधात्प्रसङ्गमिति । " — राममोक्षोपनिषद् 176 F
- 2 - " गुणबुद्धिविरोधात् । गुणानां विरुद्धात् । अतः बुद्ध्याः सुखं सुखानुभवोत्पत्त्याः परस्परविरोधात् । अतः बुद्ध्याः सुखं सुखानुभवोत्पत्त्याः परस्परविरोधात् । " — राममोक्षोपनिषद् 176 F
- 3 - " गुणानां या बुद्धयः सुखं दुःखमोहास्तेषां विरोधात् । अतः बुद्ध्याः सुखं सुखानुभवोत्पत्त्याः परस्परविरोधात् । " — राममोक्षोपनिषद् 176 F

शक्तिभारतवाचक

इन व्यक्तियों में 'गुणवृत्तिविरोधान्' पाठ स्वीकृत किया गया है। परिणाम दुःख ताप दुःख और संसार दुःख तमों को परस्पर विन्म है अतः इन विन्म पाठों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे भी एक दूसरे से विन्म होने चाहिए। इन आधार पर गुणों के विरोध ही स्वीकार करना चाहिए।

द्वय पदार्थों का स्वल्प  
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

सुप्रकार ने दुःख और दुःख पदार्थों के संयोग को ही संसार का हेतु माना है। उन दो तत्वों में से 'द्वय' पदार्थ के संयोग में तत्त्वव्याख्याकार एक मत है। पहले अध्याय में भी प्रसंगतः 'द्वयपदार्थ' के स्वल्प का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अतएव यहाँ 'द्वय' के स्वल्प विवेचन के संदर्भ में विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का अनुशीलन प्रारम्भ किया जा रहा है।

द्वयवाचक

द्वय अर्थात् पुरुष त्रिगुणात्मक है<sup>2</sup>। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण युक्त होने के कारण यह प्रकृतशील, क्रियाशील और स्थितिशील है। त्रिगुणात्मक होने के कारण

१. "परिणामस्य तापस्य संस्कारस्य तेषां दुःखानि, तत्संस्कारिणोऽज्ञानोत्पत्त्या, तैः ।  
 अथ च गुणानां वा पुस्तकव्यतिथिर्विरोधाच्चसर्वत्र दुःखयोगोपसम्भूय एव भवतीति, ।"

— स्वतंत्राचार्य 203 F

2 - "द्वयात् पुरुषसत्त्वोपाख्याः सर्वेषाम् । तदेतद् द्वयमवकल्पतयौचित्यम्  
 तन्निधयान्नोपकारिणोऽप्येवैव सर्वं भवति पुरुषस्य द्वयोश्च स्वतन्त्रः ।"

— द्वयवाचक पृ 185 F

ही बुद्धि को जग भी कहा गया है । परन्तु जग पुरुष का प्रतीकत्व बुद्धि में पड़ता है तब यह चेतनवत् ही जाती है । जैसे उसका अपना स्वरूप अचेतन ही है । चेतनवत् ही यह प्रतीकत्व के द्वारा होती है ।

त्रिगुण ही प्रधान है । त्रिगुणों से अलग प्रधान को कोई जगह नहीं है । चूंकि त्रिगुण को ज्ञय माना गया है अतः प्रधान भी ज्ञय हुआ तथा इन्द्रिय तथा सभी विषय ज्ञय ही हुए । बुद्धि परार्थ है। यह पुरुष के लिए ज्ञान और मोक्ष का तत्प्राप्तन करती है । ज्ञय का स्वरूप पुरुष के लिए ही होता है । ज्ञय का स्वरूप कहीं भी नहीं होता क्योंकि यदि एक पुरुष योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर भी जाता है तो अन्य पुरुषों का क्या ? बुद्धि से बना रहना है अतः शब्दकार-जगह यह कहना उचित ही है -

“ कृतार्थिकं पुरुषं प्रति ज्ञयं नष्टार्थि नाहं प्राप्तमध्यमत्वं तदव्यपुत्र्यताधारणत्वात् । ”

### तत्त्ववेत्तार की

बुद्धि जगह है । यह चित्ति अज्ञातपत्ति पढ़ने पर चेतनवत् होकर तद्-तद् विषयों का प्रतिनिधित्व करती है । शब्दादि विषय बुद्धि के धर्म हैं । बुद्धि इनके आकार से आकृष्टित होने के उपरान्त ही चित्तव्यवस्थापित पढ़ने पर पुरुष के लिए ज्ञान प्राप्त करती है । चित्तव्यवस्थापित होने पर बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है और तभी पुरुष उस ज्ञय के विषय का ज्ञानोपानकर भौतिकता बनता है ।

1 - इन्द्रिय - व्यक्तमात्रं पृ० 250 f

2 - " इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ शब्दाद्यात्मिका परिणतया ज्ञयार्थं शब्दाद्योऽपि धर्मा ज्ञयः इत्यर्थः । - - - - - किन्तु स्व-चेतन्यावन्तज्जगत्तत्त्वं तेन प्रतिस्थाप्यते तदभावेन बुद्धि विषयः । मनु उच्यते किं चिद्विद्यते तत्त्वव्यतीतम् । तथा च न तस्य कर्मव्यत आह - स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्पुरुषार्थत्वात्परतन्त्रं पुरुषतन्त्रम् । ”

जिनों गुण ही द्वय है। तानो गुण प्रधान में पाये जाते हैं। 'प्रधान' तबक को व्युत्पत्ति ए उत प्रकार से ही गर्व है — " प्रधीयत भाषोयते विवर्ष कथयतिभिरीरिणि व्युत्पत्त्येनद् द्वय-  
मुष्यते ।" अर्थात् विश्व के समस्त भाग वन्ही गुणों द्वारा प्रधान में रहते जाते हैं अतः प्रधान ही द्वय हुआ। गुण ही पुरुष के तिर श्रेय तत्रा अपवर्ग सम्पादित करने हैं।

### राजमार्तण्डश्रुति

'द्वय' 'बुद्धितत्त्व' है <sup>2</sup>। बुद्धि के तीन गुण हैं। प्रकृत, प्रवृत्ति और स्थिति। ये तीनों गुण बुद्धि में स्वाभाविक रूप से रहते हैं अतः द्वय का अर्थ बुद्धि के अर्थ के समान ही प्रकृतप्रवृत्ति, प्रवृत्तिप्रवृत्ति और स्थितिप्रवृत्ति के त्रयी बुद्धितत्त्व और द्वय दोनों वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। 'द्वय' पुरुष के तिर श्रेय सम्पादन करने हैं। 'द्वय' श्रेय है अतीतर इसे 'स्वार्थ' भी कहा गया है।

### विवरण

विवरणकार ने द्वय शब्द बुद्धि को अन्तःकरण अन्तः है। बुद्धि के सभी धर्म द्वय हैं <sup>7</sup>। द्वय में अयत्नप्रवृत्ति के तद्वत् भावार्थ स्थित है। अती शक्ति के कारण

- 
- 1 - इच्छा - ततोपु 192 / 193 F
  - 2 - " द्वय बुद्धितत्त्वम् ।" ततोपु 184 F
  - 3 - " तः प्रकृतप्रवृत्तिप्रवृत्तयः शीतं स्वाभाविकं रूपं यत्र तत्त्वा विधीयते स्वस्वमद्य निर्विष्टम् ।" — वही पृ 188 F
  - 4 - " स न हि प्रधानं प्रवृत्तप्रवृत्तः किञ्चित्प्रयोजनमप्यत्र प्रवृत्ते किन्तु पुरुषस्य मोक्षस्य साधनमिति ।" — वही पृ 199 F
  - 5 - " स्वार्थद्वयस्य अर्थः ।" — वही पृ 205 F
  - 6 - " द्वय बुद्धिः अन्तःकरणं प्रवृत्तप्रवृत्तम् ।" — विवरण पृ 172 F
  - 7 - " बुद्धिपारस्य अर्थः स्वार्थः ।" — वही पृ 172 F



पुरुष इनका स्वामी बनता है और बुद्ध उसकी स्व बनती है । बुद्ध जब शब्दादि भाषण से अभ्यसित होती है तब यह पुरुष के लिए भेद्य बनती है ।

इस त्रिगुणात्मक होने के कारण प्रकृत, जिया और स्थिति स्वस्था है । विचरणाकार ने प्रकृतार्थिक के साथ 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया है । इनका मत है कि 'शील' शब्द व्यापार शब्द के साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं किया जातिके । अतः स्वस्थ द्योतनार्थ शील का प्रयोग नहीं करना चाहिए और इतिहास कम्पेन्सि इनकी व्याख्या में 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।

### योगवार्तिक

योगवार्तिक में ही गुणों की ही इत्य मना गया है । गुणों के विचार की लेकर ही उल्लेख गर्व है कि यह गुणों के विचार ही इत्य कहे अर्थेग । वार्तिककार ने इस हीन का समाधान बहुत ही सुस्पष्ट ढंग से किया है । वे लिखते हैं — जिम प्रकार ईश के 'परम' वाले शान का भी ईश ही कहा जाता है इसी प्रकार गुणों के विचार की उपरो प्रकृत कुछ भी नहीं । प्रत्युत गुण के ही विचार हैं । अतः इन्हें भी इत्य कहा जाना चाहिए । गुण प्रकृति में रहते हैं अतः गुणों की प्रकृति शब्द से भी संबंधित किया जाता है । प्रधान की व्युत्पत्ति को इन्होंने भी समाधान है — 'प्रचीयतेऽस्मिन्मार्जानामिवादिद्व्युत्पत्त्या प्रथमप्रकृत्या - विशाद्येऽस्मिन् इत्यन्वयः ।' अर्थात् प्रकृति में ही सभी कार्य रहते जाते हैं अतः इसे प्रधान का कहा गया है । गुण पुरुष के इत्य हैं ।

1 - " ययस्तान्मनीषरिभ स्व द्वीपारभुध चित्तस्वस्मगन्ध स्वामिनः ।" - विवरण पृ० 173 f

2 - " न हि व्यापारशब्दे कश्चिदपि शीलशब्दः प्रयुज्यते ।" - वही पृ० 176 f

3 - " तस्मान्न स्वस्थानिप्रयोगे शीलशब्दप्रयोगः ।" - वही पृ० 176 f

4 - " गुणा एव प्रकृतिरुत्पत्त्याः न तु तद्विचरणात् प्रकृतिरस्तीत्यपारयति एते गुणा इति । तत्त्वविद्या गुणा इति प्रकृति शब्द वार्तिकप्रमाणितः ।" - योगवार्तिक पृ० 194 f

5 - " इत्यर्थ - योगवार्तिक पृ० 194 f

## योगवीथिका

बुद्धि अथवा इन्द्रिय सुख, दुःख और मोहात्मक रूप धारणों के । अतः जिनसे भी पदार्थ सुख, दुःख और मोहात्मक हैं वे सभी इन्द्रिय हैं<sup>1</sup> । बुद्धिप्रत्यक्षविद्युत्प्रत्यक्ष से सुख के संश्लेषण उसे 'इन्द्रिय' भी कहा गया है<sup>2</sup> । इस संसार में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ इन्द्रिय रूप ही हैं<sup>3</sup> । स्थूल पदार्थों से बुद्धि को स्थितित्वात्मान, यथोचित्वात् उसकी क्रियाशीलता के और सूक्ष्मत्व जैसे अन्तःकरण अर्थात् उसकी प्रकाशशीलता के द्योतक हैं<sup>4</sup> । यह पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करती है ।

## पार्लेजयोगसूत्रवृत्ति

इन्द्रिय का स्वभाव प्रकृता, क्रिया और स्थितित्वात् है । इसके इस स्वभाव को प्रमाणात्मकता इन तत्त्वों के द्वारा सिद्ध होती है । स्थूलसूक्ष्म पदार्थों के द्वारा उसकी स्थितित्वात्मा निदर्शित होती है । स्थूल यथोचित्वात् द्वारा इसकी क्रियाशीलता निदर्शित होती है और अन्तःकरणरूप सूक्ष्मेन्द्रिय से इसकी प्रकाशशीलता निदर्शित होती है<sup>5</sup> । इन्द्रिय पुरुष के लिए भोग मोक्ष सम्पादित करती है ।

## श्रीपदशा

' इन्द्रिय ' को बुद्धिप्रत्यक्षत्व है । अर्थात् बुद्धिप्रत्यक्षत्व और इन्द्रिय दोनों एक ही वस्तु हैं । बुद्धिप्रत्यक्षत्व में विविधता शब्दादि के अकार से अकारित होने की योग्यता है<sup>6</sup> । इन्द्रिय उपलब्धि ही पुरुष के लिए भोग और मोक्षसम्पादित करती है । एतद् न ह्येतत् अतः उभयं इन्द्रियत्व की योग्यता है तथा तो वह पुरुष का 'इन्द्रिय' बनती है और पुरुष उसका स्वामी बनता है ।

1 - " सुखदुःखमोहात्मकमित्येतन्न इन्द्रियकारत्वेन विधीयते इन्द्रियत्वस्या बुद्ध्यात् । " - योगवीथिका पृ० 44 F

2 - " तत्त्वादि गुणवर्गं च इन्द्रियं पुरुषं मोक्षत्वेन इन्द्रियत्वान्वाप्याम् । " - यत्ने पृ० 43 F

3 - " इन्द्रिय - योगवीथिका पृ० 45 F

4 - " तत्र स्थूलसूक्ष्मभूतकारणत्वेन स्थितिशीलत्वं, स्थूलयथोचित्वात् तत्त्वशक्तिव्यवशीलत्वं, अन्तःकरणरूपसूक्ष्मेन्द्रियत्वेन तुल्यकारणशीलत्वं । " - पार्लेजयोगसूत्रवृत्ति पृ० 49

5 - " बुद्धिप्रत्यक्षत्वं हि विविधताव्याप्यह्यत्र विधीयते इन्द्रियत्वात् परिरणत्वं । "

- श्रीपदशा पृ० 34 F

6 - " योगवेदान्तप्रत्यक्ष ' इन्द्रिय ' प्रित्यक्षः । " - यत्ने पृ० 35 F

### योगसूत्रार्थवैखानो

द्वय ही कुट्टितत्व है<sup>1</sup>। द्वय ही काश्य त्रिगुणात्मक है। अतः यह प्रकृतशील, त्रियशील और स्थितशील है। 'स्थिति' की व्याख्या इस व्याख्या में इस प्रकार की गई है — 'प्रकृता' और 'त्रिया' को रोकने वाला स्वभाव हो 'स्थिति' है। 'द्वय' को 'प्रधान' शब्द से ही लक्षित किया जात है। पुरुष के लिए 'योग' और 'अपवर्ग' द्वय ही प्रस्तुत करता है।

### योगसिद्धांशतन्त्रिका

इस व्याख्या में 'द्वय' को 'प्रधान' माना गया है<sup>3</sup>। प्रकृत प्रकृति और स्थिति इत्यादि अर्थना रूप है। द्वय 'स' है तथा 'उद'रूप है। इसीलिए इसमें 'योग'की योग्यता है।

### वास्तवी

'द्वय' त्रिगुणों से युक्त होने के कारण प्रधान शब्द से ही अभिहित की जाती है। द्वय में अनुसर्तनशीलता का गुण विशुद्धान्त है। अपने निकटस्थ पदार्थों के कारण से अकर्तृत्व हो जाता द्वय की स्वस्वगत विशेषता है। यह पुरुष के लिए 'योग' और 'अपवर्ग' लक्षित करता है।

- 
- 1 - "द्वयं कुट्टितत्वम् ।" - योगसूत्रो पृ० २३ १
  - 2 - "स्थितिः प्रकृता त्रिययोगः प्रतिबन्धकशरीरं तमः ।"  
- शंभो पृ० २३ १
  - 3 - "द्वयत्र प्रधानम् ।" - योगसूत्रो पृ० ६३ १
  - 4 - "अनुसर्तनशीलार्थः एकयोगीन्द्रिया गुणः प्रधानाज्जवाकाश भवन्तीति ।"  
- वास्तवी पृ० १११

शुद्धिमात्रावधारण

द्वय ही बुद्धितत्त्व है । त्रिगुणात्मक तन्मि के कारण यह द्वन्द्व के तिर उपयोग का साधन है । प्रकृति के तभी कार्य तथा महद, महकार इन्द्रिय, तन्मात्राएँ सभी कुछ 'द्वय' हैं । परन्तु वास्तव उपयोग का साधन जो बनने है वह 'द्वय' बुद्धितत्त्व नाम से जानी जाती है । बुद्धितत्त्व प्रधान का कार्य है । पुरन्मायमर्हण के कारण प्रकृति में तन्मि ही जाना बुद्धि का स्वरूप है अतः बुद्धि अनित्य है । बुद्धि अनेकधित है, जितने ही पुरन् हैं तभी का विषय बुद्धिही है। अतः यह अनेकधित है तथा अनेक भी है । यह त्रिगुणात्मक है अतः यह सत्यव्यव भी हुई और पुरन् के तिर योग मोल प्रस्तुत करती है अतः परतन्त्र हुई । पुरन् स्वेच्छ से ही अधिष्ठावसात् द्वय का योग करता है और स्वेच्छ से ही उपयोग प्राप्त कर द्वय से अलग हो जाना है परन्तु द्वय भवने त्रय पुरन् से संयुक्त या विमुक्त नहीं होती वसोत्तर इसे 'हरतन्त्र' कहा गया है शैक्ति अपने कार्य के तिर यह प्रकृति को तहायता की उपेक्षा करती है । द्वय को अधिष्ठी अनेकान और उपेक्षावर्धनी कहा गया है । इस प्रकार त्रिगुणात्मक बुद्धि ही द्वय है जो उक्त विशेषताओं से युक्त है ।

-----

1 - " तदेवं प्रकृति कार्यात्मकद्वयस्य स चेतनावुपयोगसाधनत्वोपपत्त्या ।  
 तत्र संपूर्ण बुद्धितत्त्वस्य मूर्तं द्वयं प्राकृतम् । "

— स्वामिनो वापु 207 f

2 - " भवति च द्वयं -- \*हेतु-मवन्तिसम्यापिसक्रियमनेकमार्गगतं तिमं तावयवं परतन्त्रधितं, तत्र मूढ-प्रकृतिः कारणं बुद्ध्यविरतः प्रकृतिकारणकत्वं - हेतुमत्त्वम्, प्रतिवर्गाव्यवस्थानं बुद्धिप्रवर्धनानं यावता त्रिकारणं प्रकृतं तयो भवति, अतीक्षरोभावस्त्वभावमव्यम् - अनित्यत्वमिति, - - - - अनेकम् - बुद्ध्यावर्धनी हि परिष्क स्यवित्तिकाः सन्ति । "

— वही पृ 211 f

संयोग का मुख्य तथा द्वैत

कारणत्व

पुरुष को ज्ञान का ज्ञान प्राप्त होता है तथा अपने स्वयं को प्राप्त हो जाता होता है । यह दोनों ज्ञान पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग होने से होता है । 'संयोग' का है ? यह यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न है । कारणकार ने इसका समाधान इस प्रकार से दिया है । इच्छा का योग प्राप्त करना अर्थात् ज्ञान के उपस्थित होने पर इच्छा का वैशुद्ध्य सीमा होता तथा अन्त में अपने स्वयं का अर्थात् ज्ञान होता ही संयोग का प्रयोजन है । अविद्या या अज्ञान से संयोग होता है अर्थात् योग-काल में पुरुष का ज्ञान के साथ जो संयोग होता है वह सब अविद्या के कारण है । जब यह अविद्या स्वी अज्ञान पर हो जाता है तब इच्छा को ज्ञान तथा अपने स्वयं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसे विवेकव्यति कहते हैं ।

इस संयोग का कारण अविद्या है । विपर्यय - ज्ञान - वासना ही अविद्या है । विपर्यय ज्ञान से युक्त बुद्धि विवेकव्यति पर अपने कार्य को नहीं प्राप्त करती । अतः बुद्धि का प्रतिस्वयी पुरुष ज्ञान द्वारा प्रकृत योग को योगता रहना है और अपने स्वयं का ज्ञान नहीं प्राप्त करता । परन्तु जब अविद्या दूर हो जाती है तब उसे अपने स्वयं का साक्षात्कार हो जाता है और अविद्याजन्म निवारण ही मुक्त हो जाता है । इस प्रकार संयोग का कारण अविद्या है । अविद्या के मूढ हो जाने पर संयोग का अभाव हो जाता है तथा ज्ञान को अर्थात् पुरुष को वैशुद्ध्य प्राप्त हो जाता है ।

1 - " पुरुषः स्वामी ज्ञानेन स्वेन वर्तितः तदुक्तः । मर्यादसंयोगाद् द्वैतश्लोकविद्यार्थं स योगः, या तु इच्छा स्वस्वोपलब्धिः सोऽपयोगः । वर्तितकर्मव्यतिः संयोग इति वर्तित विषयस्य कारणमुक्तम् । " - उपाधुपधु पृष्ठ 221 f  
 2 - विपर्ययज्ञानवातमिदंविना च न कार्यं निम्नं पुरुषस्योत्तमं बुद्धिं प्राप्नोति, तद्विद्यार्थं प्रकृतं तै । सा तु पुरुषस्योत्तमपर्यवसाना कल्पितोत्तमं प्राप्नोति, कारणोपलब्धिं विद्युत्-वैतना कर्मकारणावस्थितिं प्रकृतवर्तते । - यहाँ पृष्ठ 226 f

इस हेतुकेतुभूत लयोग की कारवणस्ता शिवद्वारा का स्वप्न निश्चित करने के पूर्व शिवद्वारा के बारे में बिचल गए मत विचारणीय है । यथा —

- (1) क्या गुणों का अंधकार कर्मात् कार्यात्म्य शिवद्वारा है ?
- (2) अथवा ब्रह्मा की पुरुष के स्वप्न का वर्णन न कराने वाले ब्रह्म के विचारों की उपस्थिति ही शिवद्वारा है ?
- (3) आत्मियों की प्रयोजनवस्ता अवर्णन है ?
- (4) क्या चित्त चित्त को पुनः अविद्ययित का भोग शिवद्वारा है ?
- (5) क्या एकुति के स्थिति संस्कार का व्यव होने पर गति संस्कार को अविद्ययित शिवद्वारा है ?
- (6) क्या ज्ञान सक्ति कर्मात् बुद्धि ही अवर्णन है ?
- (7) अन्य सम्भवय यद्य मानना है कि अवर्णन ब्रह्मा और ब्रह्म दोनों का वर्णन है । ब्रह्म का अपने में स्थित होना तथा पुरुष का ब्रह्म में प्रतिबिम्बित होना ही अवर्णन है ।
- (8) क्या विचारों का ज्ञान ही अवर्णन है ? हेतु की पुत्र योगों का कहना है ।

इन सभी शास्त्रीय विकल्पों में से चतुर्थ विकल्प ही शिवद्वारा का स्वप्न निश्चित करता है । सन्तुर्ण-विकल्प में चित्त ही पुनः अविद्ययित का भोग स्वप्न शिवद्वारा संस्कार की ही अवर्णन कहा गया है । विपर्यय ज्ञान की वाचना से शिवद्वारा बुद्धि कर्मात् करने के मार्ग से पुनः होकर पुनः पुनः अविद्ययित होती है । यह शिवद्वारा ही संयोग का कारण है ।

-----  
। - " अर्थात् शिवद्वारा स्वचित्तैव यद्य भिन्नद्वारा स्वचित्तैवोत्पत्तिभोगम् । "

— आतमस्य पृ० २२४ ।

तत्त्वबेसाहारी

द्वय पुरुष के तिस मीग प्रस्तुत करता है । पुरुष उम कौनों को योगता हुआ स्वामी कहलाना है और द्वय पुरुष रस स्वामी का 'स्व' होता है । पुरुष और बुद्धि के संयोग को तत्त्वबेसाहारीकार ने निश्चय माना है । प्रधान नित्य है । द्वय को प्रधान भी कहते हैं । कारण दोनों का स्वस्व त्रिगुणात्मक है । गुणों से विभक्त इनका अपना अलग से कोई रूप नहीं है अतः प्रधान ही द्वय है और द्वय ही प्रधान है । बुद्धि तत्त्वयोग के अनुसार प्रधान नित्य है अतः द्वय भी नित्य है । और द्वय का पुरुष के साथ संयोग भी नित्य हुआ ।

संयोग की स्थिति में पुरुष अपने चैतन्य स्वस्व को ब्रह्म रहत्व के अतः यह कहा गया है कि जब पुरुष और बुद्धि का संयोग होता है तब दर्शन कार्य का लक्षण होता है और जब पुरुष का बुद्धि से वियोग होता है तब पुरुष को दर्शन होता है अर्थात् पुरुष को ज्ञान प्राप्त हो जाती है जिससे वह मुक्त हो जाता है ।

संयोग का कारण अज्ञान है । विपर्यय ज्ञान युक्त वाचना ही अज्ञान है । ज्ञानिया सर्वज्ञी आदि विकल्पों की व्याख्या इन्होंने की है । यह व्याख्या माध के ही समान है, कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है अतः अलग से इन व्याख्याओं को उद्धृत नहीं किया जा रहा है । ज्ञानिया सर्वज्ञी चतुर्षु विकल्प को इन्होंने भी ज्ञानिया के स्वप्न का निर्धारण माना है ।

-----  
 । - " यतो द्वयं लक्ष्मणस्यज्जितमुपकारं भगवान् । पुरुषस्य स्वामी भवति । भवति च तद् द्वयस्य स्वम् । स चानयोः संयोगः शक्तिमात्रेण व्यवस्थितस्तत्त्वबेसाहारी-पक्षेण हेतुः । "

अन्त में अविद्या के विषय में निश्चित है <sup>अविद्या</sup> कि स्त्री तत्त्वना दक्षिण में उन्मत्ता विद्यमान रहती है । अतः प्रत्येक दृष्टि में यह पुरुष के साथ संयुक्त होकर रहती है । प्रकृति या ब्रह्म का यह संयोग निश्चय है कारण जब कोई एक पुरुष मुक्त हो भी जाता है तब उस पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग विच्छेद हो जाता है परन्तु अन्तः और पुरुष बचे रहने में इनके साथ बुद्धि का संयोग बना रहता है ।

### राजमार्क-दृष्टि

स्वार्थिक ब्रह्म है और स्वामी इष्टा अथवा पुरुष है । इन दोनों तत्वों में अविद्या - अविद्या भाव का होना ही संयोग है । संयोग को 'अधिकेक्याति' की संज्ञा भी दी गई है । अधिकेक्यातिरथा संयोग का कारण अविद्या है । अविद्या विषयक चिन्तनों का निर्देश इन्होंने नहीं किया है ।

### चित्ररथ

बुद्धि और पुरुष का 'स्वस्वामिभाव' एक ही उपलब्धि ही संयोग है । इष्टा और ब्रह्म के संयोग का कारण अविद्या है । इष्टा और ब्रह्म के बीच संयोग का दृश्य-जगत् का विपर्यय-जगत् है । क्योंकि उक्त संयोग का का कुछ है । जब अधिकेक्यातिरथा स्वार्थिक का अविद्या होता है तब अविद्या का नाश हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । अविद्या संघट्टी भावों विकल्पों का निश्चय इन्होंने भी किया है ।

1 - " स्वार्थिकेक्यातिरथा स्वस्वामिभावः, स्वार्थिकेक्यातिरथा स्वस्वामिभावः, तयोर्वैपर्ययि तद्विच्छेद-संयोगेन स्वस्वामिभावोऽप्यस्वस्वामिभावः कारणं यः स संयोगः । "

— ११० म० पृ० २०५ १

2 - " या पूर्व विपर्ययविरहण मोक्ष-स्वार्थिकेक्यातिरथा स्वस्वामिभावोऽप्यस्वस्वामिभावः संयोगस्य कारणम् । "

— वही पृ० २०६ १

3 - " अविद्यात् सति तयोः स्वस्वामिभावोऽप्यस्वस्वामिभावः, तयोर्वैपर्ययि तद्विच्छेद-संयोगेन स्वस्वामिभावोऽप्यस्वस्वामिभावः कारणं यः स संयोगः । "

— चित्ररथ पृ० १०

4 - " अविद्या इष्टा-ब्रह्मसंयोगः संयोगकारणम् । "

— वही पृ० १०६ १

5 - " दुःखीनामत्तत्त्वाच्च संयोगस्य । "

— वही पृ० १०६ १



योगवार्तिक

योगवार्तिककार ने अभ्यव्यतिरेक द्वारा अविद्याको संयोग का कारण सिद्ध किया है । विपर्ययज्ञान एवो वासना के बल से पुरुष तिवेक्यव्यति एक अपने परम ज्ञान को न प्राप्त कर बुद्धि से संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा प्रत्यक्ष योग में रत रहता है । 'परचेराद्य' के उचित होने पर बुद्धि का कार्य समाप्त हो जाता है और पुरुष 'व्यति' अर्थात् तिवेक्यव्यति को प्राप्त करता है । इस अवस्था में पुरुष अविद्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार ज्ञय के संयोग से पुरुष मोक्षता बनता है और ज्ञय से वियोग होने पर मुक्त हो जाता है ।

इसका और ज्ञय का स्वस्वामिभाव का संयोग अनाधि है । बुद्धि ही वह द्वार है जिसके द्वारा सभी शैथिल्य ज्ञय का पुरुष को संयोग होता है । ज्ञय के साथ पुरुष के संयोग का कारण विपर्ययज्ञान वासना अर्थात् शक्तिप्राप्त्यो वासना है । 'अविद्या' विषयक आठ शास्त्रीय धिकत्यों की विस्तृत व्याख्या इन्हेनि भी को है । व्याख्या भाष्य के ही सङ्ग्रह है अतः उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है ।

योगवीथिका

त्रिगुण पुरुष के लिए योग सम्पादित करते हैं' । इतीतिर इनको 'ज्ञय' शब्द से अभिहित किया गया है । ज्ञय त्रिगुणात्मक है इतीतिर इसका अर्थ स्वयं सुख-बुद्धि और मोहात्मक है । अर्थात् का जब ज्ञय से संयोग होता है तब वह जन्मदि के बन्धन में बंध जाता है । जन्मादि का बन्धन ही दुःख का कारण है अतः अर्थात् और ज्ञय के संयोग को दुःख का कारण कहा गया है ।

1 - 'तथा चाभ्यव्यतिरेकाभ्यां विपर्ययवासनाबुद्धिः पुरुष संयोगहेतुरिति भावः ।' — योगशां०पृ० ३३० F

2 - " विपर्ययज्ञानवासनाबलात् पुरुष व्यतिस्वर्ण कापीभिर्ण स्वकर्तव्यपरमस्वीयं न प्राप्नोति बुद्धिपरतः स्वार्थकारतया एवरावर्तते पुरुषेण संयुज्यते, ता तु बुद्धि पुरुषा-भ्यतव्यव्यतिपर्ययवासनी कार्यसङ्गाभिर्ण प्राप्नोति परचेराद्योत्पासनात्, सत्त्व धरिताधिकारा मिभ्यादितकार्थं विवृत्तविषयं सती संयोगव्यवस्थय कारणावसात् न पुनः पुरुषेण संयुज्यत इत्यर्थः ।" — वही पृ० ३३० F

3 - " सत्त्वविगुणमयं तद्वृत्तं पुरुषनोद्यत्वेन इवताम्ववाप्यम् ।" — योगशां०पृ० 4

4 - " सुखदुःखमोहात्म्यवृत्तितुल्यकारत्वेन शक्तिरुपवस्थात् पुरुषया अर्थात् पुरुषाय जन्माद्यः संयोगवशात्पु बुद्धिहेतुरित्यर्थः ।" — वही पृ० 4६ F

संयोग का प्रयोजन पुरुष के लिए 'योग' और 'अपर्याय' की शक्ति करना है । संयोग का मूल कारण अविद्या है । अविद्या के शारीरिक विकल्पों का विवेचन इस व्याख्या में नहीं किया गया है ।

### पारमार्थयोगसूत्रश्रुति

अखिल विषयों के आकार से आकर्षित हुए यह बुद्धि के प्रतीकत्व से कुरभ का 'शक्ति' रूप का हो जाना ही 'संयोग' है । यह संयोग अमर्षित दुःखनिमित्तक कारणों को देने वाला है । ज्ञान अद्वैतमतमीश के द्वारा आकर्षणशक्ति है ततः पुरुष का उससे सम्बन्ध होने ही योगों संयुक्त हो जाते हैं । इस अवस्था में पुरुष का बुद्धि से जो संबंध इस ज्ञान होता है वह संयोग का ही परिणाम होता है । जिसके फलस्वरूप पुरुष अपने को अविद्यात्मक वैतृत्व, अष्टद्वय और सात्त्विक रूप उपस्थितियों से युक्त समझ लेता है । संयोग का प्रतीक सर्वगत दुःखपूर्ण ही होता है क्योंकि अविद्यावशात् अपने स्वयं को भूला हुआ पुरुष ज्ञान रूप योगों में सुख का अनुभव करता है । यह सुखीशक्ति अमर्षित अमर्षितमर्षियों से युक्त होने के कारण उपार्थतः सुखवादी नहीं होते प्रत्युत इनका परिणाम दुःख ही होता है प्रती लिए संयोग की दुःख रूप कहा गया है ।

1 - " (तत्प्रवृत्तैः) प्रयोजनमहं योगपवर्गपीमिति ।" - योगदीपिका पृ० 45 ।

2 - " तत्र अमर्षण्य अष्टद्वयसंयोगस्याविद्या मूलकारणमीत्यर्थः । "

— वही पृ० 46 F

3 - " सुखमोहदुःखारम्भगणितसुखाकारक्षेमगणितसुखदशाया भूत्या तावदाविद्या - प्रतिबन्धनत्वेन अष्टद्वय पुरुषस्य यः संयोगो भवति तस्य विद्यामयो अमर्षण्यः स दुःखैतु- रित्यर्थः । "

— पा०यो०सू०पृ० 44 F

4 - अतोऽहोमिदानीं बुद्धिबिचयत्वस्या संयोग इत्यर्थः । " — वही पृ० 46 F

5 - अर्थात् संयोगवैतृत्वस्य दुःखैतुत्वमित्यु बुद्धिते तदाकारानुरोपी दुःखिन इवेति विष् । "

— वही पृ० 45 F

जब पुरुष को बुद्धि और अपने इन्द्रिय का विविक्त रूप प्राप्त हो जाता है तब संयोग का नाश हो जाता है और पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है । संयोग का मूल कारण अविद्या है । अतः अविद्या का नाश होने पर ही संयोगनाश होता है और पुरुष स्वयं के आरोपित बन्धनों से मुक्त हो जाता है । संयोग से विद्योग होने पर ही मोक्ष होता है इसी लिए यह कहा भी गया है कि संयोग नहीं एक तरफ पुरुष के लिए बन्धनकारी है दूसरी तरफ मोक्षदायक भी है ।

### मीमांसा

बुद्धि और पुरुष का परस्पर संबन्ध स्थापित और स्थायित्व के रूप में होता है । बुद्धि यह है और पुरुष जेतन है । जेतन होने के कारण पुरुष में इन्द्रिय या बौद्धिक शक्ति का आरोप होता है और बुद्धि यह है अतः जेतन होने के कारण यह स्वयं इक्षित है अर्थात् 'बोध' है । जब अविद्यावशात् दोनों का संयोग होता है तभी बुद्धि और पुरुष का स्वयं और बुद्धि का 'स्व' और 'स्वामित्व' का संबन्ध होता है । अविद्या के कारण दोनों का संयोग ही पुरुष का 'बीज' है । अर्थात् बौद्धिक सम्बन्ध होता है और जब विवेकवशात् होने पर पुरुष का अपनी बुद्धि-सत्ता का बोध हो जाता अतर्गत है । इस प्रकार बीज और अन्वर्तन के मूल में संयोग ही है ।

अब प्रश्न उठता है कि संयोग का क्या कारण है ? उत्तर है 'अविद्या' ही संयोग का कारण है । अस्मितज्ञ की वासना ही अविद्या है । इसके द्वारा ही बुद्धि और स्वयं का संयोग होता है । अविद्या से संबन्धित विकल्पों का विवेचन इनकी श्रुति में ही अनुपास्य है ।

1 - " सद्यस्मान्नास्मीति कारणमविद्या तस्मात् भोगाभाव एतेषां बन्धाभाव एव मेवम् । अत आत्मवर्तमानमपि - संयोगे तु कश्चेति विद्म् । " — पा०यो०पु०बु०पु० 48 F

2 - " यथाभावे बुद्ध्याययोः अद्वयोपलक्षणं यथापि यद्भावेन साधयति स संयोगः कार्यविवक्षेय इत्युपनिषत् यथापि । " — मीमांसा पु० 37 F

योगसूत्रार्थवेदीपनी

इस स्थिति पुरुष के और इन्द्रिय बुद्धितत्त्व है । दोनों में अन्तिसत्त्व प्रभिव की कल्पना ही अविद्या है । इस स्थिति अर्थात् पुरुष में चेतनता के तत्त्व : उसमें इन्द्रिय की योग्यता के और इन्द्रिय जो कि जड़ है अचेतन के उसमें इन्द्रिय तथा चेतन बनने की योग्यता है । जब अविद्यावशात् दोनों में तीव्र की शक्ति होती है तभी दोनों में संयोग होता है । संयोगकाल में पुरुष बुद्धि के साथ इतना अधिक संयुक्त हो जात है कि वह अजीगीतबोक्ता, अजीगीत शब्दा का अनुभव करने लगता है । पुरुष और बुद्धि का यह संयोग तीव्रवेकमानपर्यन्त बना रहता है । जब विवेकव्यति उत्पन्न होती है तब पुरुष को अपने स्वस्व और बुद्धि के स्वस्व में भेद का ज्ञान होता है । यह भेद ज्ञान ही संयोग का विनाशक है तथा मोक्ष अर्थात् कैवल्य का फल है ।

योगसिद्धान्तवर्णिका

इस व्याख्या में 'इन्द्रिय' को 'प्रचलन' माना गया है । शब्दा पुरुष के लिए प्रकृति या प्रचलन ही समस्त क्षेत्र्य शीघ्रत करती है । प्रकृति प्रचलन दोनों का बोक्ता बनना ही पुरुष और प्रचलन का संयोग है । इन दोनों तत्त्वों का संयोग तीव्रवेकव्यति के कारण होता है । बुद्धिकृत सुख, दुःखानि अनुभवों के तत्कार को अपने क्षेत्र्य में आरोपित करना ही पुरुष का योग है । इस योगकाल में पुरुष को अपने चिन्ताप्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं होता । वह तो अविद्या के प्रवाह कारण प्रचलन

- 1 - " इन्द्र-पुरुषः, इन्द्रियं बुद्धितत्त्वम् । तयोः संयोगोऽनेवशान्तिरुक्तोऽपि बुद्धि-कल्पितो विषयः दुःखश्च ई तुरित्यर्थः । " -- श्लो० सू० ३० २५ F
- 2 - " शान्तिवशात्संयोगश्च कालमिद्वयार्थः । " -- वही सू० २५ F
- 3 - " अजीगीतं बुद्धयोरनेवशान्तिः । " -- वही सू० २५ F
- 4 - " तस्य तीव्रवेकव्यतिप्रचलनार्थोऽपि तत्कारोऽपि संयोगश्च बुद्धिश्च द्वेषश्च हेतोरर्थोऽपि विमोक्षो 'हान' यत्तदेव इतिर्निश्चिन्तकश्च कैवल्यमित्यर्थः । " -- वही सू० २५ F
- 5 - " शब्दा पुरुषः इन्द्रियं प्रचलनम् । " -- योगसि० सू० ३० २५ F
- 6 - " तयोः संयोगोऽतीववेकव्यतिहेतुश्च । " -- वही सू० २५ F

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निम्न रहता है । जब पुरख को अपने पथवि  
स्वच्छ का ज्ञान हो जाता है तब उसे अव्यय की प्राप्ति होती है । संयोगवाच्य होने  
पर पुरख को सभी दुःखों और सुखों से प्राकृतिक निष्पत्ति हो जाती है । तब वृद्धा  
संघर्षी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

### वाक्यतो

'अतः' और 'ये' का परस्पर संबंध ही संयोग है <sup>2</sup> । संयोगवाक्य  
में 'अतः' और 'इयं' में एकत्रय और एकत्रय की श्रेष्ठ स्वस्वामि-वत्त्व का संबंध होता  
है । शीघ्र काल में 'अतः' प्रविशकवासात् ही सुखी अहम्, दुःखी अहम् इत्यादि अनुभव  
करता है । जब गुणों से वृत्त हो जाता है तबान् विवेकवासीत हो जाती है तब  
'अतः' को अव्यय की प्राप्ति होती है । इस प्रकार 'विवेकवासीत' अव्यय 'वर्तन'  
द्वारा संयोग का अस्तित्व हो जाता है । विवेकवासीत वियोग का कारण है ।  
अवर्तन संयोग का कारण है । अवर्तन के संबंध में कुछ विकल्पों का निस्तन इस  
व्याख्या में ही किया गया है ।

1 - " स्वामिस्वच्छय प्रविशकवासात्पतन्विषयेतुस्वयवर्गं हेतुवर्तनम् । तद्वेतुः संयोग  
इत्यर्थः । " — योगसिद्धोद् 65 f

2 - " तामुर्वेद्यय व वा संयोगोपलब्धस्तथैव साम्निध्यं स एव संयोगः । " — वाक्यतो पृ 189 f

3 - " प्रकृत्यप्रकृत्यात् इयंप्रप्योः स्वस्वामिन्सः संकथः, इयं स्व स्वकीयं  
अतः स स्वामीत । " — वही पृ 190 f

4 - " सवर्तनीयता विवेकी वेति, अहं सुखी अहम्दुःखीयारमपुस्वरूपेण यो अथ्य स  
शोभता । " — वही पृ 190 f

5 - " गुणैः इयं स्वस्वामिन्सः विवेकवासीतित्यर्थः सपथर्गः । " — वही पृ 200

6 - " विवेकेन वर्तनस्य परिचयं प्यार संयोगवाच्यवसानं ध्यात् तदन्तरं विवेकवर्तनं  
विद्योगस्य कारणम् । " — वही पृ 225 f

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निम्न रहता है । जब पुरस्कार अपने पक्ष में स्वयं का ज्ञान हो जाता है तब उसे अवबर्ग की प्राप्ति होती है । संयोगवाच्य होने पर पुरस्कार को सभी दुःखों और सुखों से आत्मिक निःसृति हो जाती है । अथवा संयोगी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

### वाक्यती

'सात्' और 'स्य' का परस्पर संबंध ही संयोग है । संयोगवाक्य में 'सात्' और 'स्य' में प्रकृत्य और प्रकृत्य की भेदित स्वस्वामि-वत्त्व का संबंध होता है । योग काल में 'सात्' अविवेकवात् ही सुखी महत्, दुःखी महत् इत्यादि अनुभव करता है । जब सुखों से वृत्त हो जाता है अर्थात् विवेकवाति हो जाती है तब 'सात्' को अवबर्ग की प्राप्ति होती है । इस प्रकार 'विवेकवाति' अथवा 'वर्तमान' द्वारा संयोग का अन्तान हो जाता है । विवेकवाति वियोग का कारण है । वर्तमान संयोग का कारण है । वर्तमान के संबंध में कुछ विकल्पों का निश्चय इस व्याख्या में ही किया गया है ।

1 - " स्वात्मस्वका सात्त्विकव्योपलब्धिरेतदुत्कर्षम् । तद्व्येत्तुः संयोग इत्यर्थः । "

— योगीश्वर ७५० ६५ १

2 - सात्त्विकस्य च या संयोगोपलब्धिरसौ सात्त्विक्यं स एव संयोगः । "

— वाक्यती ५० 189 १

3 - प्रकृत्यप्रकृत्यत्वाद् इत्यर्थः । स्वस्वामिन्स्यः स्वस्वः, इयं स्व स्वकीयं सात्त्विकं च स्वाधीनम् । "

— वही ५० 190 १

4 - " सत्त्वधीनता विवेको वेति, अतः सुखी महत्सुखीव्योपलब्धिरेतदुत्कर्षम् । यो सात्त्विकं स योगः । "

— वही ५० 190 १

5 - " गुणैः स्वस्वत्वात्तद्वत्त्वं विवेकवातिरित्यर्थः । " — वही ५० 200 ।

6 - " विवेकेन वर्तमानस्य परिवर्तनं पित्य संयोगवाक्यवसानं अर्थात् तस्माद् विवेकवर्तमानं वियोगस्य कारणम् । "

— वही ५० 225 १

या गुणों का कार्यात्मकसाधक ही अर्थान्तर है । इस संबंध में शास्त्रोक्तों का कहना है कि जिस प्रकार केवल वाह-सत्व ही अथवा वायु तत्त्व नहीं है उसी प्रकार केवल गुणों में कार्यात्मक साधकत्व विद्यमान है जब इसके द्वारा अर्थान्तर तत्त्व नहीं निर्धारित होता है । इसी तरह विकल्प का उत्पन्न न होना ही अर्थान्तर है । यह तत्त्व भी अर्थान्तर के लिए उपयुक्त नहीं है और जैसे ही जैसे स्वाभाव का अर्थान्तर है वह जैसे मात्र से अर्थ का तत्त्व नहीं प्रतिपादित होता है । इस संबंध में सुतीर्थ विकल्प है— या गुणों की अर्थवत्ता ही अर्थान्तर है । इस संबंध में भी शास्त्रोक्तों ने अर्थान्तर का विचार है कि यह तत्त्व भी अर्थान्तर का उचित उत्पन्न नहीं करता है । अर्थान्तर संबंधी अर्थान्तर विकल्प से सहमत होने हुए शास्त्रोक्तों ने लिखा है कि 'अर्थान्तर' संकेत रूप में अर्थान्तर में अर्थवत्ता जो अर्थवत्तान्तर ज्ञान को उत्पन्न करने में योग्य के समान है । अर्थान्तर ही विकल्प का समर्थन करते हुए अर्थान्तर वाह के विकल्पों का निरस्तन बाध के ही समान शास्त्रोक्तों ने किया है ।

अर्थान्तरात्मकबाध

बुद्धि प्रकृतिसंसारक है । बुद्धि ही जिसे 'ज्ञान' नाम से भी अभिहित किया गया है बुद्धि के लिए साक्षात् रोग का साधन प्रस्तुत करती है । बुद्धि और बुद्धि के संयोग से संसार की सृष्टि हुई है इसी लिए बुद्धि और बुद्धि के संयोग को 'संसार जनक' कहा गया है । इस संयोग का कारण अर्थान्तर है । इन दोनों का संयोग परस्पर सापेक्ष तथा परस्पर उपकार्योपकारकभावपुस्त है योक्तिक बुद्धि के लिए प्रकृति की अर्थान्तर करता है और प्रकृति अपने अर्थान्तर रूप में अर्थान्तर बुद्धि की अर्थान्तर करती है । इस तरह प्रकृतिक बुद्धि और बुद्धि प्रकृति का अर्थान्तर हुआ । प्रकृतिक और बुद्धि दोनों तत्त्व अर्थान्तर हैं अतः दोनों के बीच संयोग का अर्थान्तर भी अर्थान्तर है ।

1 - " तादृशयोर्बुद्धिपुरुषयोः संसारजनकः संयोगः । " — स्वतः १०१०५०५०२०७  
 2 - " स च परस्परसापेक्ष इवेति अर्थान्तर, निरपेक्षयोर्बुद्धि-पुरुषयोः संयोगऽनव-  
 कशात्, अर्थान्तर अर्थान्तर परस्परमुपकार्योपकारकभावत्वेन, अथ च पुरुषः केवलार्थान्तर  
 प्रकृतिसंयोगे प्रकृतिक स्वभाव - उपनौगर्ह्य - अर्थान्तर - पुरुषसंयोगे, अतएव प्रकृतिसंयोगे  
 पुरुषस्य च अर्थान्तरतेति । " — वही पृ 208 f  
 3 - " तत्रैव बुद्धयोः संयोगश्च अर्थान्तरात्परिवेद्य । " — वही पृ 208 f





बुद्धितत्त्व और पुरुष का संयोग वप्रयोजन है । प्रथम प्रयोजन इन दोनों तत्त्वों के संयोग का यह है कि संयोग होने पर ही पुरुष बुद्धि स्वात्मप्रकृत योग या 'स्वामी' बनता है और बुद्धि उसका 'स्व' बनती है । दोनों के मध्य 'स्व' 'स्वामी' नाम की उपसंज्ञि संयोग में ही होती है । संयोग का दूसरा प्रयोजन है पुरुष को अपने स्वस्व को उपसंज्ञि । बुद्धि से विमुक्त होने पर ही पुरुषस्वस्व-व्यक्ति बनता है । इस स्वस्वस्वस्विति का भूत कारण विवेकव्यति है ।

बुद्धि और पुरुष के संयोग का भूत कारण क्या है ? इस संबंध में कुछ विद्वानों का वर्णन किया गया है । कुछ लोगों ने लोगों के अन्तर निहित कारणों को शक्ति को ही संयोग का कारण कहा है । कुछ लोगों ने संयोग 'योग' और 'अवस्था' को ही संयोग का प्रयोजन माना है । कुछ दूसरे लोगों के विचार में स्वतः बुद्धिप्रकारण संयोग का ही संयोग का कारण माना है । कुछ और लोगों/बुद्धि तत्त्व को ही संयोग का कारण माना है । कुछ लोगों ने विवेकव्यति को न उल्लेख करके वेने आती बुद्धि को शक्ति को ही संयोग का कारण माना है । कुछ ने प्रकृति को संयोग का कारण माना/परन्तु ज्ञानियों ने संयोग का हेतु त्रिविधा को माना है इस संबंध में इन भाषाओं का यह मत है कि दृष्टि के प्रारम्भकाल में बुद्धि तत्त्व त्रिविधावृत्त हेतु त्रिविधावृत्त वाचना से प्रेरित होने पर पुरुष का साम्निध्य प्राप्त करती है । बुद्धितत्त्व में पुरुष प्रतिबन्ध बढ़ने पर बुद्धितत्त्व योगी को आरम्भ करती है इस प्रकार त्रिविधा स्वारा ही बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है ।

.....  
 1 - " स्वामिनि - इयं बुद्धितत्त्वम् , स्वामिनिनि - मोक्षा पुरुषः , यतो इयं पुरुषत्वमेव - प्रतस्तज्जितमुपकारं वजमानः पुरुषस्तस्य स्वामिं भवति, भवति च इयमस्य पुरुषस्य स्वम्, स चाऽनयोः संयोगो स्वयोः सास्त्रोपनिषि-हेतुरिति ।"  
 — शां०न०भा० पृ० 219 f

2 - " पुनः दृष्ट्यारम्भकाले - बुद्धितत्त्वं साऽपि स्वयं प्रतिबन्धितं, आत्मोपनिषि-उपनिषिवाचना प्रेरितं रजसा प्रभुत्वं च बुद्धितत्त्वं पुरुषसाम्निध्यमुपगतं भवति, तत्र प्राग्बुद्धितत्त्वे पुरुषप्रतिबन्ध सत्यतीतं, प्रतिबन्धेन संयुक्तं बुद्धितत्त्वं योगीय-कारणते, अतः पुरुषप्रतिबन्धस्य बुद्धितत्त्वस्य च यः संयोगस्तस्य प्रवसाधारणं कारणं तत् - त्रिविधोपनिषि ।"  
 — पृ० 219 f

श्रीविष्णु-विशेषाधीन  
सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्वेश्वर

श्रवणसाम्य

श्रीविष्णु-विशेषाधीन ही कैवल्य का उपाय है । श्रीविष्णु का अर्थ है जिसमें विष्णुत्व ही अर्थात् विष्णुत्व ही हीन विवेकशक्ति । निरन्तर विवेकशक्ति ही श्रीविष्णुविशेषाधीन है । यह विवेकशक्ति कितां ही परिस्थिति में अधिकतम ही होगी है अतः उसे श्रीविष्णुत्व कहा गया है । कैवल्य जैसे अमोघ स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विशेषण सर्वत्र ही विशेषाधीन ही प्रकीर्ण है ।

तत्त्वज्ञानरही

विष्णुत्व का अर्थ प्रव्याख्यान है । बुद्धि-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित रूप से उस विवेक ज्ञान का शीर्षकस्वरूपान्तर निरन्तर अमोघत्व ही निर्विषयता-विशेषाधीन है । यह निर्विषयता-विशेषाधीन प्रव्याख्यान की वास्तवता से सर्वथा हीन होती है ।

श्रीविष्णु उल्लेख इस संबन्ध में तत्त्वज्ञानरही का यह है - <sup>इत-सन्देह में</sup> - "इति श्रुति श्रोत्र प्राणत्वान्तरात् उल्लेख किया है । 5 नाना कालानां हि सुखात् इति विवेक उच्छेद कर बुद्धिपूर्वक विचार कर उक्त ज्ञान का शीर्षकस्वरूप ही प्रव्याख्यान करने पर उल्लेख विशेषाधीन प्रव्याख्यान ही हीन विष्णुत्व हीन ही है । यह उक्त ही निर्विषयता विशेषाधीन है ।  
राजमार्तण्डश्रुति

श्रीविष्णुत्व का अर्थ है "म विद्यते विष्णुवो विशेषोऽन्तराऽन्तरा श्रुत्यान्तरा यथा सा विष्णुता ।" अर्थात् विशेषाधीन के अर्थ में श्रुत्यान्तरा श्रुति विष्णुत्व ही हीन

1 - " विद्यते श्रोत्रज्ञः सत्त्वज्ञाने वदे वेदज्ञाने परस्मात् श्रुतिपरमार्थत्वात् न तत्रान्यत्र विशेषज्ञानप्रवाहो निर्मलत्वयति । स विवेकशक्तिरविष्णुत्व ही हीन प्रव्याख्यानः ।"

— श्रवणसाम्य पृष्ठ 232 F

2 - " विष्णुवो निष्प्रव्याख्यान तत्रोचिता । - - - शीर्षकस्वरूपान्तरात् श्रुतिपरमार्थत्वात् न तत्रान्यत्र विशेषज्ञानप्रवाहो निर्मलत्वयति । स विवेकशक्तिरविष्णुत्व ही हीन प्रव्याख्यानः ।"

— तत्रोचिता पृष्ठ 232 F

3 - श्रवणसाम्य - राजमार्तण्डश्रुति पृष्ठ 211 F

श्रीविष्णुवाच विवेकख्याति

व्याप्तवाच्य

श्रीविष्णुवाच-विवेकख्याति ही कैवल्य का उपाय है । श्रीविष्णुवाच का अर्थ है जिसमें विष्णुच न हो अर्थात् विष्णु जान रहित विवेकख्याति । निरन्तर विवेकख्याति ही श्रीविष्णुवाचविवेकख्याति है । यह विवेकख्याति किसी भी परिस्थिति में अविद्यत न ही होगी है अतः उसे श्रीविष्णुवाच कहा गया है । कैवल्य जैसे अव्यक्त स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विष्णुवाच सर्वत्र विवेकख्याति हो अनिवार्य है ।

तत्त्ववेत्तारणे

विष्णुच का अर्थ विष्णुवाचन है । बुद्ध-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित स्थिति में उस विवेक कल्प का शीर्षकस्वरूपम् निरन्तर अज्ञेयन ही निर्विघ्नवाच-विवेकख्याति है । यह निर्विघ्नवाच-विवेकख्याति विष्णुवाचन की वासना से सर्वथा रहित होती है ।

विशेष उल्लेख इन सर्वत्र में तत्त्ववेत्तारणो का यह है - <sup>इतरात्म्ये मे</sup> इन्द्रेण श्रुति श्रेयसात्तान का उल्लेख किया है । इन्द्रात् कश्चात् है कि सुखान् इन्द्रात् विवेकं गृहण कर सुनिश्चित विचार कर उस ज्ञान का निर्विघ्नवाच तत्त्व विवेक उपायमा करके परब्रह्म आत्मब्रह्मकी प्राप्ति प्राप्त होगी। जो विष्णुवाचन है। यह उक्त ही निर्विघ्नवाच विवेकख्याति है।  
राजमार्तण्डश्रुति

श्रीविष्णुच का अर्थ है 'न विद्यते विष्णुचो विद्येवोऽन्तराऽन्तरा भ्युत्थानच्छो यथाः सा विष्णुवा ।' अर्थात् विवेकख्याति के मार्ग में बुद्धयन स्थिति के न होने

1 - " विद्युत् क्षेपारजः सत्त्वक्य परे वेत्तारश्चे परव्यां क्षीकारश्चाद्यं वर्तमानस्य विवेकव्यययथाश्चे निर्मलीयति । स विवेकख्यातिराश्रयणवा इति श्रुतः । "

— व्याप्तवाच्य पृ 232 f

2 - " विष्णुचो विष्णुवाचनं तावद्विज्ञा । - - - शीर्षकस्वरूपस्य तद्विज्ञा-या श्रवणवाचः प्रकथयत्यर्थं इत्यत्रिगतं तावत्कारवन्तो विवेकख्याति निर्मलितव्यं विष्णुवाचनं निर्विघ्नवा इति श्रुतः । "

— तद्वे 0 पृ 232 f

3 - इन्द्रव्य - राजमार्तण्डश्रुति पृ 211 f

से निरन्तरविवेकव्याप्ति होती रहने वाली विवेकव्याप्ति को ही अधिप्लव-विवेकव्याप्ति कहा गया है । यह विवेकव्याप्ति ही कैवल्य के लिए उपयोगी है ।

### विवरण

विवेकव्याप्ति को 'विवरण' में 'सशक्यव्याप्ति,' कहा गया है । विवेकव्याप्ति में 'सशक्य' और पुरुष के स्वस्थ का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होना है अतः 'सशक्यव्याप्ति' यह नाम ही सर्वथा उचित है । इसमें दोनों कृत्यों के पर्याप्तस्वस्थ का ज्ञान होता है जिसके द्वारा रागादिमल वशबोज-भावना को प्राप्त कर वशव्यप्रसव हो गति है । अर्थात् उनकी कार्यक्षमता मष्ट हो जाती है । इस प्रकार ही विवेकव्याप्ति अधिप्लव-विवेकव्याप्ति होती है और मिथ्याज्ञान को वश-बोज-भावना प्राप्त कराने वाली यह अधिप्लवविवेकव्याप्ति ही मोक्ष को प्राप्त कराती है ।

### योगवार्तिक

अधिप्लवविवेकव्याप्ति निर्मल तथा मिथ्याज्ञान स्वी कल्पना से रहित होती है । यह परमसाक्षात्काररूपिणी मोक्ष का उपाय है । विवेकव्याप्ति से सभी मिथ्याज्ञान वशबोज-भावना को प्राप्त हो गति है और चित्त पर वैभारव्य को प्राप्त करता है । विवेकव्याप्ति का यह अर्थ है जब निरन्तर होता रहता है तब अधिप्लवविवेकव्याप्ति होती है ।

1 - "सशक्यव्याप्तौ सत्याधीनद्वयानिबुद्धिरिति ह्यन्यथस्वपि प्राप्त्वात्मव्युपचयति ।"  
— विवरण पृ० 204 F

2 - "मिथ्याज्ञानस्य वशबोजभावोपगमनेन । सा च तन्नामो विवेकव्याप्ति --  
मोक्षस्य मार्गो ह्यनस्योपाय इत्यर्थः ।"

— वही पृ० 205 F

3 - "विवेकव्याप्तिप्रवाहो निर्मलो मिथ्याज्ञानकल्पितो भवति । अतः  
सा विवेकव्याप्तिरधिप्लवोच्यते, सा परमसाक्षात्काररूपिणी हानोपाय इत्यर्थः ।"

— योगवार्तिक पृ० 232, 233 F

मिथिप्रभा

ब्रह्मा और सत्य का त्रिविकल ज्ञान होता ही विवेकव्यति है । "विषय" विषया-ज्ञान को कहते हैं । अतः जब विषया-ज्ञान रही विषय का ज्ञान पर परबेराय द्वारा प्रारब्ध कर्मचारियों का आध्यात्मिक निवृत्ति कर देने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । सबिप में यही 'मिथिलता विवेकव्यति' का अर्थ है ।

योगीश्वरप्राम्तचरित्रिका

हृदय में वेद का ज्ञान प्राप्त ही जगत् विवेकव्यति है । विवेकव्यति में गुणों और पुरुष के लक्ष्य का पर्यन्त ज्ञान होने से दोनों तर्कों की विफलता का अर्थ ज्ञान ही जाता है ।<sup>2</sup> विषयाज्ञान से रहित यह विवेकव्यति साक्षात् रूप से कैवल्य प्रदान करने वाली होती है । इस विवेकव्यति द्वारा ही दुर्लभसे आध्यात्मिक सुदुस्तरा मिल जाता है ।<sup>3</sup> विवेकव्यति द्वारा प्रथमतः ब्रह्मण का ज्ञान होता है । ब्रह्मण का ज्ञान होने के बाद गुणों की कर्षार्थन शक्ति की निवृत्ति हो जाती है तत्पश्चात् अिगुणात्मक चित्त प्रदान में विलीन हो जाता है । चित्त का लय हो जाने से चित्त और चित्तलक्षित के संयोग का ज्ञान हो जाता है । संयोग का ज्ञान हो जाने पर पुरुष स्वस्वभावस्थिति को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है ।<sup>4</sup>

1 - " विषयात्मनं निश्चय " विज्ञाना " सती परबेरायपुत्रकीमरोपेन सत्कारोत्पद्य सुसुप्तस्य प्रारब्धत्वसामे आध्यात्मिकनिवृत्तिद्वारा वाचिदुःखजनक मोक्षधोपाय इत्यर्थः ।"

— मिथिप्रभा पृ० 58 f

2 - हृदयप्रयोगीश्वरीविवेकव्यति - अन्वे गुणाः, तस्यः पुरुष इत्यकार्षणं ज्ञानम् ।"

— योगीश्वर० पृ० 66 f

3 - " न विद्यते विषयो विषयाज्ञानजयवासनतिवन्तारानिबन्धो यथाः सा साक्षात्काररथा इत्योपायः । आध्यात्मिक-दुःखनिवृत्तिरुपमेवयं यथा इत्यर्थः ।"

— यही पृ० 66 f

4 - " प्रथम-तो ज्ञानब्रह्मणः । पश्चात् प्रदानव्याधिकारनिवृत्तिः । ततश्चिन्तन लयः । ततः संयोगज्ञानः । ततो बुद्ध्यानुत्पद्यति । कर्मजयनमितीत सबिपः ।"

— यही पृ० 66 f

पौष्पुभाष्यवेदिकी

मिथ्यात्व-रहित दृश्य में केवल होना ही अधिष्ठा-विवेकध्याति है । विवेकध्याति जो भागममल द्वारा होती है वह परोक्ष विवेकध्याति होती है । अतः वह अधिष्ठा को मध्य नहीं करती । परन्तु जो विवेकध्याति एकद्वय ध्यान के माध्यमार्थ सत्यज्ञानमार्थ की परलक्षण होने पर उत्पन्न होती है । वह विवेकध्याति साक्षात् विवेकध्याति होती है और अपने हीनादि से यह ध्याति मिथ्यात्व का नाश करती है इसीलए इस साक्षात्कार रक्षा विवेकध्याति को अधिष्ठा कहा गया है । इसके द्वारा ही बुद्ध का आत्यन्तिक मत्ता ही ज्ञान है और साधक को कैवल्य की प्राप्ति होती है ।

वाक्यती

अधिष्ठा-विवेकध्याति ही 'ज्ञान'; अर्थात् 'कैवल्य' की प्राप्ति का उपाय है । बुद्धितत्त्व और साक्षात् पुरुष दोनों किन्-किन् तत्त्व हैं इस प्रकार की अनुभूत ही विवेकध्याति है । विवेकध्याति प्राप्त पुरुष में बुद्धि के प्रति कोई महत्वमय मत्तना नहीं रह जाती है । वह निरन्तर विवेकध्याति में तन्त्रय रहता है विपर्ययज्ञान से रहित विवेकध्याति को ही 'अधिष्ठा-विवेकध्याति' कहा गया है । 'अधिष्ठा-विवेकध्याति' की व्याख्या इस प्रकार की गई है 'अधिते; यदा विपर्यय-संस्कारव्याप्तिव्याप्तान् व मध्यमसत्त्व मयति - विपर्ययव्यवहान् न प्रसूत इत्यर्थः ।' अर्थात् अधिष्ठा-विवेकध्याति में विपर्यय-ज्ञान उदित नहीं होते, उनका अव्यक्तभाव ही जाता है, । यह ध्याति परवर्तीकारवेराध-संज्ञा-जन्म परावस्था में होती है ।

- 1 - " अथमतेऽन्वयागमात् सामर्थ्यतो विवेकध्यातिस्त्वोत सा नाधिष्ठा  
मतायति परोक्षत्वात् । " - सूत्रार्थवेदिकी पृ 25 f
- 2 - " यदा तु ध्यानवर्कणं विस्मृतिवन्वती साक्षात्काररक्षा सवासनीमया-  
लं मतायतीत्यधिष्ठा सती इत्यथ बुद्धय आत्यन्तिक्योपायभूतेत्यर्थः । " - वही पृ 01
- 3 - " बुद्धिसत्त्वमधिगम्य ततो म्यस्तथापि साक्षात् पुरुष इत्येतन्मत्तान् बुद्धि-  
विके ध्यातिः । " - वाक्यती पृ 0 236 f
- 4 - " इत्यथ - वाक्यती पृ 0 236, 237 f
- 5 - " तथा च परवर्तीकारसंज्ञया वागीकार वेराधस्य परालम्बायतीत्यर्थः  
- वही पृ 0 237 f

सुखीमनारायणभाष्य

अविद्य ही के लिये मग्न से भी रहित विवेकव्यति ही अधिपतव्य विवेकव्यति होती है । यह विवेकव्यति ही बुद्धय के भाव्यमितक विनया का परम् साक्षात्कार है । केवल विवेक व्यति को ज्ञान का साक्षात्कारण कहा गया है और अधिपतव्य-विवेकव्यति को ज्ञान का परमसाक्षात्कारण कहा गया है । विवेकव्यति जो साक्षात्तव्य अव्यय-रूप होती है उसमें साक्षात्कारवती प्रभा होती है अर्थात् उसमें प्रकृत पुरुष का वेदज्ञान होता है । जब यही विवेकव्यति दीर्घकाल तक निरन्तर होती रहती है तब यह विवेक व्यति को पराकाष्ठा को प्राप्त करती है । जिसमें सभी मय्या ज्ञान प्राप्त हो चुके होते हैं ऐसे विवेकव्यति ही 'अधिपतव्यविवेकव्यति' होती है जो केवल्य स्व ज्ञान का उपाय है ।



। - " विवेकव्यतिरित्यं यथा साक्षात्कारवती, तथाऽऽगमऽनुमानाभ्यामीप सुसाध्याविधीयते, यथा सास्त्र अव्यय-रूपेण ज्ञानेन प्रकृतपुरुषव्यतिविवेकं सुधीत्याऽनुमानादीन्-दुहित किम्यवक्याप्य दीर्घकालाऽपरमेरुमर्त्यसंसारसेवितया भावनायाः परमकाष्ठावधिं प्राप्त्वा साक्षात्कारवती प्रत्यस्तीमतसवात्मनीमय्यात्र त्वासीद्यद् विवेकव्यतिरविपतव्य इति तात्पर्यम् । "

प्रश्नोत्तर

व्यासवाच्य

श्रीवचनाद्विभक्त्यात् से... युक्त योगी की प्रथा प्रत्ययान्तरों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृष्ट कहो गई है। उसकी उत्कृष्ट-प्रथा सात-चक्र की होती है। जिसका उल्लेख वाच्यकार ने इस प्रकार से किया है। (1) डेय का हान हो गया अब कुछ भी डेय नहीं बचा। (2) डेय के हेतु शीघ्र हो गए अब कुछ शीघ्र करने योग्य नहीं बचा। (3) निरोध-समाधि द्वारा मोक्ष का साक्षात्कार हो गया। (4) विभक्त्यात् रथ हान का उपाय भिक्षा हो गया। ये चार बुद्धि की विभक्ति हैं। चित्तविभक्ति के तिन में चार हैं यथा — (5) बुद्धि पुरुषार्थ प्राप्त कर चुकी है। (6) गुण अपने कारण प्रकृति में लीन हो गए। (7) गुणों के संघर्षों से रहित होकर अपने स्वभाव के प्रकाश से केवली पुरुष प्रकटीकृत होता रहता है। इस प्रकार उक्त सात-प्रकार की उत्कृष्ट प्रथा विभक्त्यात् प्राप्त पुरुष का प्राप्त होती है।

तत्त्ववेत्तारदी

चित्त के अर्थों का आध्यात्मिक नशा हो जाने के उपरान्त ही चित्त को स्थिर-ज्ञान रहित श्रीवचनाद्विभक्त्यात् होती है। श्रीवचनाद्विभक्त्यात् प्राप्त योगी की प्रथा प्रकृष्ट नहीं जाती होती है। यह वचन सात चक्र की होती है।

। - सप्तचेतसुशुद्ध्यावरणमनापगमाच्चित्तस्य प्रथयान्तरानुत्पत्तिं सात सप्तपदा  
- च प्रथा विभक्त्यात् नोपपत्तिः ।” — व्यासभाष्या पृ० 235 F



इन सारों प्रथम तीनों के विषय प्रत्यक्ष-पृथक् होते हैं । अतः इनका स्वल्प भी विष्णु विष्णु प्रकारक होता है ।

सात प्रकार की प्रथमभूमियों में से प्रथम चार भूमियों को 'कार्य-विभूति' की श्रेणी दी गई है । बाएँ की तीन भूमियों को 'चित्त विभूति' कहा गया है । 'कार्यविभूति' के अर्न्तगत प्रथमों में से प्रथम प्रथमभूमि का वर्णन इस प्रकार है । चित्तने भी विषय है सब प्रधान-मय है । अर्थात् सभी की उत्पत्ति प्रधान से ही है । अतः सभी विषय त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणात्मक होने के कारण ये विषय परिणाम, तत्त्व और दुःख देने वाले हैं । अतः इनका परिश्रम कर दिया गया है । इस भूमि की प्राप्तता को विज्ञाने हुए मिलते हैं - इस भूमि में सभी तत्वों का प्रधानत्व प्राप्त हो सकता है अतः अथ और कुछ परिश्रम नहीं अवश्या । दूसरी प्रथमभूमि यह है जिसमें वेद के कारणों का क्षय हो जाता है । इस भूमि को प्रथम का प्रकृष्ट अन्वय है - अथ पुनः कुछ श्रेयस्त्व नहीं रहता । तृतीय प्रथमभूमि में सम्प्रज्ञातसमीप अज्ञान अभिमुख किया गया निरोध-समीप का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ भूमि में विवेकव्यतिरिक्त हानि का उपाय प्राप्त हो जाता है । इन चारों प्रकार की प्रथमों को 'कार्य-विभूति' कहा गया है क्योंकि इन चारों भूमिप्रकारों में गुणों से तथा गुणों के कार्य विषयों से आद्यन्तिक निर्भूति हो जाती है ।

बाएँ की तीन प्रथम-भूमियों का उल्लेख इस प्रकार से किया जा रहा है । इसमें प्रथम विभूति है चित्त का योग शीघ्र अपवर्ग रम्य कार्य को प्राप्त कर लेना दूसरी विभूति है - गुणों का अपने कारण प्रधान में लीन हो जाना । तीसरी विभूति है गुणों और चित्त से विभूत पुरुष का जीवन्मुक्त हो जाना और स्वस्वभावस्थिति को प्राप्त हो जाना । इस प्रकार ये उक्त सात-प्रकार की प्रथमों अभिप्रायविवेकव्यतिरिक्त योगी की है जिनकी प्रथम की भूमियों प्रकृष्ट अन्तर्गत जाती होती हैं ।

.....

। - " निर्विकल्पविवेकव्यतिरिक्त निष्प्रमाणात्मनस्य सप्तावकारिण्य प्रज्ञा विवेकिनो भवति । विषयवैवाच्यत्वात् । प्रकृष्टोऽस्तीति यासां भूमीनामिव स्थानानि तास्तयोक्ताः । यतः परं नहिस्त स प्रकर्षः । प्रकृतभूमयोः प्रज्ञाः प्रज्ञाया विवेकव्यतिरिक्तः ता तयोक्ताः ।"

राजमार्तण्डवृत्ति

विवेकशक्तिप्राप्त योगी की प्रकृष्ट सात्म्य तथा पशुष्ट भूमियों वाली होती है । यह प्रकृष्ट सभी सात्म्य-समाधिपर्यन्त सात-प्रकार की होती है । उनमें से कायिकमुक्तिस्था षष्ठा भूमि चार-प्रकार की होती है । पहली-भूमिका में देय का ज्ञान हो गया होता है अथ सात्म्य कुछ को नहीं प्रकृष्ट रहता । दूसरी-भूमिका में समस्त क्षेत्रों का देय हो जाने के उपरान्त अथ कोई क्षेत्र सात्म्य नहीं बचता । तीसरी-भूमिका में ज्ञान की प्राप्ति होती है और चौथी-भूमिका में विवेकशक्ति प्राप्त हो जाती है । इसी अवस्था में कार्य विषयक निर्मल-ज्ञान प्राप्त होता है । चित्तविमुक्ति तीन-प्रकार की होती है । प्रथमतः बुद्धि और गुण का कर्धारण समाप्त हो जाता है और यह अन्ध प्रचान में लीन हो जाते हैं । जिससे पुनः इनकी स्थिति नहीं रह जाती है । प्रधान में लीन हो जाने से इनका प्रात्यक्षिक-तय हो जाता है । अत्यन्त-भाव को प्राप्त गुण पुनः उदित नहीं होते । यह चित्तविमुक्ति का दूसरा-प्रकार है । तीसरे-प्रकार में पुरुष स्वस्वप्रतिष्ठान हो जाता है । इस प्रकार की सात-प्रकृष्ट-भूमियों वाला योगी पुरुष 'कृत्त' कहा जाता है ।<sup>2</sup>

विवरण

सत्यदर्शन से उत्पन्न ज्ञान सात-प्रकार की भूमियों वाला होता है । इन सातों प्रकारों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है । सभी प्रकार के दुःख देय हैं उन सभी दुःख रूप देय का ज्ञान हो चुका है अब और सात्म्य कुछ नहीं बचा । देय के हेतु कोश कर्मादि हैं । सत्यदर्शन स्थी शक्ति द्वारा इन सब को दण्ड-भोज-मायता प्राप्त हो जाने पर अब और सात्म्य नहीं बच जाता । निरोध-समाधि ही ज्ञान के शैथिल्य निरोध-समाधि द्वारा ही संस्य की प्राप्ति होती है । चतुर्थे भूमि में इसी समाधि की प्राप्ति होती है जो कैवल्य को देने वाली है । चित्त-विमुक्ति को प्रथम-भूमिका में विवेकशक्तिप्राप्त चित्त के गुणों का चित्त के साथ ही प्रात्यक्षिक तय हो जाता है । चित्त विमुक्ति की द्वितीय-भूमि में पुरुष के प्रति बुद्धि का भोग सञ्चालन

1 - " तद्योत्पन्नाविवेकज्ञानस्य सात्म्यविवेकस्था षष्ठा भूमिभूमौ सकल-सात्म्यम-समाधि भूमिपर्यन्ते सात-प्रकारा भवति । "

2 - " तत्रैवमौदर्याय सत्यविवेकज्ञानस्य भूमिप्रकाशाभ्युपजातया पुरुषः महात्मा ब्रह्मचर्यते । "

रूप कार्य समाप्त हो जाता है । और अन्त में गुणों के संबन्ध से रचित होकर पुरुष 'व्यस्त्यात्रयेति' रूप केवली और शुद्ध रह जाता है । इस प्रकार को प्राप्त करने वाला पुरुष कुशल कहा जाता है ।

### योगवर्तिक

शिवस्वभाव-विवेकध्याति-रूपहानोपाय को प्रथम प्रकृतअन्त वाली होती है ।

इस प्रकार को प्राप्तभूमिकास्वीप्ती प्रथम कहा गया है । जो सात-प्रकार को है । यद्यपि ध्यान देने योग्य बात है कि यह सात-प्रकार को प्रथम एक ही प्रकार में, प्रकार में १ और यह प्रथम है 'शिवस्वभावविवेकध्यातिरूपप्रथम' ।

प्रथम के सात-प्रकारों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है । प्रथम का प्रथम प्रकार यह है - जिसमें मुमुक्षुओं के द्वारा समस्त देव परार्थों का साक्षात्कार हो गया होता है और अन्य कुछ भी देव नहीं अवशिष्ट रहता । दूसरा प्रकार है - जिसमें देव के कारण शिवस्वभाव, विवेकसाक्षात्कार का प्रकार शोध हो जाती है । तीसरा-प्रकार है जिसमें देव तथा देव के कारणों के स्तंभ हो गये पर शरीरयोग का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ-प्रकार वाली प्रथमभूमि में विवेकध्यातिरूपी हानोपाय निश्चय हो जाता है । ये चारों प्रकार सत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी हैं । शैतिक इनसे कार्य को समाप्त हो जाती है । कर्तव्य की समाप्ति हो गये के उपरान्त ही जीवनशक्ति की स्थिति का तान होता है । अतः जीवनशक्ति की दृष्टि से इन प्रथमचारों का महत्व-पूर्ण स्थान है ।

अन्त की तीन प्रथमप्रकारों से चित्तविविमुक्ति होती है । चित्तविविमुक्ति को परम मुक्ति कहा गया है । यह चित्तविविमुक्ति स्वयमेव होती है इसके लिए किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं होती । इसमें प्रथम प्रकारकी चित्तविविमुक्ति शोध और अपवर्ग को समाप्त कर चुकती है । इस भूमिका को चित्त के मर्द होने की प्रारम्भिक भूमिका कहा गया है । अन्त के सुख सुख के कारण विरगुण है । दूसरी भूमिका में ये गुण

1 - " तस्य विवेकध्यातंस्तु हानोपायश्च-प्राप्त-भूमिकास्वीप्ती प्रथम सप्तवैतर्थाः । "

- योगशास्त्र 234 f

2 - " एकस्मात् एव प्रजायते सप्तप्रकाराणां च । " - यही ५0 234 f

बुद्धि या चित्त के साथ प्रधान में लीन हो जाते हैं । इसके पश्चात् पुनः उनका उद्भव नहीं होता । वे अपने पुनर्भाव को सम्पन्न कर ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । अतः अथ केवल पुनरागम अवशिष्ट बच रहता है । तर्कों के संबन्ध से इन्द्रिय पुन्य स्वस्व मात्र स्थिति में स्थित हो जाता है । पुन्य की यह स्थिति सभी प्रकार की मनोनातकों से डीन केवली मात्र की होती है अर्थात् पुन्य केवल को प्राप्त कर लेता है । यही अन्तिम तथा चरम भूमिका है ।

### योगवीथिका, पार्तजतयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में प्रस्तुत विषय का वर्णन योगवार्तिक की ही शीत किया गया है । किन्हीं शिवाय बातों का उल्लेख न होने के कारण इन व्याख्याओं का विवेचन नहीं उपयुक्त किया जा रहा है ।

### मिथ्यता

मिथ्यता में अथ सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन बहुत उपयुक्त, शब्द तथा व्युत्पत्तिनिमित्तक है । सर्व प्रथम इस व्याख्या में 'प्राप्त' शब्द की व्याख्या की गई है । यथा क्वृष्ट अक्षरान् एव पत्त वाती जे हे वही 'प्राप्त' अक्षर 'चरम्' है । 'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' विद्या गया है । 'तद्विपत्तव - विवेकव्यति' का अर्थ 'स्वरात्मकव्यति' किया गया है । इस प्रकार पूरी व्याख्या यह हुई - स्वरात्मकव्यति होने पर योगी की प्रका सात-प्रकार की प्रकृत्यन्तर्गत चरम भूमियों वाली होती है ।

प्रथम-भूमि में समस्तजातिय वस्तुओं का सत्ता हो चुका होता अतः अथ अथ कुछ भी जातिय नहीं बचता । द्वितीय-भूमि में अक्षर के सभी कारणों का सत्ता हो जाने पर कुछ भी जातिय नहीं अवशिष्ट रहता । तृतीय-भूमि में केवल प्राप्ति के पश्चात्

- 1 - " प्रकृत्यन्तर्गतव्यति फलत्वेन प्राप्तौ साः प्राप्तव्यतिमा इति यावत् । "
- 2 - " प्रकृत्यन्तर्गतव्यति पश्चात् सा प्रका 'प्राप्तभूमिः' । " - यही पृ० 38, 39 ।
- 3 - " स्वरात्मकव्यतिव्यतिर्भूयः । " - यही पृ० 39 ।

कुछ की प्राप्त्य न हो सकती । चतुर्थ में विवेकव्यति प्राप्त हो जाने के उपरान्त कुछ भी और कर्तव्य न हो शेष बचता । इन चारों भूमियों को फार्मिमुक्त की संज्ञा प्रदान की गई है । अब चित्त विमुक्त का वर्णन किया जा रहा है । मुक्तिपक्ष का कृतार्थ हो जना अर्थात् अपना कर्ण समाप्त कर लेना उच्यते चित्त विमुक्त है । गुणों का आत्यन्तिक तय जिससे वे पुनः उचित न हों उन्हें द्वितीय-चित्त विमुक्त है । चित्त का गुणातीत होकर स्वस्वयम्भ्र अतीकृत हो जाना ही तृतीय-चित्त विमुक्त है । ये सात-प्रकार की अवस्थाएँ हैं । इनका स्पष्ट प्रकार से नानुसंधान इस प्रकार से किया गया है । जिज्ञासा, जिह्वासा, वेत्सा, चिकीर्षा, शोक त्रयविकल्पानन्तर एतौ साप्त प्रकार की प्रकाश भूमियों मानी जनी जाती हैं ।

### योगसूत्र-शेषिणी

स्वयं विवेकव्यतिप्राप्ति जीवमुक्त के सात का शेष सात-प्रकार की प्राप्तिभूमियों बताता है । शेष वर्णन शब्दशः मणिवशा के समान है ।

### योगसूत्र-शेषिणी

इस व्याख्या में सात प्राप्तिभूमियों वाली प्रकाश विवेकव्यति का स्वस्व कला गया है । शेष वर्णन इस व्याख्या का ही मणिवशा के समान है ।

### वास्तवी

शेषिणीविवेकव्यति प्राप्त योगी को प्रकाश सात-प्रकार की प्रकृष्ट ज्ञान वाली होती है । शेष के अभाव में जब प्रकाश समाप्त हो जाती है तब उस प्रकाश को प्राप्तिभूमि प्रकाश कहा जाता है जो सात-प्रकार की होती है । यथा - शेष का सख्यु शेष हो नों पर तत् विषय प्रकाश निवृत्त हो जाती है अर्थात् शेष के विषय में जब प्रकाश हो जाता है कि यह विषय वाच्य है, शेष है तब उस विषय से संबंधित प्रकाश की

1 - " जिज्ञासाजिह्वासावेत्साचिकीर्षाशोकत्रयविकल्पानन्तरः सप्त प्रकाशभूमयः प्राप्तिभूमिभ्यः इत्यर्थः । "

— मणिवशा पृ० 39 F

2 - " प्रकृत्यावाच्य, वाच्यका परिसमाप्ति मानी तथा सा प्राप्तिभूमिभ्यो भुव्यते ।

— वास्तवी पृ० 258 F

गन्ध हो जाती है । यह तत्त्व पचन-श्रमिका का है । जब दूरी-श्रमिका का वर्णन किया जा रहा है — लेख्य विषयक षष्ठी की निवृत्ति होने पर जो लज प्राप्त हो वह लज ही दूरी-श्रमिका की प्रथा हुई । द्वितीय-श्रमिका में निरोध समीप ध्वारा प्रथा को सम रित्त हो जाती है । चौथी-श्रमिका में यह श्रवण उचित हो जाती है कि ज्ञानोपाय यह विवेकध्याति निम्नाहित हो चुकी है । इस प्रकार ये चारों प्रथम निम्नाद्य विमुक्ति हुई ।

चित्तविमुक्ति में चित्त से लज तथा लजकारकों की निवृत्ति हो जाती है । कायविमुक्ति के सिद्ध हो जाने पर चित्त विमुक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । बुद्धि में कर्तारत्व की शक्ति होती है जब बुद्धि की यह शक्ति निष्पन्न हो चुकी है तब कर्तारत्वकारकों की मयवृत्ति हो जाती है । यह चित्त विमुक्ति की प्रथम श्रमिका है । चित्त विमुक्ति की द्वितीय श्रमिका में गुण चित्त के साथ मन्त हो जाते हैं और पुनः बुद्धि में उचित नहीं होते । इस विमुक्ति की तृतीय-श्रमिका में गुणों से दमेता के लिए मुक्त हुआ पुनः बुद्धि से पुनःकार प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है । गुणों के संकल्प से मुक्त पुरुष को विवेक मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

### स्वामिनारायणवाच्य

विवेकध्यातिप्राप्त जीवनमुक्ति की मन्त सात-प्रकार की प्राप्तिश्रमियों वाली होती है । मन्त का अर्थ 'सधिद्' किया गया है । यह सधित् या लज प्रकृष्ट जन्त युक्त श्रमियों वाला है । 'प्रकृष्ट' इतिहास कहा गया है क्योंकि इन श्रमियों से वेष्ट मन्त कोर्ष श्रमियों नहीं हैं । सभी सातम्बन समीपियों की श्रमियों में यह सन्त-प्रकार की प्रथा होती है । इन सात-प्रकार की प्राप्तिश्रमिकप्रथ में से चार-प्रकार की प्राप्ति श्रमियों कायविमुक्ति तथा हैं और अन्य की तीन श्रमियों चित्तविमुक्ति तथा हैं ।

1 - " तत्राद्यायाः स्वस्मिं बुद्धिसाक्षरिततीफकारा = यदीया बुद्धिसाम्बन्धनार्थव्यु-  
पलभियः । "

— भास्वती पृ० ३ ३१ ।

३ - " विवेकध्यातिमतेः योगिनः सप्यप्रकारा पद्य - सधिद् पर्वति, सध द  
'प्राप्त' श्रमियः - प्रकृष्टोन्तो यानि श्रमिनाम्बन्धनानि तास्योक्तानि, यतः परं नश्चित  
सः प्रकृष्टः । "

— स्वामिनारायण पृ० २२४ ।

कार्यविमुक्तिस्वा प्रथम-भूमि में प्रकृति, जगत्मा तथा सभी वस्तुओं का यथाधि ज्ञान हो जाता है । जिसने भी विषय है सभी गुणविरोध के कारण परिवर्तन हुआ, तथा हुआ और संस्कारदुःखों से मुक्त होते हैं । ऐसा ज्ञान हो जाने पर उन्हें देय मानकर उन सब का परिवर्तन कर देना ही प्रथमभूमि की प्रज्ञा है । जब विवेकव्याप्ति द्वारा देय के कारण बोधार्थ का क्षय हो जाता है तब पुनः कुछ काल अवशिष्ट नहीं रह जाता है । यह द्वितीय-भूमिका वाली प्रकृष्ट प्रज्ञा है । अधिष्ठापि क्षेत्रों के क्षीण हो जाने पर निरोध समीप द्वारा ज्ञान अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति सुगम हो जाती है । कैवल्य प्राप्त कर लेने के उपरान्त अन्य कोई ज्ञान का विषय नहीं रह जाता है यह तृतीय-भूमिका की प्रज्ञा है । चौथी-भूमिका में विवेकव्याप्ति के निष्पन्न हो जाने पर कुछ अन्य निष्कारण नहीं अवशिष्ट रहता क्योंकि विवेकव्याप्ति से चित्त के सम्बन्ध क्षेप बन्ध हो जाते हैं और कुछ भी देय, काल्प्य रूप का नहीं अवशिष्ट रहता । केवल विवेकव्याप्ति होती रहती है जिसके द्वारा ही ज्ञान में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है ।

अब चित्त विमुक्ति का वर्णन किया जा रहा है । चित्त विमुक्ति नामक भूमिमें तीन प्रकार की वस्तुएँ हैं । बुद्धि से योग और अपवर्ग के समाप्त हो जाने पर फलार्थस्वयं इच्छित भी समाप्त हो जाती है । इस प्रकार चित्त के मध्य होने की यह प्रथम-भूमिका है । द्वितीय भूमिका में चित्त तथा विगुण दोनों ही अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार अपने कारण में लीन बुद्धि का पुनः प्ररोह या उदय सम्भव नहीं होता । बुद्धि और गुणों की समाप्ति के बाद पुरुष को अपने सत् चित्त अन्वय रूप का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान विवेक कैवल्य के चरम भूमिका मानी गई है । इन्हीं तीनों भूमिकाओं की प्राप्ति करने से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है । उक्त इन सत्-प्रकारों वाली प्रज्ञा से मुक्त पुरुष केवलता तथा मुक्त क ह्य जाता है । 'कैवल्य' का अधिकारा अपने स्वयं मन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

। - " तदेवं सप्तविधयत्नात् सप्तप्रकारं च ज्ञानं व्यतिष्ठता, तद्गुणवर्जजान् पुरुषम् केवलतो मुक्त इत्युच्यते, केवलत्वं चाद्रुष्य स्वार्थस्वयं माहप्रतिष्ठितत्वादीनि बोध्याम् । "

### व्यसिनाथ

विवेकव्यति मोक्ष का उपाय है । विवेकव्यति की निवृत्ति के लिए अर्थात् योगरस साधन का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है । बिना इन साधनों का अभ्यास किए विवेकव्यति निवृत्ति जो नहीं प्राप्त करती । योगियों के अनुष्ठान से पाँच पर्वों वाली श्रुतिशास्त्री श्रुतिशास्त्री का मत ही जाता है । श्रुतिशास्त्री के मत ही जल में चित्त को संशुद्धि प्राप्त होता है । संशुद्धि का अर्थ है वास्तविक ज्ञान । इस प्रकार इन अर्थों के द्वारा श्रुतिशास्त्री श्रुतिशास्त्री का अर्थ ही जाता है और चित्त में इन का भरपूर प्रकाश होता है । योगियों का उपयोग दो इच्छाओं से सम्बन्धित है । (1) श्रुतिशास्त्री का अर्थ ही (2) विवेकव्यति प्राप्त करने में । यम, नियम अन्न वस्त्रादि प्रत्यङ्ग, चारणा, ध्यान, और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं ।

### तत्त्वज्ञान

योग के आठ अङ्गों को ही योगीय कहते हैं । इन योगियों का मुख्य प्रयोजन विपर्ययज्ञान, ज्ञान, प्रत्यु, योग द्वाारा श्रुतिशास्त्री को मूढ करना है । योगियों के अनुष्ठान से ही विवेकव्यति की ही प्राप्ति होती है । योगियों के अनुष्ठान से ज्ञान की श्रुतिशास्त्री का अर्थ ही जाता है जिस प्रकार श्रुतिशास्त्री से कटि जल पर बुझ अपने मूल से अलग हो जाता है । योगियों के आठ अङ्गों का अर्थ ही तत्त्वज्ञान-विचार में ही अपनी व्याख्या में किया है ।

1 - " योगशास्त्रानुष्ठानश्रुतिशास्त्रीयोगशास्त्रम् ।" - अथ १३ भाष्य पृ० २३६ प

2 - " योगशास्त्रीयं हि यथायोगं श्रुतिशास्त्रीयं श्रुतिशास्त्रीयं श्रुतिशास्त्रीयं ।" - तत्त्वज्ञान २३७ प

3 - " तथा योगशास्त्रानुष्ठानं विवेकव्यतिः प्रतीत्यकारणं मन्थनम् ।" - तत्त्वज्ञान २३७ प



राजम निर्देशिका

योगीश्वर-आठ-प्रकार के हैं । इनका अनुष्ठान या अभ्यास करने से चित्त की अशुद्धियों का नाश हो जाता है तथा विवेकव्यति पदचिन्त में ध्यान का प्रकटा होता है । यह ज्ञान का प्रकटा हो विवेकव्यति का कारण है । यज्ञ, नियम भासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समीप ये योग के आठ अंग हैं ।

विवरण

विवेकव्यति को दृष्टि का साधन योगीश्वर<sup>१</sup> ने जिनके अनुष्ठान से विवेकव्यति श्रेणी ज्ञान का प्रकटा होता है । योगियों के द्वारा के-द्वारा सेना का शय हो जाता है और प्रकृत ज्ञान का प्रकटा होता है । योगियों के द्वारा मन स्थिर पद को प्राप्त करता है और चित्त में ज्ञान के आलोक का प्रकटा होता है । वैसावि विकारों को बन्धन-भावना प्राप्त होती है । इस प्रकार योग धारणा के लिए योगियों का प्रकृतपूर्ण कथ है । धारणा के रूप से योगियों के आठ-प्रकारों का उत्कृष्ट क्रिया गया है ।

योगवर्तिक

विद्वान्किशु ने योगियों को विवेकव्यति का उपाय माना है । साधना की दृष्टि से जन्मे साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है : (1) उत्तम शोधकारी (2) मध्यमशोधकारी (3) मन्द-शोधकारी । उत्तम-शोधकारी अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग-निर्वृत्ति करता है । मध्यमशोधकारी क्रियायोग में यत्न कर तपस्या के द्वारा योग सिद्ध<sup>अप</sup> करता है । मन्दशोधकारी धर्मादि योग के आठ अंगों द्वारा योगनिर्वृत्ति<sup>अप</sup> करता है ।

योगियों का प्रयोजन अशुद्ध का नाश करना तथा विवेकव्यति को प्राप्त

१ - " योगीश्वरानि ब्रह्ममाप्नोति तेषामनुष्ठानेन पूर्णकामेषु प्राप्तौ विवेकव्यतिरशुद्धि-  
नाशे चित्तसुखस्य प्रकृत्यावृत्तलक्षणकारणस्य निवृत्त्यै वा भगवन्निस्तारनक्षेण मात्तिकः  
परिचयान् विवेकव्यति पदमन्तः स तस्याः ध्याते-हेतुरित्यपः । "

२ - " योगीश्वरानुष्ठानसु क्वचित् विवेकव्यतिनिर्वृत्तिरिति । " - विवरण पृ. 206

करना है । अर्थात् और बेराध्य का अनुष्ठान दोनों अतिशयियों को करना पड़ता है ।

### योगयोगका, पातञ्जलयोगसूत्रद्वारा

इन दोनों व्यवस्थाओं में भी अष्टांग-योग का वर्णन बालिक को ही मिलता दिखा गया है ।

### मीमांसा

योगियों का अनुष्ठान करने से कैसा कर्म स्थ अशुद्धियों का विनाश हो जाता है और विशुद्ध ज्ञान उचित होता है । अशुद्धियों का ह्य और विशुद्ध ज्ञान का उदय कर्म से होता है । 'विशुद्ध-ज्ञान' शब्द 'विवेकव्यति' के लिए प्रयुक्त हुआ है । विवेकव्यति में तेषा मत्र श्री अशुद्धियाम् नरो रडती है । अतः इस ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान कहा गया है । योग के इन अंगों के लिए 'साधुयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है । साधुयोग के अनुष्ठान से प्रकृत ज्ञान प्राप्त होता है । साधु-योग के साठ अंगों का उल्लेख मीमांसक में भी किया गया है ।

### योगसूत्रार्थविधनी

योगियों का अनुष्ठान करने से बेसाधिव स्थ अशुद्धियों का नाश हो जाता है और ज्ञान की विशुद्ध योति का प्रकाश होता है जिनसे अविषय विवेकव्यति होती है । इस प्रकार अष्टांगयोग का अनुष्ठान ज्ञान का साधन कहा गया है । अष्टांग-योग के लिए 'साधुयोग' शब्द का प्रयोग इस व्यवस्था में भी किया गया है ।

1 - " पूर्वपादे ह्युक्तमतिशयिणाम् अथासवेराधे एव योगीनां साधनमुक्तं, तत्तत्र मध्यममतिशयिणाम् तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यापि केवलतानि साधनाथेतत्सावकाशशुक्रातिभिः, अतः परं मध्यममतिशयिणाम् यमसिन्ध्यापि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसङ्गेत्ययम-रक्तम् । "

— योगशास्त्रे २३१ ।

2 - " साधुयोग अनुष्ठानाद्विशुद्ध्याया प्रवृत्तव्यतीति । "

— मीमांसक-मीमांसा-  
— मीमांसका ४० ।

3 - " योगसूत्रं नान्यथा चानुष्ठानात्शुद्धेः शेषातिवत्साधनाः अये जायमाने ज्ञानस्य योगीश्वरविद्युः अविषय विवेकव्यतिर्भवति । "

— योगशास्त्रे २६, २७ ।

योगिय द्वाभ्यन्तरीयिका

योग के शरीरों शरीरों का धार-धार प्रयास करने से चित्त को अशुद्धियों तथा चित्त की दधनता का हल हो जाता है । चित्त की शुद्धियों का हल हो जाने पर ही ज्ञान का प्रकृत स्वरूप विवेकव्याप्त जीवन होती है । अर्थात् का अज्ञान का नाश तब ही प्रकृत करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहता है । तब ही की बुद्धता के लिए अर्थात् का अनुष्ठान परमावश्यक है ।

भास्यतो

योगियों से अशुद्धियों का प्रकृत नाश हो जाता है और उन्को क्रम से ज्ञान के प्रकृत का शक्ति प्राप्त होता है । ये योगियों का प्रकृत के बंधने गए हैं । इन शरीरों योगियों से चित्तशुद्धियों का निरोध होता है और चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है । इन शरीरों में प्रथम पक्ष तो समाधि के शक्तिमय माने गए हैं और बाद के तीन शरीरों को सम्बन्धितगति का प्रकृत माना गया है ।

-----

1 - " योगस्य तदवद्वर्तनम् च अनुष्ठानात् योगः पुन्यस्वाद् अथावाद् अशुद्धिष्वप्ये चित्तशुद्धिष्वेतेषुस्वर्गादि तद्यथा वापद्यते सति नान्योचित्तरतिविकल्पानाम् । "

-- योगसि०च० पृ० 68 f

2 - " योगिजनानां - - - - - अनुष्ठानाद् बुद्ध्यासादाज्ञानकीर्तितः । "

-- शरीर पृ० 68 f

3 - " यमस्किन्ना सर्वेषां चित्तशुद्धिकरत्वोच्चित्तानि रेश्वरस्य योगस्य तन्पिद्गानि तत्राप्यस्वस्वार्हद्वा शरीरगस्यो भव इति । यथा -- पंचाङ्गस्य प्राणव्याप्त्यमूर्तौ ' प्राण' संश्लेषा शक्तिर्वा तथा योगाद्यस्य समाधेरपिपरमार्थं समाधिं ह्यप्येव संश्लेषतीति । "

-- भास्यतो पृ० 247 f

योगीन्द्र-भाष्य

योगीन्द्र का ज्ञानपूर्वक, आदरसहित और निरन्तर अभ्यास करने से ज्ञान प्राप्त, और योग का उत्पन्न करने वाले व्यक्तिविशेषों का क्या हो जाता है । जैसे-जैसे साधनों का अनुष्ठान किया जाता है जैसे ही जैसे श्रुतिस्मृतिसौम्य होती मतलबों और ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है । यह ज्ञान की दीप्ति विशेष-व्यक्तिपर्यन्त बढ़ती जाती है । योग के आठों अंगों का कार्य योगीन्द्र का नष्ट करता है और विशेषज्ञान को प्राप्त करता है ।

। - "यथा यथा साधनान्वनुष्ठीयन्ते तथा तथाऽश्रुतिस्मृतिसौम्योति,  
यथा यथा सा श्रुतिः शोधते तथा तथा ज्ञानस्य दीप्तिः; अतिविकल्पानि;  
सत्त्वगुणान् व्यक्तव्यवृत्तपर्यन्तं विवर्धते, तथा च योगीन्द्रानुष्ठानम् शोधयत्यस्य  
कारणम्, तत्त्वज्ञानव्यवृत्तस्य कारणम् । "

शरीर  
उपयोग

उक्त ऋषि योगियों में से कम नियमों के स्वस्थ और उनकी उपयोगिता के संयन्त्र में सभी व्याख्याकार एक मत और साथ के शब्दों का यथावत् उपयोग करते हैं । "आसन" के संयन्त्र में विविध व्याख्याओं के मतभेद उभारिष्ठ । किन्तु जा रहे हैं ।

### शरीर

शरीर को वह स्थिति जो स्थाई सुख देने वाली हो उसे 'आसन' कहते हैं । आसन काल में शरीर के अंगों में कोई व्यापार नहीं होता और न ही शरीर में कोई कम्पन होता है । आसन का के द्वारा साधक प्राकृतिक शक्ति, उन्नावि के प्रोत्थित नहीं होता है । स्थायि स्थिति में योगसिद्ध करने में सफल होता है । स्थिर सुख देने वाला आसन 'स्थिर-सुख-आसन' है । स्थिर सुख का अर्थ यथासुख है । अर्थात् जिसमें सुख का अतिक्रमण न होनि पाये वह अतिक्रमण सुख ही स्थिर सुख है । यहाँ स्थिर सुख में कर्मधारय-समस है ।

### सन्धेशारदी

"स्थिर निश्चितं यत्सुखं सुखावहं तद आसनमिति सूत्रार्थः ।" निश्चल सुख देने वाली प्रकार का आसन स्थिर-सुख-आसन है । "यथासुखं" शब्द का अर्थ नहीं किया गया है । यहाँ बहुव्रीहि समस के अर्थ में स्थिर सुख का प्रयोग हुआ है यथा = स्थिर सुख देने तत् ।

1 - "स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमासीति ।" - अंगसंज्ञा १० २६ । १

2 - "स्थिर निश्चितं यत्सुखं सुखावहं तद आसनमिति सूत्रार्थः । यथासुखं आसीत् ब्रह्मेत्यात्मनम् ।" - त०वे०पृ० २६ । १

### राजमार्गवृत्ति

जिस प्रकार से बैठने के लिये शरीर को 'शसन' है । अर्थात् 'शसन' बैठने के प्रकार को कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में स्थिर-सुख की प्राप्ति होती है उस बैठने के प्रकार को 'स्थिरसुखशसन' कहा गया है । 'स्थिर' शब्द का अर्थ इस व्याख्या में 'निश्चय' किया गया है ।

### विवरण ।

जिस प्रकार के शसन में मन तथा शरीर को जग स्थिर रहने में अर्थात् मन और शरीर दोनों में एकता आती हो तथा जो सुखदायक हो, जिसके करने में शरीर को कुछ नहीं होता हो उसी शसन का अध्यास करना चाहिए । इस प्रकार के बैठने को विधि को ही 'शसन' कहा गया है ।

### योगवर्तिनः

बैठने के प्रकार को 'शसन' कहा गया है । जिस शसन में निश्चय सुख प्राप्त हो उसे स्थिरसुख शसन कहा गया है । स्थिरसुख शसन का विशेषण है । अतः यहाँ 'कर्मधारय समास' है । स्थिरसुख को व्याख्या यथासुख की गई है ।

- .....
- 1 - " शस्यतेऽनेनेत्यसनम् । " — १७०भा०पृ० २५५ १
  - 2 - " तद्यथास्थिरं निश्चयं सुखमनुभवेजनीयं च शक्यं तथा योगार्थतां क्वचित् । " — यही पृ० २५५ १
  - 3 - " स्थिरं सुखं प्रथमम् । यस्मिन्नासने स्थिरस्य मनोवाग्वाक्प्रजापते स्थिरत्वम्, सुखं च येन न क्वचित् तदशक्यम् । " — विवरण पृ० २५५ १
  - 4 - " स्थिरं सुखं च सूत्रोपासम्, तस्य व्याख्यानं यथासुखीकृतम् । " — पौ०व०पृ० २६२ १

योगबोधिका

बैठने के प्रकार को 'असन' कहा गया है ।<sup>1</sup>

पारतजलयोगसूत्रकुलि

जो असन स्थिर तथा सुखदेने वाला हो वही 'अपम' सेवनीय है ।<sup>2</sup>

मणिपत्र

बैठने के प्रकार को 'असन' कहा गया है । जो असन निश्चल तथा सुख देने वाला ही सही योग का अंग तब असन है ।<sup>3</sup>

योगसिद्ध्यात्मकश्रुति, योगसूत्रार्थबोधिनी

बैठने के प्रकार को 'असन' कहा गया है । अतः जो असन स्थिर हो, निश्चल हो और सुखकर हो उसे ही असन कहा गया है ।<sup>4</sup>

- .....
- 1 - " आश्रयेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । " - योगबो ० पृ० ५५ १
  - 2 - " पदेन स्थिरं सुखकरं च तदेवात्मं कर्तव्यमित्यर्थः । " - पार० योग० सू० कुलि पृ० ५५
  - 3 - " निश्चलं सुखालोकं च यदात्मनं तद्योगी गमिष्यत्यर्थः । आश्रये नेनेत्यात्मनम् । " - मणिपत्र पृ० ४६ १
  - 4 - " स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदात्मनम् । आश्रये आसने चाऽनेन प्रकारेणेत्यात्ममित्यर्थः । " - योगसि ० पृ० ४२ १

— योगसि ० पृ० ४२ १

भाष्यती

स्वियर सुख देने वाला 'भासन' ही योगीग में वर्णित 'भासन'  
हे ।

स्वामिनार वचनभाष्य

बेठने की विधि को 'भासन' कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में  
शरीर की सुस्तिगों स्थिर रहनीके तथा जिस तरह बैठने में स्थिर-सुख प्राप्त होता  
है उसे ही 'भासन' कहा गया है ।

1 - " स्थिरं सुखं सुखानन्दं यथासुखमित्यर्थः भवति तथा योगीगमासनं  
भवति । "

-- भाष्यती पृ० 266, 267 ।

2 - " भाष्यते - अनेके व्यासने, गद्यपद्यु 'स्थिरसुखीगित' सुखीगितेति - सुखं तादृशं  
- - - सत् स्थिरं यत्, तथा च 'सुखप्रवत्ये सति शरीरसुस्तिस्त्रिरत्नम् - भासनत्वमीति । "

-- स्वामिनार पृ० 241 ।



व्यक्तमाद्य

अतन्नीर्गद्य इति के पश्चात् स्वयं तथा प्रयास की गति का प्रथम प्राणायाम है । प्राणायाम के चार प्रकार हैं (1) बाह्य (2) आन्तर और तीसरा स्तम्भ क्षीतिप्राणायाम है । ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या द्वारा परीक्षित किए जाते हैं । तीनों प्रकार के प्राणायामों का परीक्षण देश के अनुसार करने पर यह प्राप्त होता है कि ये प्राणायाम अधिक देश तक हैं या कम देश तक हैं । इसी प्रकार काल द्वारा परीक्षण करने पर प्रत्येक प्राणायाम कितने क्षण तक रहे इतना ज्ञात होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करने पर मात्रा के अनुसार तबल और प्रयास के उच्छ्वासों की तीन केंचियाँ ही गई हैं । कम मात्रा तक के उच्छ्वास को मृदु-उच्छ्वास, उसके अधिक मात्रा तक जाते उच्छ्वास को मध्यम-उच्छ्वास और सबसे अधिक उच्छ्वास को तीव्र-उच्छ्वास कहा गया है । इन तीनों रीतियों से परीक्षित प्राणायाम का ज्ञेयत्व करने पर यह हीर्ष अर्थात् अधिक समय तक रहने वाला तथा सूक्ष्म अर्थात् बेह के अन्दर रहने वाला होता है ।

चतुर्थ-प्राणायाम का नामकार मे कोई नाम नहीं दिया है । इसके बारे में केवल यह कहा है कि बाह्य तथा आन्तर प्राणायाम का क्लृप्तकाल करने वाला चतुर्थ-प्राणायाम है । वेदक और पूरक की श्रुतियों के सिद्ध होने पर दोनों का पूर्ण निरोध इस चतुर्थ-प्राणायाम में होता है । चतुर्थप्राणायाम में और तृतीय स्तम्भ-प्राणायाम में वेद यह है कि स्तम्भ-प्राणायाम बाह्य तथा आन्तर प्राणायामों की देश काल और संख्या-द्वारा बिना देखे ही एक बार के प्रयत्न से जो गति निरोध होता है वह स्तम्भ-प्राणायाम है । इसमें आलोचन प्रवृत्त रहता है । इसके विपरीत चतुर्थ-प्राणायाम में हवास, प्रयास के विषयों का आलोचन कर, तथा प्रकृत श्रुतियों का ज्ञेय प्राप्त करने के उपरान्त अश्लेषपूर्वक बाह्य, आन्तर प्राणों की गति का पूर्ण निरोध ही

चतुर्थ-प्राणायाम है । चतुर्थ-प्राणायाम में श्लोशन हो चुका रहता है ।

### तन्त्रवेत्तार की

सामान्यतः श्वास, प्रश्वास की गति विशिष्ट को 'प्राणायाम' कहते हैं । रेचक पूरक और कुम्भक प्राणायाम के भेद हैं । रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों प्राणायामों का परीक्षण वेदा काल और संख्या द्वारा होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करते समय उद्यात के वर्धन में कुछ मत भेद हैं ।

अमुकप्रक को इष्टि से तीन बार फुकर एक छुटकी चलाने पर जितना समय लगता है वह एक मात्रा है । उतने मात्रा काल में 36 बार श्वास प्रश्वास की एकराइट को प्रथम-उद्यात कहा है । इसके दुगुने अर्थात् 72 बार को द्वितीय-उद्यात कहा गया है । इसके तिसगुने अर्थात् एक तो श्राठ (108) बार को तृतीय-उद्यात कहा गया है । शोथि-प्राणायाम का महत्त्व वायुकार की ही गति इच्छेति की किया है । तृतीय से चतुर्थ का वैशिष्ट्यवताते हुए लिखते हैं -- तृतीय में वेदा कलावि द्वारा देखे विना एक बार के ही प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति को अवस्थ किया जाता है । चतुर्थ-प्राणायाम में श्लोशन पूर्वक अधिकप्रयत्न से रेचक पूरक का पूर्ण निरोध होता है ।

### राजमार्गश्रुति

श्लोशन के स्थिर होने पर ही प्राणश्याशु नामक योगीय का अनुष्ठान किया जाता है । वाह्य वायु श्ले ग्रहण किया जाता है उसे श्वास कहते हैं और अन्तर की वायु श्ले निकलना जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं । श्वास और प्रश्वास की गति को रोक लेना ही प्राणायाम है ।

प्राणशाम के चार भेद दिए गए हैं । (1) रेचक (2) पूरक (3) कुम्भक (4) केवलकुम्भक । वाह्यवायु को रोकना रेचक-प्राणायाम है । आन्तरवायु को रोकना पूरकप्राणायाम है । अन्तर की वायु को क्लृप्त किए रहना अर्थात् रोके रहना कुम्भक है । कुम्भक 'धृष्टे' का क हने के । जिस प्रकार धृष्टे में पानी भरकर उसमें ही रहने देते हैं, उसे निकलने नहीं देते हैं, उसी प्रकार अन्तर की वायु अर्थात् प्रश्वास को निकलने नहीं देना उसे रोके रहना कुम्भक प्राणायाम है ।

। - " वाह्यश्रुति । श्वासो रेचकः । अन्तरश्रुतिः प्रश्वासः । पूरकः । अन्तस्तन्म श्रुतिः कुम्भकः ।

ये तीनों प्राणायाम वेद, कला और संख्या के द्वारा देखे गये पर 'वीर्य' और 'सूक्ष्म' की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। मनुष्य के जसि प्राप्त का स्थान ही प्राणायाम का उत्पत्ति-स्थान मिया जाता है। वेद का अन्वय है। ३३ वेद, कला और संख्या द्वारा ४ मात्राओं के काल से प्राण निरोध की प्रक्रिया को काल द्वारा जालोचन करते हैं। अतः वार प्राणायाम किया गया यह संज्ञा से मान्य होता है। इस संज्ञा में योग्यतायुक्त उच्छ्वास का प्रयोग भी न किया है। उच्छ्वास का अर्थ है — नासिक के मूल से प्रेरित वायु का शिर से टकराना। जितनी वार वायु शिर से टकराती है उतने ही उच्छ्वास बनते हैं।

केवलकुम्भक प्राणायाम में 'रेचक' और 'पूरक' प्राणायाम का वैकल्पिक पूर्वक जालोचन करने के पर्याप्त सहता इन दोनों प्राणायामों का निरोध कर दिया जाता है।

उक्त चारों प्राणायामों से सत्त्विक चित्त के ऊपर प्रभुत्व होता स्त्री प्रावरण शेष हो जाती है और चित्त ध्येय विषय में स्थिर हो जाता है। बुद्धिकार भी न रेचक, पूरक, कुम्भक और केवल कुम्भक प्राणायाम में प्रत्येक नाम के साथ 'बुद्धि' शब्द को संयुक्त किया है। उच्छ्वास शब्द की व्याख्या इन्हीं की स्पष्ट किया है। वायु की तुलना में ये दो विरोधता प्रभुत्व बुद्धि में ही उपलब्ध है।

### विवरण

बाह्यवायु को नासिकशुटी से अन्तर छोड़ना स्वात है और क्लेश की वायु को बाहर निकालना प्रवसा है। प्राण वायु का इन दोनों गतियों का विच्छेद ही प्राणायाम है। प्राणायाम के तीन प्रकार हैं। (१) बाह्यबुद्धि (२) आन्तरबुद्धि और (३) सत्त्वबुद्धि। बाह्य-वायु का अन्तर लक्ष्य है और आन्तर-बुद्धि है। इसे ही सत्त्व व्याख्याकारों ने 'पूरक' प्राणायाम नाम भी दिया है।

१ - " उच्छ्वासा नाम नासिकशुटीरतस्य वायोः शिरसि शोषणनम् ।"  
— राजयोगसूत्रे पृ० २६ ।

२ - " बहिर्वायुं प्राणायते, सत्त्वकर्मणः त्वसाः । प्राणबुद्धि संज्ञयो हि जौष्टयो वायुः तस्य बहिर्वासाय प्रवसाः । तयोर्वायोरविच्छेदः । उच्छ्वासायः प्राणायामः ।"  
— विवरण पृ० २२७ ।

३ - " बाह्यस्य वायोरन्तः प्रवेशं प्रतिबुद्धिः यथा सु बाह्यबुद्धिः । सत्त्वत्वात् बाह्यः । बाह्यस्य पूरक इत्युच्यते ।"  
— यही पृ० २२७ ।

आधन्तर वायु को बाहर निकलना आधन्तरवृत्ति है । जिसे प्रथम व्यावहारिकों ने "रेचक" प्राणायाम नाम दिया है । वायुगहन और निःसारण दोनों प्रक्रियाओं को एक बार के प्रयत्न में ही रोक देना स्तम्भवृत्ति है ।

इन तीनों प्राणायामों का देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षण किए जाने पर इन प्राणायामों के देश, काल और संख्या विधायक इच्छा का ध्यान होता है । वायुवृत्ति अर्थात् अव्ययमान वायु का नासिकाग्र से लेकर पादाङ्गुष्ठ तक होना देशव्यापित है ।<sup>1</sup> स्तम्भवृत्ति का पादाङ्गुष्ठ से लेकर नासिकाग्र तक व्यापन रहना स्तम्भवायु की देशव्यापित है ।<sup>2</sup> स्तम्भवृत्ति में मस्तक से पादतल तक व्यापन होना स्तम्भवृत्ति की देशव्यापित है ।<sup>3</sup>

काल द्वारा परीक्षण किए जाने पर कितने काल तक प्राणायामों की स्थिति रही का ध्यान होता है । संख्या द्वारा परीक्षण किए जाने पर तीनों प्राणायामों के अतीकालीन स्थिति का पता चलता है । संख्याओं के द्वारा परीक्षण करने पर इतनी संख्या तक अवसिद्धता की क्रिया करने पर प्रथम-उच्छ्वास होता है जिसको ध्रुव-उच्छ्वास नाम की दिया गया है । इसी तरह द्वितीय-उच्छ्वास या मध्यम-उच्छ्वास और तृतीय या तीव्र-उच्छ्वासों के प्राणायामों को मन्वीस्थिति, मध्यमस्थिति और तीव्र स्थिति का पता चलता है ।

1 - "आधन्तरवायुवायोर्बीर्निःसारणं प्रति वृत्तिर्वयं स आधन्तरवृत्तिः । तत्र रेचक इत्यादिवाक्ये ।" -- विवरण पृ० 226 F

2 - "सकृत्प्रयत्नात् प्राणविप्लवतः संकेतमुपपान्तीत्यदि - - - एतयोर्ध्रुवगतं मध्यमाव इति ।" -- यही पृ० 226 F

3 - "बीर्हृत्तेरन्तराय ये मानस्य नासिकाग्रकुल्यापादाङ्गुष्ठं देशव्यापितः ।" -- यही पृ० 226 F

4 - "एवमस्तम्भतोर्बीर्निःसारणं मानस्य वायोः पादाङ्गुष्ठमकुल्यानासिकाग्रं देशव्यापितम्" -- यही पृ० 226 F

5 - "स्तम्भवृत्तेरामस्तकापादतलव्यापितः ।" अथ -- यही पृ० 226 F

कैवल्य और तर्क द्वारा परीक्षित किए जाने के उपरान्त वाच्य और आध्वन्य वाच्य का पूर्ण निरोध करने से सतुर्घ-प्रत्याघाम होता है । इसमें और स्तम्भ-वृत्ति में भेद है । स्तम्भ-वृत्ति में पहले स्वासप्रवाह की गति का सञ्चल प्रयत्न से मथल हो जाता है उसके बाद वेग काय सिद्धादि से उसका परीक्षण होता है । इससे विपरीत सतुर्घ प्रत्याघाम में कैवल्य, और तर्क द्वारा परीक्षित वाच्य, आध्वन्य वृत्ति यों का पूर्ण निरोध होता है ।

### योगवर्तिक

स्वास प्रवाह को स्वाभाविक गति का निरोध प्रत्याघाम है । यह प्रत्याघाम का सामान्य लक्षण है । वर्तिकार ने सभी प्रत्याघामों का नाम दिया है । यथा वाच्यवृत्ति को 'रेचक', आध्वन्य-वृत्ति को 'दूरक' तथा स्तम्भवृत्ति को 'कुम्भक' नाम दिया है । रेचक, दूरक और स्तम्भ प्रत्याघामों का वर्णन भाष्यकार से मिलता जुलता है । परन्तु कुम्भक के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में नहीं उपलब्ध है । कुम्भक के बारे में यह कहा गया है कि यह रेचक और दूरक का आंतरक्रमण कर स्वयमेव रहता है । इस प्रकार का प्रणयाम हो सतुर्घ-प्रत्याघाम है जिसे 'केवल कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम बहिष्कृतिविहारी से लिया गया है । केवलकुम्भक-प्रत्याघाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह रेचक और दूरक को मिला न लेता वेग से परिच्छिन्न है न फल से परिच्छिन्न है और न ही लक्ष्य से परिच्छिन्न है प्रकृत अपने ढंग से/मास, वर्ष, और सप्तवार तक रहता है । द्वितीय प्रणयाम जिसका नाम ब्रह्मि 'मिश्रकुम्भक' दिया है का सतुर्घ-प्रत्याघाम से वैदिकवाच्य वाच्य से मिलता जुलता किया गया है ।

उद्घातों का वर्णन भाष्यकार तथा भाष्यकारिताम्य से भिन्न रूप में किया गया है । 'उद्घात' का अर्थ वाच्य का ऊपर टकराना है । दूरक को ही प्रथम-उद्घात माना गया है । कुम्भक को द्वितीय-उद्घात माना गया है तथा रेचक को तृतीय-उद्घात माना गया है । मिश्रकुम्भक का माना अन्वय है 16 स्वास का प्रवेश 'दूरक-उद्घात' माना गया है और 64 बार स्वास के प्रवेश को कुम्भक माना गया है जिसको 'द्वितीय-उद्घात' नाम भी दिया गया है । 32 मात्रा में होने वाले रेचक को 'तृतीय-उद्घात' नाम दिया गया है ।

इन व्याख्याओं में धार्मिक की ही गीत विवेचन है ।

ध्यानयोग

आत्म के विवर होने पर बाह्य तथा अन्तर की वायु के गीत का निरोध ही प्राणायाम है । प्राणायाम के चार कैवों का उल्लेख यन्त्रिका में ही उपलब्ध है ।

बाह्यश्रुति -- इसका द्वारा गृहीत वायु का रेचन किया द्वारा आन्तर निष्कल कर पुनः बाहर ही उसे धारण किए रहना बाह्यश्रुति है । 'श्रुति' का अर्थ 'बरतने-बाना' है। अतः बाहर स्थित रहने वाली श्रुति बाह्यश्रुति है । पूरक किया द्वारा बाह्यवायु को धारण करके प्रवास' के विघ्नो को दूरित करना पूरक है । इसमें प्राणवायु अन्तर स्थित रहती है अतः इसे 'आध्यात्मश्रुति' कहते हैं । रेचन और पूरक प्रयत्नों के बिना केवल विधारक प्रयत्न से इसका, प्रवास की गीत का निरोध 'स्तम्भश्रुति' है । इसी को 'कुम्भक' भी कहा गया है । कुम्भक नाम इतिहास किया गया है कि जैसे घड़े में खरा जस निश्चल होकर पड़ा रहता है उसी प्रकार स्तम्भ-श्रुति में प्राणवायु सञ्चलप्रयत्न से ही निश्चल हो अन्तर पड़ी रहती है । 'रेचक' और 'पूरक' की गीत का अभाव बिना प्रयत्न के ही हो जाता है । अन्तर्मन्त्र सूत्र तथा में प्राणवायु अन्तर स्थित रहती है । वेदा, कला, और संख्या द्वारा तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूत्र तथा का अन्वेषण किया जाता है । वेदा, कला और संख्या की ३० तथा मन्त्रवेदाङ्गों की ही गीत किया गया है ।

चतुर्ध-प्राणायाम को भी इस व्याख्या में 'स्तम्भश्रुति' या 'कुम्भक' नाम दिया गया है । योगों के अन्त में भेद का निरूपण इस प्रकार से किया गया है । स्तम्भश्रुति में बिना प्रयत्न के ही रेचक और पूरक का एकसम्य निरोध हो जाता है और चतुर्ध-प्राणायाम में बहुत बार प्रयत्न करने के बाद प्राणवायु का निरोध होता है । 'स्तम्भश्रुति' में वेदा, कला और संख्या द्वारा अन्वेषण प्राणवायु के निरोध के पश्चात्

। - कोष्ठक वायो रेचनेन कीर्णतस्य बहिरेव धारणं बाह्यश्रुतिः । स च रेचकः बाह्यवायोः पूरनेनान्तरगतस्यान्तर्धारणमध्यात्मश्रुतिः । स च पूरकः । रेचन पूरक प्रयत्न बिना प्राणवायु केवल विधारक प्रयत्नेन गीतीविरोधः स्तम्भश्रुतिः । स च कुम्भकः ।

होता है और चतुर्थ प्राणायाम में पर्यालोचन पहले ही हो चुका रहता है ।  
 'उत्पत्ति' का उल्लेख मणिप्रभा में नहीं किया गया है ।

योगसूत्रार्थवेदीयनी, योगसिद्धान्तसम्बिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के ही सङ्ग्रह बर्णन किया गया है ।

भास्वती

इवासप्रवास की स्वाभाविक गति से चित्त स्थिर नहीं हो पाता है । योग के लिए चित्त की स्थिरता, स्थिरता अनिवार्य है । चित्त की स्थिरता के लिए 'प्राणायाम' का महत्वपूर्ण कार्य है । प्राणायाम से इवास प्रवास की गति का निरोध होने से चित्त में स्थिरता आती है । अतः प्राणायाम का भी चित्तवृत्ति निरोध का साधन कहा जाना सहीतर है । प्राणायाम के चार चरणों का उल्लेख मत्स्यनी में ही प्राप्त है ।

वायुवायु जिसे धारण किया जाता है उसे बाहर ही स्थिर रहने देने से चित्त की वायु धारण करने की किया का निरोध होता है । अतः वायुवृत्ति प्राणायाम में केवल वायुवायु की गति का ही निरोध नहीं होता प्रस्तुत निरोध की प्रशिया को करने वाली शक्ति की किया का निरोध होता है । इसी लिए भास्वतीकार ने यह कहा है कि न केवल रेचनमात्र ही प्राणायाम है प्रस्तुत रेचकान्त निरोध सांख्यवृत्ति प्राणायाम है ।<sup>3</sup> पूरक का अन्त तक निरोध ही पूरक प्राणायाम है ।<sup>4</sup> सांख्यन्तरवृत्ति वाले प्राणायाम का ही निरोध करने पर चित्त की वृत्ति का निरोध हो जाता है और इस प्राणायाम से चित्त स्थिर, निश्चल होकर योग को प्राप्त करता है । रेचक और पूरक की अपेक्षा न करने हुए सङ्कल प्रपन्न से इवास प्रवास की गति का सहसा अन्त्य ही सांख्यवृत्ति प्राणायाम है । यह रेचक, पूरक का सहकारो नहीं

1 - "रेचकपूरकयोरभ्यासेन जितवाह्यह्यन्तराविवर्धयति नैवैव सङ्कल्पप्रयत्नमज्ञेयं स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तन्विषययुक्तं स्तम्भवृत्ति-र्षं हृष्यन्नाहुरन्तरोय इति वैतक्यपीठिते मणिप्रभा पृ० 48 F

2 - "प्राणायामो योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधश्च स्वात्परिणितो वैतक्यम् ।"  
 --- भास्वती पृ० 269 F

3 - "यो जयोषीद्धरेण चारणं तथा वायुधारणयुगेन । उड चित्तस्थायि वन्द्यः स वायुवृत्तिः प्राणायामः, नञ्च रेचनमात्रः किन्तु रेचकान्त निरोधः ।"  
 --- भास्वती पृ० 269 F

4 - "पूर्ववत् पर्यालोचनान्, पूरकपूर्वकी गत्यभावः = वायुनिरोधार्थं चित्तस्थायि कथः

होता । सत्य कृति में श्वास, प्रश्वास की गति का सर्वथा अक्षय हो जाने से चित्त की अपने प्रिय विषय में स्थित हो जाता है ।

उक्त तीनों प्राणायामों की शीघ्रता तथा सूक्ष्मता का निर्णय वेद, कल और संहिता के द्वारा किया जाता है । सीमा द्वारा निर्णय करने में उच्छ्वासों का वर्धन भास्वती में भी उपलब्ध है । 12 जला तक को प्रथम या सूक्ष्म-उच्छ्वात, 24 मात्रा तक को द्वितीय अर्थात् मध्यम-उच्छ्वात और 36 मात्रा तक को तृतीय अथवा तीव्र-उच्छ्वात कहा गया है ।

वेद, कल और संहिता द्वारा बाह्यकृति प्राणायाम तथा आध्मन्तरकृति प्राणायाम का अलोचन करने के पश्चात् दोनों का क्रम से अभाव हो जाने पर चतुर्थ प्राणायाम होता है । सत्य कृति में सत्य अभाव होता है तथा कौण्डिक द्वारा अलोचन निरोध के बाद होता है । चतुर्थ में बाह्यध्मन्तर प्राणायाम का क्रम से अभाव होता है तथा निरोध के पूर्व उनको शीघ्रता तथा सूक्ष्मता का निर्णय वेद, कल और संहिता द्वारा हो जाता है । अतः चतुर्थ-प्राणायाम को सत्यकृति से विशेष प्राणायाम मानना चाहिए ।

### स्वामिनन्तरायनशास्त्र

श्वास और प्रश्वास की गति का प्रतिबन्ध ही प्राणायाम है । इसके चार भेद किए गए हैं । (1) बाह्यकृति नामकरेचक प्राणायाम (2) आध्मन्तरकृतिनामक पूरक प्राणायाम (3) सत्यकृतिनामक कुम्भक प्राणायाम (4) केवलकुम्भकप्राणायाम ।

प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव रेचक है । कोष्ठ की वायु को निःसारण किया को प्रश्वास कहते हैं । जब प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है तब रेचक प्राणायाम होता है । साधारण स्थिति में प्राणवायु का आगमन और निःसारण ये दोनों क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से सतत ही होती रहती हैं । परन्तु जब आसन में स्थिर होने के

स आध्मन्तरकृतिः प्राणायामः पूरक न्तप्राणनिरोधो न पूरकमात्रः ।”

— भास्वती पृष्ठ 269 ।

। - “ तत्पूर्वकः = दीर्घसूक्ष्मतापूर्वको भूमिजवात् दीर्घसूक्ष्मीगतमथ भूमिजवात्, क्रमेण = क्रमतः, न तु तृतीयस्तन्मूर्त्तिनिबन्धाय, उच्छ्वासः = बाह्यआध्मन्तरयोः, गत्यभावः = सत्य कृति विशेषणः, चतुर्थः प्राणायाम एतः ।”

— भास्वती पृष्ठ 273 ।



पश्चात् प्राणवायु को दोनों गतियों को रोका जाता है तब इस प्रतिबन्ध को प्रकिया को प्राणायाम कहते हैं । 'रेख्य' में परमास अर्थात् अन्तस्य वायु को निकलने से रोका जाता है । बाहर की वायु का आगमन करना आश्वत्थरहीत है । जिसका नाम पूरक भी है । बाह्य वायु को ग्रहण करने की गति को निरुद्ध करना पूरक - प्राणायाम है । जब विधारकवयल द्वारा रेखक, पूरक की गति का अभाव हो जाता है तब स्तम्भहीत होती है ।

इन तीनों प्राणायामों की शीघ्रता तथा सूक्ष्मता यथा, काल और संख्या द्वारा देवी जाती है । यथा, काल के धरे में विवेचन वेदादरहीत के समान ही किया गया है । 'संख्या' के विवेचन में मात्राओं का क्रम निर्धारित किया गया है । 12, 24, 36 मात्राएँ हैं । इनमें 12 मात्राकात तक रहने वाला प्राणायाम सुदु-प्राणायाम है, 24 मात्रा वाला मध्यम और 36 मात्रा वाला तीव्र-प्राणायाम होता है ।

रेखक और पूरक का अतिरुम्भण कर केवल स्वयमेव ही रहने वाला प्राणायाम केवल-कुम्भक-प्राणायाम है । यह प्राणायाम उक्त प्राणायामों की अपेक्षा अधिक स्वापक है । स्वापकता के ही कारण केवल-कुम्भक-प्राणायाम का परीक्षण यथा, काल और संख्याओं से नहीं होता । क्योंकि केवल-कुम्भक-प्राणायाम मात्र, संवत्सरादि काल तक रहने वाला होता है ।

प्राणायामों का योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसकी महत्ता को ही ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि 'प्राणायाम' 'तपस्या' से भी बढ़कर है ।<sup>3</sup>

1 - " पूरकः स्वासपूर्वयोगश्चैव । "

" स्तम्भकानाम् - कुम्भकः, यत्रोन्मोः स्वासप्राणस्योरभावो विधारकवयल-मात्रावेव भवति न तु तत्र रेखक-पूरकवयलावपेक्षते । "

--- श्वानि० श्वानि० २५२ F

2 - " रेखकं पूरकं शकला मुख्यं चक्षुष्यधारणम् । प्राणायामोऽयमिदंभुक्तः स वैकेवलकुम्भकः । "

--- यशो ५० २५५ F

3 - " उक्तं चाऽऽयमिभिः - 'तपो न परं प्राणायामतः' । "

--- यशो ५० २५६ F

योग के विभिन्न साधनों की व्यवस्था

योगसाधना के प्रधान उपाय अथास और वेरास्य हैं । अथास द्वारा चित्त स्थिरता का प्राप्त कर रूपाग्र हो जाता है । अथासचित्त ही समीप साधना के योग्य होता है अतः अथास का समीप-साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसी तरह 'वेरास्य' को भी उपयोगिता समीप की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेरास्य-भावना के उचित होने पर चित्त ऐच्छियारसौक्य सभी प्रकार के विषयों के प्रति अनासक्त भाव होकर समीप के योग्य हो जाता है । अथास और वेरास्य के अतिरिक्त योग के अन्य और भी साधनों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा- क्रियायोग, और यमनियमसहित अष्टांगयोग । इन साधनों के अथास से श्रुतित्व चित्त वाले साधक भी योग-निश्चय के योग्य हो पाते हैं परन्तु अथास और वेरास्य का अनुष्ठान इन्हें भी करना पड़ता है । सम्भवतः इसी लिए अथास और वेरास्य को योग का प्रमुख साधन माना गया है । इन साधनों के बीच संबन्ध भाव को देखकर सभी व्याख्यातकों ने अपनी अपनी व्याख्याओं में विन्म-विन्म विचार एकट किए हैं । जिसका उल्लेख अलग-अलग किया जा रहा है ।

व्यतिषाध्य

योग के लक्षण के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय का वर्णन प्रथमपाद तथा द्वितीय-पाद दोनों में ही किया गया है । द्वितीय-पाद में 'क्रियायोग' नामक उपाय का वर्णन करते हुए सिद्धा<sup>म्</sup> है कि अथास और वेरास्य नामक उपायद्वय से समीपित चित्त वाले साधक योगवाप्त करते हैं और श्रुतित्व चित्त भागों के लिए पहले क्रियायोग का आवरण करना आवश्यक होता है । सत्त्ववत् अथास और वेरास्य द्वारा उ<sup>त्</sup>योगनिश्चय प्राप्त होती है । प्रथमपाद में ही अष्टांगयोगों का भी वर्णन किया गया है जिन्हें योग का साधन बतलाया गया है । अष्टांग योग किस प्रकार के अधिकारों के लिए है ऐसा कुछ भी उल्लेख भाष्य में नहीं प्राप्त होता है ।

समर्पित चित्त वाले साधक अर्थात् और बेरहस्य द्वारा चित्तशुद्धियों का निरोध करके सदाशत और असम्भ्रान्त योग को प्राप्त करने हैं। श्रुतिव्यतिरिक्त वाले साधक भी योग प्राप्त कर सकते हैं परन्तु उनके बलित चित्त को धियर करने के लिए पहले उन्हें तपस्या, स्वाध्याय-विप्रयोग के उपायों का अनुष्ठान करना पड़ता है। क्रियायोग द्वारा कैतस्वीमित हल्ले हो जाते हैं। इन तनुभाव प्राप्त कैतस्वी को विनेकव्यति स्वी और द्वारा हथ-बोज-बाधता प्राप्त करकर अर्थात् और बेरहस्य द्वारा योग को प्राप्त करते हैं। योग प्राप्त करने का सुतोय तथ्यन या उपाय श्रुतिव्यति योग हैं। धम, नियम, वासन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के सात अंग हैं। इन अङ्गों का सेवन करने से भी अधिकारी योगप्राप्त करते हैं।

'योग' शब्द की दृष्टि से उक्त तीनों उपायों में 'अर्थात्' और 'बेरहस्य' का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि क्रियायोग तथा अर्थात्योग के पश्चात् भक्तता प्राप्त करने के लिए अर्थात् और बेरहस्य नामक उपाय का सेवन सभी शक्तिशालियों को करना पड़ता है। अर्थात्योग में प्रारम्भ के पाँच साधनों के उपरान्त शतार्थ ध्यान और समाधि से अर्थात् और बेरहस्य द्वारा ही साध्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थात् और बेरहस्य का योग के प्रत्येक साधनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

### तत्त्ववेत्तारथो

तत्त्ववेत्तारथोकार ने भी केवल यही कहा है कि तपस्य-पथ में चलकर गए उपाय समर्पितचित्त वालों के लिए हैं और क्रियायोग नामक उपाय श्रुतिव्यतिरिक्त वालों के लिए हैं। अर्थात्योग को लेकर किसी विशेष अधिकारी का नागोत्पन्न इस व्याख्या में भी नहीं किया गया है। समर्पित-चित्त वाले साधक अर्थात् और बेरहस्य द्वारा योग प्राप्त करते हैं। समर्पितचित्त का तात्पर्य है अतिशय चित्त श्रुतिव्यति जिन साधकों का चित्त बलित नहीं होता प्रत्युत सरसता से स्थान हो जाता है उन्हें ही समर्पितचित्त कहा गया है।

श्रुतिव्यति-चित्त वाले भी योग प्राप्त कर सकें इस बात को ध्यान में रखते हुए 'क्रियायोग' का उपदेश किया गया है। श्रुतिव्यतिचित्त वाले साधक के लिए पहले क्रियायोग का आचरण आवश्यक है उसके पश्चात् अर्थात् और बेरहस्य नामक उपायों से योगीश्वर प्राप्त होती है। अतिशय योग भी योग को प्राप्त कर सकते हैं।

इनके लिए 'अष्टांगयोग' का उल्लेख किया गया है। योग, नियम, अस्त्रम प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं। इनमें प्रारम्भ के पश्चि साधनों को योग का चौदहवां साधन जोड़ा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि में हित अथात् और वैराग्य के क्लेशरूप ही अनुगत होता है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानवेत्तार की व्याख्या से भी यही निश्चित होता है कि अथात् और वैराग्य तीनों साधनों के मध्य सामान्य तथा अनिवार्य उपाय हैं। बिना अथात् और वैराग्य के योग-सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

### राजमार्ग-श्रुति

श्रुतिकार बीज ने भी योग के साधनों का वर्णन करते हुए उन साधनों से संबंधित साधकों के बारे में विशेष वर्णन नहीं किया है। समीक्षित-चित्त वाले साधक अथात् और वैराग्य द्वारा योग सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। श्रुतिकार हित्त वालों को अथात् और वैराग्य नामक योग के साधन का अनुष्ठान करने के लिए सर्वप्रथम क्रियायोग द्वारा क्षेत्रों को विधित करना चाहिए। तत्परात्मनः<sup>क्षेत्र</sup> अथात् और वैराग्य के अनुष्ठान द्वारा योग को प्राप्त कर सकते हैं। क्षेत्रों से उत्पन्न श्रुतिश्रुतियों को नष्ट करने के लिए योगियों का अनुष्ठान करना चाहिए। ये योगियों आठ-अकार के हैं जिनके प्राप्त से क्षेत्र सही श्रुतिश्रुतियों का नष्ट हो जाता है और हित्त श्रुति श्रुतिकृति में बिना हो जाने के बलसे से प्रकृतिगत होता है। योगियों का वर्णन करते समय राजश्रुतिकार ने योगियों के साधक विशेष का उल्लेख नहीं किया है। साधक को ही तरह ये भी इस विश्व पर मौन है।

### धिवरण

केन्द्र का साधन सद्यस्मान् है। सद्यस्मान् के अन्तर्गत सद्यस्मान्-समाधिगत-ज्ञान और विकेन्द्रावृत्ति का सद्यस्मान् होते हैं जिनसे हित्तश्रुतियों का निरोध होने के पश्चात् प्रकृति और पुरुष के स्वस्व का सद्यस्मान् अर्थात् ठीक-ठीक ध्यान

। - " श्रुतिकार हित्तश्रुति सद्यस्मान् अथात् योगः स्वास्थ्यम् उपाय-  
तीति तत्साधनानुष्ठानशीतपापनाय क्रियायोगमाह ।"

प्राप्त होता है । परन्तु यह सत्यज्ञान कैसे होता है ? इसके उत्तर में सत्यज्ञान प्राप्ति के साधनों का उल्लेख साधन-पाद में किया गया है । विवरणकार की व्याख्या के अनुसार साधनपाद में प्रतिपादित योग के साधन ही योगसम्बन्धित सिद्धि-साधन हैं । इन साधनों का प्रतिपादन मुख्य रूप से इसी पाद में किया गया है । इसीलिए इस पाद का नाम साधन पाद है ।

साधन के अभाव में मोक्ष की सिद्धि नहीं होती । अतः समधि तथा समीपपाद की सिद्धि के लिए साधनों की अपेक्षा होती है । ये साधन हैं क्रियायोग और समीपसाधन । समीपपाद में वर्णित समीपियों की सिद्धि के लिए समीहितचित्त वाले साधक अन्धास और भेदास का अनुष्ठान करते हैं और इन्हीं साधनों के अन्धास द्वारा वे समधि की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु अद्वैत-चित्त वाले साधकों के चित्त (क्रियायोग) के अन्वयण तथा तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्तियोग द्वारा समधि के योग्य बनता है और इसके पश्चात् अन्धास और भेदास द्वारा वे साधक भी योग को प्राप्त करते हैं ।

साधनपाद में वर्णित योग के आठों अंगों की उपयोगिता विवेकव्यति के लिए कही गई है । विवरणकार ने योगसम्बन्धितकार की शक्ति साधनों की श्रेणियों के अनुसार इन साधनों की उपयोगिता नहीं सिद्ध की है प्रत्युत अद्वैत साधना के अनुसार साधनों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है ।

१ - " योगसाधनानि च योगवहारेण सत्यज्ञानसाधनान्येव । तस्मिन् च प्राधान्येनान्ध्यासोऽपि प्रतिपाद्यन्त इति साधन पाद इत्युच्यते । "

— विवरण पृ० १३१ १

२ - " अतीन्द्रियत्वान्ध्यासस्तथा कुतः समीपः इति सम्बन्धनाय च तपस उपपादनम् । "

— शरी पृ० १२४ १

३ - " इतरयोगाद्गम्यतेऽतः समीपं भावयति । " — शरी पृ० १२४ १

४ - " योगाद्गम्यमान्ध्यासस्तु अन्धेय विवेकव्यतिषिद्धिरेति । "

— शरी पृ० २०४ १

### योगवार्त्तिक

विद्वानादिषु मे योग के साधनों का क्रमवद्वयवर्धन किया है । इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन श्रेणियों में अधिकारियों को विभक्त किया है और अधिकारियों के स्वभाव के अनुकूल साधना के मार्ग को भी निश्चित किया है । उत्तम अधिकारी अर्थात् और वैराग्य द्वारा सञ्जययोग और अतश्चान्तयोग को प्राप्त करते हैं । मध्यम अधिकारी तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रतिपादन आदि साधनों के द्वारा योग प्राप्ति के योग्य बनता है । क्रियायोग के उल्लिखित साधनों का अनुष्ठान करने के पश्चात् इनके लिए अर्थात् और वैराग्य का अनुष्ठान भी आवश्यक है । क्रियायोग को विद्वानादिषु मे "कर्मयोग" कहा है । श्रेष्ठि स्वाध्याय, ईश्वर-प्रतिपादन आदि उपायों में कर्मयोग के ही सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं । क्रियायोग द्वारा सात्विक अपने चित्त के मनो को इच्छा करके उन्हें प्रसन्नमान शक्ति द्वारा बन्ध-बीज-भाव-ता प्राप्त कराकर अर्थात् और वैराग्य द्वारा योग को प्राप्त करता है । परं मन्व्यधिकारी श्रेष्ठि उक्त दोनों अधिकारियों को तुलना में मन्व्य है अतः इन्हें परमन्व्य अधिकारी कहा गया है १ इनका चित्त व्युत्थितचित्त भावों से भी अधिक व्युत्थित होता है । अतः योग के लिए इन्हें अधिक प्रयत्न करना पड़ता है । परमन्व्यधिकारियों के लिए योग को सभी उपायों का आचरण करना पड़ता है । यम, नियमार्थि योग के आठ साधनों का प्रथमतः अनुष्ठान करने के उपरान्त क्रियायोग तथा अर्थात् और वैराग्य का भी आचरण करने पर ही इन्हें योगीतिवृत्त प्राप्त होती है ।

### योग-दीपिका, पतिञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में व्याख्याकार वार्त्तिककार के विवेचन से प्रभावित हैं । इन व्याख्याकारों ने भी वार्त्तिककार की ही श्रेष्ठि साधनों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर के उनकी साधना का उल्लेख किया है ।

.....

। - " क्रियायोगश्च मोक्षदानादिभ्यापारकथनात्मयोगो ध्यानदि साधनतयः ज्ञानाद्यभ्यामेव न सात्त्विकोऽस्तेति सिद्धान्त इति । "

### मणिप्रकाश

मणिप्रकाशकार के अनुसार योग के साधनों का उत्तम विवृतिय-पथ है ही है । मणिप्रकाशकार ने इन साधनों को लेकर साधकों का उत्तम मार्ग किया है । अथास और बेराथ चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय है अतः इनके अनुष्ठानकर्ता को कोई विशेष सजा इन्हे नही दी है । अथास और बेराथ द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त स्थिति के बोध हो जाता है । सम्भवतः और असम्भवतः नामक विविध योगों की प्राप्ति के साधनों का उत्तम विवृतियपथ में किया गया है । क्रियायोग और अष्टांग योग ही योगप्राप्ति के साधन हैं ।

तप, स्वाध्याय और ह्यनरप्रणिधान क्रियायोग के अंग हैं इनका आचरण करने से क्षेत्रों का हलकर समीध की भावना की जाती है । अष्टांगे द्वारा चित्त की क्षेत्रा<sup>चित्त</sup> कर्मस्थी जागृत्तियों का स्थ होना है तथा चित्त में मन का वकास होता है जिससे विकेक्याति प्राप्त होती है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के अङ्गरसाधन हैं । धारणा, ध्यान और समीध योग के अन्तरंग साधन हैं ।

### योगसूत्रसर्वभौषिणी, योगसिद्धान्तसम्प्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रकाश के विचारों का ही समर्थन किया गया गया है ।

### भास्वती

योग की प्राप्ति करने का साधन मन है । मन का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । अथास और बेराथ समीध के उपाय हैं । इनके द्वारा चित्त सम्भवतः और असम्भवतः समीध को प्राप्त कर क्त में केवल्य को प्राप्त हो जाता है । अथास और बेराथ नामक योग के उपाय समीधित चित्त वति

। - " मनः प्रधानसाधनानि त्प्राड्यास्तिन बेराथैव स तिरुच्छय समीधे-  
रवन्तर वेवास्तवस्तूर्त केवलेति योगः प्रथमे पथे जीवन्तः । १२ "

योगी के लिए ही उपयुक्त है । द्युत्थित-चित्त वाले व्यक्तियों का चित्त बँधत रहता है । बँधत चित्त अर्थात् और बेराध रश्च साधन नहीं कर सकता बलः इसके लिए पहले उन्हें क्रियायोग द्वारा चित्त की अशुद्धियों को दूर करना पड़ता है तत्पश्चात् योग की श्रेय मानकर योगानुकूल आचरण करना पड़ता है । चित्त की अशुद्धियों को हटाने के लिए ध्यान-विद्योग योग के पॉईन्ट कीरगताधनों का अनुष्ठान करने से ही साधक शास्त्रचित्त होकर योग साधन के लिए समर्थ हो पाता है ।

शक्तिकार ने तृतीय साधन से संबंधित साधक को कोई अन्य लक्ष्य नहीं दी है । द्युत्थित-चित्त वाले साधकों के लिए ही उक्त दोनों साधनों का उपयोग बताया है ।

### स्वामिनारायण-वाक्य

अर्थात् और बेराध द्वारा उल्लससाधक योग साधन कर लेते हैं । परन्तु द्युत्थितचित्त वाले साधक के लिए यह मार्ग अत्यन्त दुःसाध्य है । द्युत्थितचित्त वाले के लिए ही विद्यतीय-पाठ में क्रियायोग तथा अर्थात्योग नामक योग के साधनों का विवेचन किया गया है । द्युत्थितचित्त वाले साधकों में ध्यान कोई बर्गेकरण इच्छोने की नहीं किया है । द्युत्थितचित्त वालों के लिए अत्यन्त सँका इच्छोने ही है । 'आत्मबु' अर्थात् द्युत्थितचित्त वाले का चित्त बर्धभूमी होता है । अतिबँधत चित्त का योग विविध के योग बनाने के लिए क्रमशः क्रियायोग तथा अर्थात्योग का आचरण करन आवश्यक होता है ।

1 - " लीषर्वाद्युक्तमौवरतः शक्तो मान उपर तनिस्तितुर्गुण्डा ममव्यथ्यससमर्षी भवेत् । "

-- शक्तो पृ 0 1 39 f

2 - " समीहितयोगाच्छिस्तशोस्तम्भिकारिणोऽभ्यासवेराधात्मकसाधनेनैव पूर्वयाव योगः क्रियायोग ईवसकलय निरपेक्षः प्रवर्तते । अर्थात्वेराधे चाऽनिकीर्णने न गर्येषा- इतिगवेष भवतः । तस्माद् द्युत्थित चित्तस्य बर्धभूमीय योगाऽऽत्मसोः केनोपायेन क्रमशो योगीसिद्धः स्यात् । तर्धे क्रियायोग सत्कर्मभटाहृगीषसायेर्षी सपरिकर' लियेसीध्नु । "

-- स्वामिनारायण पृ 0 160 f



Yen-Hua

धारणा, ध्यान और समीप तीनों सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग साधन हैं और  
सम्प्रज्ञातयोग के तीनों ही साधन हैं ?

### व्यसिवाच्य

धारणा, ध्यान, समीप, सम्प्रज्ञातसमीप के अन्तरंग साधन हैं। ब्रह्मकार ने अन्तरंग शब्द की कोई विशेष व्याख्या नहीं की है। केवल इतना कह कर व्याख्या समाप्त कर दी है कि धम नियम, ज्ञानम, प्राणायाम, पराधारात्मिक योग के साधनों में से धारणात्मिक सम्प्रज्ञातसमीप के अन्तरंग साधन हैं। ये अन्तरंग साधन ही असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिर्रंग साधन हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातसमीप में इन तीनों का संबंध होता है। 'तदभावे-पाशात्' अर्थात् असम्प्रज्ञात-समीप तब प्रारम्भ होती है जब धारणा, ध्यान और समीप का निरोध परवेराच्य के द्वारा हो सकता है। इसके विपरीत सम्प्रज्ञातसमीप को सिद्ध करने के लिए ध्यान और समीप के उपस्थित न रहने पर नहीं होती। ये तीनों एक विषय में किए जाने पर 'संयम' कहे जाते हैं। सम्प्रज्ञातसमीप संयम की ही परावस्था है। संयम के अभाव काल में सम्प्रज्ञातसमीप की स्थिति नहीं होती। इसीलिए सम्प्रज्ञात की स्थिति के लिए इन तीनों साधनों की आवश्यकता होती है।

### तत्त्ववेत्तारपी

धारणा ध्यान और समीप की सम्प्रज्ञातसमीप का अन्तरंग सिद्ध करने के लिए व्यवहारकार लिखते हैं कि धारणात्मिक को तदनुस्मर स्वीकार करने पर इसमें धारणाधारयोग की प्राप्ति होती है क्योंकि तदनुस्मरण के कारण धारणात्मिक की स्थिति ईश्वरप्राप्तियान में होती है क्योंकि समीप के अनुस्मर ईश्वरप्राप्तियान नामक योग का अंग जाता है। अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक तदनुस्मरत्व नहीं हो सकता और यदि सामान्यव्यवस्था को अन्तरंगत्व का प्रयोजक माना जाये तो धारणात्मिक सम्प्रज्ञातसमीप के अन्तरंग सिद्ध होते हैं।

1 - " तदेतद्धारणाध्यानसमीपत्रयान्तरंगं सम्प्रज्ञातस्य समीपः पूर्वेषां यथाविध्यः पद्यथः साधनेषु इति । "

— व्यास भाष्य पृ० २८४ १

२ - " तदव्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिर्रंगं भवति । कस्मात् तदभावे-पाशापिपति । "

— श्री पृ० २८५ १

३ - " तीर्थं सूक्ष्मं ( धारणा ध्यानसंसाधनः ) साध्यं समानं विषयस्य नाम्तरं, न तेषां यथाविध्यः । "

— तदुपपृ० २८४ १

क्योंकि धारणा, ध्यान, समाधि में जो छोय<sup>नियम</sup> होता है उसी छोय<sup>नियम</sup> का सशक्त इन सम्प्रदाय-समाधि में प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्प्रदायसमाधि तथा धारणा का विषय समान होता है। अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक सत्ववैशारदीकार के अनुसार समन्वितव्यक्त होता है। अतः अन्तरंगत्व पर-वेराध के अन्तर होती है, अतः इस समाधि के लिए धारणादि भी पंक्ति श्रमों के समान शोध रंग सिद्ध हुए।

### राजमार्तकृति

धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रदायसमाधि के स्वरूप का निष्पन्न करते हैं। अतः इनके सम्प्रदायसमाधि का अन्तरंग कहा गया है। अन्तरंगत्व का प्रयोजक इनके इस व्याख्या के अनुसार<sup>1</sup> स्वरूप का निष्पन्न करता है। धर्म, नियम, शासन, प्राणावाह और प्रत्याहार, समाधि के लिए परम्परया सहायक है। निर्बीज-समाधि के लिए धारणा ध्यान और समाधि भी परम्परया ही सहायक है<sup>2</sup> अतः यह तीनों निरालम्ब समाधि के लिए अन्तरंगत्व<sup>3</sup> है। प्रत्युत शोधरंग है।

### विषय

इस व्याख्या में अन्तरंग 'योग' के साधनस्वीयमालि के रूप में ग्रहण किया गया है। धारणाविषय 'योग' की स्थिति के लिए परमावश्यक रंग है। इन तीनों साधनों के द्वारा ही 'योग' की प्राप्ति होती है। विना इन साधनों के योग सर्वथा असम्भव है इसी लिए इन साधनों को योग का आवश्यक श्रेण तथा शक्ति की संपत्ति कहा गया है। 'योग' शब्द में सम्प्रदाय और सम्प्रदाय दोनों योग अन्तर्गत है। उनमें से धारणाविषय सम्प्रदाययोग के ही अन्तरंग मन्ने जलने हैं। सम्प्रदाय योग निर्बीज है, अतः इस योग में इन साधनों को अन्तरंग नहीं माना जाता है। ये सम्प्रदाययोग के लिए शोधरंग हैं क्योंकि सम्प्रदाययोग 'परवेराध' द्वारा प्राप्त होता है। इस समाधि में इन सबीज साधन-त्रयों का सर्वथा अभाव रहता है।<sup>4</sup>

- 1 - " (सम्प्रदायसमाधिः) तस्य निर्बीजतया तेः अत्र समान विषय सम्प्रदायसमाधिः कर्तव्यः न तु तदनन्तरगतस्वरूप शोधरंगे स्वरूपोपलब्धतया तद्विचारस्थितिः किञ्चिद् सम्प्रदायसमाधिः अन्तरंगत्वमिति । -- तद्विचारः 286 पृ
- 2 - " धारणादि योगीय कर्म सम्प्रदायस्य समवेरान्तरंग समाधिस्वरूपनिष्पन्नम् ।" -- इति 287 पृ
- 3 - " निर्बीजस्य निरालम्बस्य तद्विचारमापरपर्यायस्य समवेरान्तरंग योगीयस्य शोधरंगे पराम्यनीपकारकत्वम् ।" -- तत्रैव 287 पृ
- 4 - " तदन्तरंगत्वमिति पूजसाधनसम्यक्साधनस्य त्रये शोधरः करुणादि उपेयवर्गम् ।" -- विचारण 287 पृ
- 5 - " धारणाविषयेन विना न योगो सम्भवति कदाचित् ।" -- यदन्तर्गत विचारणसंस्कृतम् ।" -- तत्रैव 288 पृ
- 6 - " तस्य सर्वोपान्तगतसाधनत्रयस्य शोधरः पुरम् सत्वविशेषापर्याय निर्बीजयोगस्य

योगवर्तिक

धारणादि सम्प्रज्ञातसमधि के साक्षात्कार हैं। साक्षात्कार होने के कारण ही धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमधि का अन्तरंग तथा 'बीज' कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि जब एक छेद्य में ही होने लगे तब उन्हें 'संयम' कहा जाता है। यह सम्प्रज्ञातसमधि का साक्षात्कार है। सम्प्रज्ञातसमधि में उक्त संयम के छेद्य विषय का साक्षात्कार होता है इससे बिना विषयों का कोई प्राप्ति नहीं होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारणा, ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञातसमधि के अन्तरंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पंचि चित्त की स्थिरता के लिए उपयोगी हैं तथा सम्प्रज्ञातसमधि के लिए ये परम्परया सहायक होते हैं। साक्षात् नहीं।

असम्प्रज्ञातसमधि को निर्बीजसमधि भी कहते हैं। इस समधि के लिए धारणादि तीनों अन्तरंग नहीं होते। अपितु उक्त तीनों बहिर्रंग साधनों की सहायता से ही परम्परया सहायक होते हैं। असम्प्रज्ञातसमधि परबेरार्य से प्राप्ति होती है अतः असम्प्रज्ञातसमधि निरात्मन्य होती है। विवेक तथा प्राकृतिकीन उपसक्त ही असम्प्रज्ञातसमधि की प्राप्ति केवल बरार्य द्वारा करते हैं। आत्मन्य संयम की अपेक्षा उक्त उपायों का ही नहीं हुआ करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञातसमधि के लिए धारणादि, त्रय को अपेक्षा नहीं होती। इसलिए कर्माधि-त्रय जो सातम्बन अर्थात् है, असम्प्रज्ञात में साक्षात्कार नहीं बनते। इसीलिए ये असम्प्रज्ञात के अन्तरंग कारण नहीं मने जाते।

योगदीपक

योग के अठार अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार सम्प्रज्ञात योग के बहिर्रंग हैं और धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अन्तरंग हैं। असम्प्रज्ञात-समधि निर्बीज-समधि कही जाती है क्योंकि इस समधि में छेद्य एक बीज का अभाव होता है। छेद्य का बीज का अभाव यह सिद्ध करता है कि धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग नहीं परम्परया सहायक हैं कि केवल बहिर्रंग हैं।

साक्षात् बहिर्रंगत्वम् ।  
 1 - अन्तरंगत्वे य बीजमर्थ यद्येयतिरिक्तवृत्तिनिरोधो सम्भवते छेद्यसंयमः साक्षादेव कारणं विषयान्तरांतरा स्थायत्वं ।  
 2 - नियम योगशास्त्रात्साधु तदपि त्रयं बहिर्रंगेषु, विषयव्यतिरिक्तव्याहार द्वारा परम्परया हेतुत्वेनाभावयत्त्वात् साक्षात्बन्धयः ।  
 त्रिवरण पृ. 238 f  
 योगशास्त्र 284 f  
 - यम पृ. 286 f

पारतन्त्रियोगसूत्रवृत्ति

धारणा ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग मन्त्र कहा है । सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय स्वप्न सत्यकर्मकारण भासित होता रहता है । धारणाविषय में भी ध्येय सर्वथा विद्यमान रहता है । इस प्रकार 'साध्य' विषय दोनों में एक ही होते हैं और बिना साध्य रूप ध्येय के सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती । ये धारणाविषय आवश्यक रूप से इस समाधि में विद्यमान रहते हैं । अतः इसे सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग मन्त्र कहा है । असम्प्रज्ञातसमाधि में इस सभी का चिरनिरोध हो जाता है और चित्त सर्वजनशून्य, चोद्यस्व निर्बन्ध-समाधि में अवस्थित हो जाता है । सम्प्रज्ञात-समाधि, विवेकध्यान अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधि को परस्परया सहायता करते हैं । इन सब का परवैरोध द्वारा निरोध कर दिया जाता है तब असम्प्रज्ञातसमाधि विद्यमान होती है । परस्परया सहायता होने के कारण सम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके अन्तरंग धारणा विषय भी असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग सिद्ध हुए ।

म विवक्षा

धारणा, ध्यान, और समाधि सम्प्रज्ञातयोग के लिए साक्षात् रूप से उपकारक हैं । अतः इन्हें सम्प्रज्ञात-योग का अन्तरंग कहा गया है । अन्तरंग का प्रयोगन मण्डपभास्कर के अनुसार 'समानविषयता' से है अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही ध्येय में किए जाते हैं तब संयोग होता है । सम्प्रज्ञातसमाधि में उही ध्येय विषय का सत्यकर्मण होना है । ध्येय-विषय दोनों में 'समान' होते हैं अतः अन्तरंग का प्रयोगन यहाँ 'समानविषयता' ही है । धारणाविषय सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग निश्चित किए गए हैं । असम्प्रज्ञातयोग के लिए ये तीनों भी अन्तरंग के अर्थिक

- 1 - " साध्यसमानविषयत्वेन हि सम्प्रज्ञात प्रत्यन्तरंगत्वम् । " - पृष्ठ 62 f
- 2 - " अथ निर्बन्धतया तन्मन्त्रप्रवर्तित । तेषु चिरनिरोधेषु परवैरोधश्चानन्तर-मुत्पादात्क । " - "तथापि यदा निर्बन्धवशात् प्रवर्तित परवैरोधमेतदर्थः । " - पृष्ठ 62 f
- 3 - " धारणाऽऽविषयं ध्यानः समानविषयतया साक्षात्कर्मोपकारकम् । " - मण्डपभास्कर पृष्ठ 92 f

असम्बन्धतत्त्वों में धारणादि के साथ सम्बन्धित्वता का संकल्प नहीं होता है । सम्बन्धतत्त्वों के परिपक्व हो जाने पर, पर-वेदाद्य के द्वारा सम्बन्धता का भी निरोध होने पर असम्बन्धतत्त्वों का निर्बन्ध-योग होता है । अतः असम्बन्धतत्त्वों में उक्त धारणादि भी परस्पर एक से सहायक होते हैं । अतः असम्बन्धतत्त्वों के लिए चतुःसाधन-त्रय बहिर्भूत है ।

### योगसूत्रार्थ-सूचिनी

धारणादित्रय सम्बन्धतत्त्वमति के तादृशत् उपकारक होने के कारण सम्बन्धत-तत्त्वमति एक ही के अन्तर्गत है । अतः निर्बन्ध-तत्त्वमति के लिए के तीन भी बहिर्भूत हैं, क्योंकि सम्बन्धतत्त्वों के परिपक्व हो जाने पर परवेदाद्य द्वारा सम्बन्धतत्त्वों का भी निरोध होने पर निर्बन्ध-तत्त्वमति होती है । अतः यहाँ परस्परता ये तीनों सहायक होते हैं । इसीलिए असम्बन्धतत्त्वों के लिए धारणादित्रय भी बहिर्भूत है ।

### योग सिद्धान्तसंश्लेषः

धारणादित्रय को सम्बन्धतत्त्वमति का अन्तर्गत माना गया है । अन्तर्गत का अर्थ है "साक्षात्कार से सहायक या उपकारक" । यज्ञ-नियमादौ पूर्वो परस्परता सम्बन्धतत्त्वमति के तादृशक है । धारणादि-त्रय साक्षात्कार से सम्बन्धतत्त्वमति के सहायक है अतः इन्हें सम्बन्धतत्त्वमति का अन्तर्गत कहा गया है । ये ही धारणादि-त्रय असम्बन्धतत्त्वों के लिए बहिर्भूत हैं क्योंकि असम्बन्धतत्त्वों का अन्तर्गताद्यन 'परवेदाद्य' है, धारणादि असम्बन्धतत्त्वों के लिए परस्परता सहायक है, अतः ये असम्बन्धतत्त्वों के बहिर्भूत तत्त्व हैं ।

1 - " धारणादित्रयान्तर्गतम् । अग्निसामवेदियतया साक्षात्कारस्योपकारकत्वात् ।

असम्बन्धतत्त्वमतिभ्यु विनियोगार्थमत्र निरूपितमिदमर्थः ।" — सू.वे.० पृ. 39 ४

2 - " धारणाद्यात्मसमाख्यः, अन्तर्गतम्, विगतसामवेदियतया साक्षात्कारस्योपकारकमिदमर्थः ।" — योगसि.० च.० पृ. 109 ४

## शास्त्रती

धारणाविषय सम्प्रदातसमाधि के अन्तरंग है। उस संघर्ष में इस व्याख्या में कोई वर्णन नहीं दिया गया है। केवल 'सुगर्म शास्त्रम्' लिख दिया गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि शास्त्रतीकार ने इस विषय के संघर्ष में शास्त्र के ही विचारों, तर्कों का अनुसरण किया है। सम्प्रदातसमाधि के लिए ये साधनत्रय क्या हैं? इस संघर्ष में अति सक्षिप्त विवेचन प्राप्त है। वह इस प्रकार है :- सम्प्रदातसमाधि निर्वाण है, क्योंकि इसमें धारणावृत्तियों साधनों का अध्यास नहीं किया जाता है। धारणाविषय ध्येयवस्तुत्वेन सबोध है। इन सबोध साधनों से रचित होने के कारण सम्प्रदातसमाधि को अति निर्वाण कहा गया है। सम्प्रदातसमाधि का अन्तरंग 'परबेरारथ' है क्योंकि 'परबेरारथ' ही के द्वारा सम्प्रदातयोग की प्राप्ति होती है। बिना इसके यह योग नहीं प्राप्त होता है।

## स्वामिनारायणशास्त्र

धारणाविषय सम्प्रदातसमाधि के साक्षात्सम्भावक है। अतः इन्हें सम्प्रदातसमाधि का अन्तरंग कहा गया है।<sup>2</sup> क्योंकि साक्षात् स्वरूप से जो जंग जिसकी सहायता करे उसे उस जंगी का अन्तरंग कहा जाता है।<sup>3</sup> एक ही ध्येय-विषय में धारणा, ध्यान और समाधि का होना 'संप्रम' है। यह 'संप्रम' ही सम्प्रदातसमाधि का साक्षात् सम्भावक है।<sup>3</sup> क्योंकि जब ध्येय-विषय का ही सदाकं ध्यान, धारणा और समाधि होती है तब सम्प्रदातसमाधि होती है। बिना ध्येय-विषय का सदाकं ध्यान हुए सम्प्रदातसमाधि नहीं होती। इस प्रकार ये तीनों जंग साक्षात् सम्प्रदातसमाधि जंगी के साक्षात् सहायक सिद्ध हुए और इसीलिए इन्हें सम्प्रदात-समाधि का अन्तरंग कहा गया है। सम्प्रदात-समाधि के लिए ये जंग अन्तरंग है क्योंकि ये जंग साक्षात् स्वरूप से सम्प्रदात-समाधि का सम्पादन नहीं करते प्रथम परबेरारथ सम्प्रदातसमाधि की सहायता करते हैं। अतः इन्हें सम्प्रदातयोग के संघर्ष में अन्तरंग कहा गया है।<sup>4</sup>

1 - "धारणाऽऽविसर्गजायासक्यानामे निवृत्तौ निर्वाणस्य धारणासाक्षात्, परबेरारथमेव तदाऽन्तरंगमुच्यते।" - शास्त्रती पृ० 288, 289 ।

2 - "धारणाविषयोर्गार्ग्यं सम्प्रदातस्य समवेरन्तरंगमिष्यते साक्षात् समाधि स्वरूप सम्भावकत्वात्।" - स्वामिनारायण पृ० 269 ।

3 - "यतः संप्रमो यथा सम्प्रदातयोगस्य साक्षात् सम्भावकत्वात् तदा सम्प्रदातयोगस्य।" - वही पृ० 269 ।

4 - "किन्तु सम्प्रदातयोगद्वारेणैत, अन्तरंगत्वं परबेरारथं सम्भावकत्वेन सदाकं ध्यायामिति।" - वही पृ० 269 ।

योगसाधनात्मकता में होने वाले चित्त के परिवर्तनों का वर्णन

### व्यासभाष्य

गुणों की निरन्तर परिवर्तनशीलता के कारण त्रिगुणात्मक चित्त की परिवर्तनशील है तथा इसके अनेक क्षण चित्त में कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ करता है । योग साधना-काल में चित्त में जो परिवर्तन होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं ।

(1) निरोधपरिणाम (2) समाधिपरिणाम (3) स्थानांतरणपरिणाम ।

निरोधपरिणाम :- चित्त के व्युत्थान-संस्कारों का वच जाना तथा निरोध-संस्कारों का उचित होना निरोध-परिणाम है । व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । योगकाल से किन्तु समय में चित्त की वृत्तियाँ जब साधारण विषयों से आकर्षण होती हैं तब जो संस्कार चित्त में बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहा गया है । निरोध प्रक्रिया से बने संस्कार-निरोध संस्कार कहलाते हैं । ये संस्कार ही चित्त के ही धर्म हैं । निरोध-संस्कारों से ही व्युत्थान-संस्कार बचते हैं । इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यही चित्त का निरोध-परिणाम है ।

समाधिपरिणाम :- चित्त में सर्वापत्ता का अभाव तथा स्थानांतरण का अभावर्णन होना चित्त का समाधिपरिणाम है । सर्वापत्ता चित्त का धर्म है । सर्वापत्ता का अर्थ है - चित्त का अनेकों विषयों से आकर्षण होना । समाधिकाल से किन्तु स्थिति में सर्वापत्ता चित्त का स्वाभाविक धर्म है । यही चित्त जब स्थान हो जाता है तब

। - " व्युत्थानसंस्कारविकल्पधर्मा न ते प्रवृत्त्यात्मका इति प्रवृत्त्यनिरोधे न निरुत्थानः । निरोध-संस्कारा अपि चित्तधर्मा । तयोरेविकल्पपरिवृत्तौ व्युत्थानसंस्कारा ऽस्तीत्ये, निरोधसंस्कारा साधीयन्ते । निरोधवशात् चित्तमन्वेषितं । तदेकस्य चित्तस्य प्रति-  
क्षणमिदं संस्कारान्यवशात् निरोधपरिणामः । तदा संस्कारोऽपि चित्तमिति निरोधसमाप्तौ व्युत्थानम् । "



शने:— शनिः सर्वाधिकं कष्टं तिरोभाव्यं होने लगता है और चित्त में एकाग्रता का उदय होने लगता है । चित्त का क्षीयमानत्वसर्वाधिकता तथा उदयेमान एकाग्रता नामक दो धर्मों से अन्वित होता ही चित्त का समीक्षपरिणाम है । कम्माः सर्वाधिकं (यस्य सम्यग्चित्तं) का ह्रास होता है और कम्माः ही एकाग्रता का उदय होता है । इसलिए एकमात्र शनो से अन्वित कष्ट जा सकता है ।

एकाग्रतापरिणाम :- समीधि में तीन चित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का शान्त होना तथा उदित होना चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है । चित्त समीधिपर्यन्त एकाग्र रहता है। इसलिए इस एकाग्रचित्त में हुए परिणामों को एकाग्रता परिणाम कहा गया है । इस समय चित्त में जो ज्ञान शान्त तथा उदित होते हैं वे ध्येय-विषयक ज्ञान होते हैं । इस समय यह तत्त्वार्थक है कि जित प्रकार के ज्ञान उदित होकर शान्त हो रहे हैं पुनः तत् सङ्ख्यामान ही चित्त में उदित होते रहें । एकाग्रचित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का शान्त होना तथा उदित होना एकाग्रता-परिणाम है ।

भाष्यकार के उक्त विवेचन से 'निरोधपरिणाम' शब्दश्रद्धातसमाधि के अन्तर्गत माना है और 'समीधिपरिणाम' अंगभूतसमाधि में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' शब्दश्रद्धातसमाधि के अन्तर्गत माना है ।

### तत्त्ववेत्तारदी

व्युत्थानसंस्कारों का अतिक्रम तथा निरोध-संस्कारों का अधिभवा चित्त का निरोध-परिणाम है । निरोधपरिणाम शब्दश्रद्धातसमाधि में होता है । व्युत्थानसंस्कारों का अतिक्रम तथा निरोध-संस्कारों का अधिभवा कम्माः होता है । अतः निरोध-परिणाम में चित्त इन दोनों धर्मों से अन्वित रहता है ।<sup>३</sup> चित्त में निरोधकालिक

१ - " सर्वाधिकं तस्याः शयित्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय अधिभवा इत्यर्थः ।

तयोर्धर्मत्वानुगतं चित्तम् । तद्वदं चित्तमप्रायोगजनयोः स्वभावतुल्योर्धर्मोत्तोरनुगतं समीधयते स चित्तस्य समीधिपरिणामः । "

— व्यासभाष्य पृ० 289 f

२ - " समीधित्तिस्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तररुतत्सङ्गा उदितः । समीधि चित्त म्प्रयोरनुगतं पुनस्तथैवा समीधित्तिर्भावेति । स ह्यर्थः किमन्वित्तत्त्वैकाग्रतापरिणामः । "

— व शो पृ० 290 f

३ - " तयोर्धर्मत्वानिरोधसंस्कारयोर्अधिक्रमत्वात्तयोः । तुल्य व्युत्थानसंस्काराधिक्रमो निरोध संस्काराधिक्रमश्चित्तस्य धर्मयोः निरोधकालिक निरोधावतरक प्रयोरवयवोत्तर-प्रत्ययः ।

— तटमठपृ० 287 f

परिणामों से निरोधसंसार बनते हैं । जिनकी भावशक्ता व्युत्थानसंस्कारों के निरोध के लिए होती है । क्योंकि जिस प्रकार क्षेत्रों को दूर करने के लिए क्षेत्रों के प्रत्यक्षण शक्तिशून्य को नष्ट किया जाता है उसी प्रकार व्युत्थानसंस्कारों का निरोध , निरोधसंस्कारों से ही होता है । बुद्धियों के निरोध से व्युत्थानसंस्कार नहीं निरमूय होते हैं । इसी लिए बरबेराधारभू निरोधसंस्कार से सम्प्रदात रख व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करने पर निरोधरूप असम्प्रदातयोग की प्राप्ति योग्य को होती है । इस अवस्था में योगी के चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं । व्युत्थान-संस्कार दूरे रहते हैं ।

समधिपरिणाम --- समधिपरिणाम सम्प्रदातकाल में अथवा योग के प्रारम्भिककाल में होता है । सर्वार्थता का शब्द होने पर तथा एकग्रता का उदय होने पर समधिपरिणाम होता है । 'सर्वार्थता' का अर्थ 'विशिष्टता' किया गया है अर्थात् चित्त का विशिष्ट होकर विषयों में बटकना ही 'सर्वार्थता' है । चित्त की इस विशिष्टता का निरोधाव होना अर्थात् सर्वार्थता का अन्तस्तत्त्वाय न होना अर्थात् समधि परिरुद्ध होना तथा एकग्रता का उदय होने पर चित्त का आत्मवृत्त होकर समधि में लीन हो जाना ही 'समधिपरिणाम' है । इस अवस्था में चित्त की पूर्वकर्मिक तथा प्रवृत्तकर्मिक घटनाओं का नश्व हो जाना है और आत्मवृत्त चित्त समधि में स्थित हो जाता है ।

एकग्रतपरिणाम --- परिनिष्ठित सकलतसमधि में एकग्रतपरिणाम होता है । समधिस्थिति में सङ्ग्रहण का उचित होकर प्राप्ति होना तथा पुनः तत् सङ्ग्रहण का ही उचित होना चित्त का 'एकग्रतपरिणाम' है । एकग्रचित्त में ही समधि होती है । इस अवस्था में चित्त की एकग्रता समधिपरिणाम की प्रवेष्टा उच्चकौट की होती है । इस समय हुई सम्प्रदातसमधि को ही परिनिष्ठित-सम्प्रदातसमधि कहा गया है ।

1 - " निरमूयते नेमेतिनिरोधा ज्ञानवसायः परं वेराण्यम् ।" - त0वे0 287 ।

2 - " तस्मात्समधिपरिणामावस्थं चित्तस्य वर्यति ।" -- बडी 40 269 ।

3 - " आत्मवृत्तयोः सर्वार्थताप्रतयोधर्मयोर्विषयोऽवजमो सर्वार्थतया प्रथम एकग्रताया उदयनक्षतपोरुगतं चित्तं समधियाते वृत्तनिरोधतमायमान समधिपरिणामं भवतीति ।"

--- वडी 40 229 ।

4 - " समधिः पूर्वपरिवृत्तया अवस्थायाः निश्चलैः सर्वार्थं प्राप्तेरित्यतः तोतवर्तमानौ तुर्यो च तौ प्रत्ययो वेति तुल्यप्रत्ययो । एकग्रतया तु चक्षयोः साङ्गयम् ।"

--- वडी 40 290 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। गुणों की विद्यमानता उनकी बलवत्ता है अतः चित्त सर्वथा चञ्चल्य गुणयुक्त है। परन्तु जब चित्त की विघ्न, विक्षिप्त और मूढ़ नामक व्युत्थानश्रुतियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है। "निरोध की प्रक्रिया चित्त की सात्त्विक वृत्ति का ही परिणाम है। निरोध-काल में चित्त व्युत्थान और निरोध रूप उभयवृत्तियों से शून्य रहता है। अर्थात् चित्त की व्युत्थानवृत्तियों चित्त से स्फटिक मणी समान्त नहीं हो जाती। जिस क्रम से उनका हन्य होता है उसी क्रम से क्लेशी वृत्ति उदित होती है इस प्रकार चित्त में निरोधवृत्ति के उदय काल के समय व्युत्थानवृत्ति से ही चित्त शून्य रहता है।

निरोधपरिणाम --- विघ्न विक्षिप्त और मूढ़ चित्त की व्युत्थान श्रुतियों हैं। जब व्युत्थान श्रुतियों में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती हैं उन्हें व्युत्थानवृत्तियों कहते हैं। व्युत्थानवृत्तियों से बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार कहलाते हैं। व्युत्थान-संस्कारों का निरोध, निरोधसंस्कारों से ही होता है। निरोध-संस्कार निरोधवृत्तियों से बनते हैं। इस प्रकार व्युत्थान संस्कारों का तिरौंडित होना तथा निरोध संस्कारों का प्रादुर्भूत होना ही निरोध परिणाम है। इस समय चित्त में केवल सात्त्विक वृत्तियों का प्रवाह होता रहना है। अतः दृश्यी सात्त्विकवृत्तियों का प्रवाह चित्त में होता रहता है फिर भी चित्त के इस अवस्था को "स्थिरचित्त" कहा गया है। सम्भवतः इसका हेतु यह हो सकता है कि इस समय चित्त में अन्य कोई परिणाम नहीं होते। केवल सात्त्विकवृत्ति में ही चित्त का स्थित होना उसकी स्थिरता का द्योतक है।

स सर्वापारिणाम :- चित्त का अनेक प्रकार के अर्थ को ग्रहण करना सर्वापारिणाम है। सर्वापारिणाम का चित्त का विशेष कडा गया है शैथिल्य सर्वापारिणाम के कारण चित्त विषय

- 1 - " निरोधः प्रकृष्टसत्त्वव्यतिगताया वेतसः परिणामः ।" - २१० म० वृ० पृ० २८८१
- 2 - " तदा निरोधकाले चित्तस्योभयवृत्तित्वात्कथयो यः स निरोध परिणाम उच्यते ।" - यही पृ० २८९१
- 3 - " अस्मादाद्युत्थानवृत्तयश्च दृश्यी वेतसो निवृत्तत्वं नास्ति तथाऽपि एवमुक्तः परिणामः शैथिल्युच्यते ।" - यही पृ० २८९१

मूल में ही भटकता रहता है । एकाग्र नहीं हो पाता । जब चित्त से 'सर्वार्थता का वास्तविक विनाश हो जाता है तब चित्त में एकाग्रता का उदय होता है और एकाग्रचित्त किसी एक ध्येयसम्बन्ध में स्थित होकर समर्पित हो जाता है । इस प्रकार सार्विक चित्त का एकाग्रचित्त में होना ही समर्पितपरिणाम है । निरोधपरिणाम की तुलना में समर्पितपरिणाम में विशिष्टता यह है कि निरोधपरिणाम में व्युत्थान संस्कारों का अत्यन्तमूल्य नहीं होता है प्रत्युत उनका नश्वरभाव होता है । अर्थात् उनका प्रभाव कम हो जाता है इसके विपरीत समर्पित परिणाम में सर्वार्थता का वास्तविक विनाश हो जाता है और एकाग्रताका चर्म की उत्पत्ति होती है । समर्पितपरिणाम का लक्षण वेदते हुए इसे सम्भ्रान्त-समाधि के अन्तर्गत मानना चाहिए ।

एकाग्रतापरिणाम :- समर्पितचित्त की एकाग्रता तीनों कालों में कभी रहती है । जिस तरह की बुद्धि अतीतकाल में बनती है तत्पूर्व ही बुद्धि वर्तमान तथा भविष्यत् काल में बनती है । कठने का तात्पर्य यह है कि चित्त अपने ध्येय स्वी अस्तम्भ में इतना एकाग्रमिष्ट होता है कि उसकी बुद्धियों तीनों कालों में समान रहती हैं । इस प्रकार तीनों कालों में समान बुद्धियों का ही उचित संज्ञा चित्त का एकाग्रतापरिणाम है । जब चित्त एकाग्र रहेगा तभी एक तरह की बुद्धियों उचित होंगी और शास्त्र उंगी । यह एकाग्रता समर्पित-चित्त वाले योगी के चित्त में ही हो सकती है । अन्य ब्रह्मबुद्धियों वाले चित्त में नहीं ।

राजमार्तण्डबुद्धि के अन्वय पर ये तीनों परिणाम एकाग्र शुरुवात्तचित्त चित्त में ही होते हैं । सात्विक और एकाग्र चित्त सम्भ्रान्तसमाधि की विशेषता है । अतः सम्भ्रान्त-भाष में इन तीनों परिणामों की स्थिति ग्रामनी चाहिए ।

1 - " सर्वार्थता सन्नसर्वार्थस्य सत्योऽत्यन्ताविशेष एकाग्रतासम्बन्ध चर्मस्य प्रादुर्भावो विष्णुकीर्तिवस्तस्योद्भूतसत्त्वस्यान्वयधितयाऽयस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते । "

-- ११० म० ब० पृ० २१ २ १

2 - " तत्र संस्कारसत्त्वयोर्धर्म योरविशेषप्रादुर्भावो पूर्वस्य व्युत्थान संस्कार रक्ष्य श्यागमायः । २ "

-- वही पृ० २१ २ १

3 - " समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययोद्भूतिसंश्लेषः शास्त्रोऽतीतमध्यात् प्रतिष्ठाः । "

-- वही पृ० २१ ४ १

निवृत्त

चित्त विगुणात्मक है । गुणों के परिणाम से चित्त की परिणामशील है अतः जब चित्त में निरोध का परिणाम होता है तब चित्त उस परिणाम से ही अनुगत होता है । यह प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त पुरुष की तरह कूटस्थ नित्य नहीं है । यह सबैव परिणामशील है । जिस प्रकार की वृत्तियों का प्रवाह होता है उसी प्रकार के प्रकार से चित्त आकर्षित होता है । व्युत्थान-काल में जिस वृत्तियों से चित्त आकर्षित होता है उसे व्युत्थानवृत्तियों कहा गया है । व्युत्थानवृत्तियों से ही चित्त में व्युत्थानसंस्कार कल्पते हैं । ये व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । ये शान्तात्मक नहीं होते ।

“ निरोध-संस्कार ” के चित्त के धर्म होते हैं । प्रत्ययों का निरोध करने से वने संस्कार निरोध-संस्कार कहलाते हैं । ये व्युत्थान-संस्कारों का निराध करने हैं । जब चित्त में के व्युत्थान-संस्कारों की कार्यक्षमता शान्त हो जाती है अर्थात् व्युत्थान-संस्कार शान्त होने लगते हैं तब उनका अभाव होता है और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है । इस प्रकार शक्तिशाली निरोध-संस्कारों के बल से व्युत्थान-संस्कारों से ही चित्त में जो परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहा गया है । निरोध-परिणाम प्रत्ययात्मक नहीं है अतः यह तत्त्वज्ञानसमर्थ का ही परिणाम हो सकता है । निरोध-परिणाम की अवस्था में चित्त की सभी बाह्यवृत्तियाँ निरन्ध्र हो चुकी होती हैं । चित्त में केवल संस्कार ही रह जाते हैं ।

- 1 - “ निरोधस्य (क्रियण) तन्ने हि निरोधधर्ममधीयमानं चित्तं निरन्ध्रयते । अतं गुणवृत्तं गौतं चित्तं गुणवृत्तं चतम् इति अवस्थायां तथा बाह्यवृत्तितयो निरन्ध्रयमानं चित्तस्य परिणामः । ”  
— शिवरत्न पृ० 239 F
- 2 - “ न ह्यपरिणामस्य चित्तस्य धुरन्ध्रत्वं कोटस्ये निरोध उपकल्पते । ”  
— शरी पृ० 239 F
- 3 - “ तथा निरोधगम्या संस्कारः तदवस्थात्मकः चित्तस्यैव धर्मः । ”  
— शरी पृ० 239 F
- 4 - “ प्रत्ययनिरोधाच्च निरोधजः संस्कारः संजायते । तयोः व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः धर्मिणो चित्ते वर्तमानयोः शक्तिवत्-प्रादुर्भावो भवतः । ”  
— शरी पृ० 239 F
- 5 - “ व्युत्थानसंस्काराणांमैव हीयमानतया सर्वथैव सर्वथैव प्रादुर्भूयता निरोधेनेव भवत्वत्वात् निरोधपरिणाम इति समख्यतिम् । ” — शरी पृ० 239 F

समाधिपरिणाम - सर्वर्षिता चित्त का धर्म है । सर्वर्षिता का अर्थ है चित्त में 'सौम्य' और 'अपरर्षि' की योधता का होना । क्योंकि अविद्यमान का विनाश नहीं हो सकता और न ही अविद्यमान का अविर्भाव हो सकता है ।<sup>2</sup> चित्त में सर्वर्षिता की शक्ती है और सर्वर्षिता से मुक्ति पाने की भी योधता रहती है । इसीलिए 'सर्वर्षिता' और 'स्फाप्रता' दोनों को चित्त का धर्म कहा गया है ।<sup>3</sup> इन्द्र का रूप से उपरक्त होकर हावना के आकार को ग्रहण करना ही सर्वर्षिता है ।<sup>4</sup> और निरुद्ध चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय का शास्त्र होना तथा उदित होकर 'स्फाप्रता' है । इस प्रकार समाधि के योध चित्त की 'सर्वर्षिता' के अर्थ हो जाने पर 'तिरोहित' हो जाने पर, और 'स्फाप्रता' के उदित हो जाने पर, चित्त का इन 'द्वय' और 'उभय' रूप परिणामों से अनुगत होना समाधि-परिणाम है । यह सम्मलनसमाधि की अवस्था में होता है ।

स्फाप्रतापरिणाम :- समाधिकाल में ही स्फाप्रता परिणाम भी होता है । समाहितचित्त की जब सभी बाह्यशक्तियों का निरोध हो जाता है तथा समाधिस्थ चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय शास्त्र होते हैं और एव, वेने ही उदित होने हैं तब चित्त में जो परिणाम होता है उसे 'स्फाप्रतापरिणाम' कहा गया है । उक्त परिणाम अर्थ के द्वारा साधक को अतीत जन्मगत का ज्ञान होता है ।

- 1 - " सर्वर्षिता सौम्यवर्गार्थं योश्चान्विचित्रता पित्तधर्मो ।"  
— विश्वरूप पृ० 241 f
- 2 - " न हि किञ्चिद्विद्यमानं विनश्यद्गुणितं, नाविद्यमानमुत्पद्यते ।"  
— वही पृ० 241 f
- 3 - " तयोः क्षयोदयोः क्षमिन्निनानुगतं चित्तम् ।"  
— वही पृ० 241 f
- 4 - " इन्द्रा पुरश्चो रूपं हावनात् ताभ्याम् उपरक्तं चित्तं सर्वर्षिं पुरश्च सौम्यवर्गार्थं भवति ।"  
— वही पृ० 356 f
- 5 - " योऽसौ चित्तेन सर्वर्षितकामताक्षयोदयोरनुगतः स समाधिपरिणामः ।"  
— वही पृ० 241 f
- 6 - " समाहितं चित्तस्य निरुद्धबाह्यशक्तेः पूर्वं प्रकल्पं शास्त्रं तिरोभूतः । उत्तरस्तत्तद्रूप उदितः प्रादुर्भूतः । समाधिचित्तं सम्भयान-विशेषं समाध्यवस्थम् । समाधि-चित्तभुक्त्वोः शास्त्रोदितत्वोः प्रत्ययोः अनुगतम् ।"  
— वही पृ० 241 f

योगवर्तिक

अज्ञान तत् और सम्प्रदाय दोनों समवेद्यों में निरोधपरिणाम होता है । सम्प्रदाय में भी चित्तवृत्तियों का निरोध होता है । अतः इन समवेद्य में निरोधपरिणाम होता है और अज्ञानता में तो सम्प्रदाय का भी निरोध होता है तथा केवल निरोध-संस्कार धरे रह जाते हैं । अतः इसमें भी निरोधपरिणाम होते हैं । चित्त की स्थिरता के लिए निरोधपरिणाम का महत्वपूर्ण स्थान है । सम्प्रदायतन्त्र में भी निरोधपरिणाम होता है, इसके पक्ष में तर्क होते हैं कि यदि सम्प्रदाययोग को भी निरोधपरिणाम से सम्प्रदाय नहीं खोकार करने हैं तो इसे योग की कौटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि योग का अर्थ ही है — 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगः' और चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रदायसमवेद्य में ही होता है अतः सम्प्रदायसमवेद्य में भी निरोध की आवश्यकता सिद्ध होती है । व्युत्थानसंस्कारों का अधिकार और निरोध-संस्कारों का ही दुर्बल क्रमता होता है । व्युत्थानसंस्कारों का क्रम से हटा होता है वह नहीं । इसी प्रकार निरोधसंस्कारों को क्रमता बुद्धि होती है, चित्त की इस अवस्था को ही निरोधपरिणाम कहा गया है ।

समाधिपरिणाम — योगहीनभूतसमवेद्य की प्रारंभिक अवस्था में समाधिपरिणाम होता है । चित्त की स्थिरता का क्रमता कम होता है और क्रमता ही चित्त एकता भी होता है । इस प्रकार क्रम से चित्त का स्थिरता से एकता का भी और बुद्धि प्राप्त होने पर चित्त समवेद्य कहलाता है । समवेद्यचित्त ही इस अवस्था को ही समाधिपरिणाम कहा गया है ।

एकत्वतापरिणाम :- परिनिष्ठित योगहीनभूत में एकत्वतापरिणाम होता है । सर्वार्थता का पूर्ण क्षय ही ज्ञान कर एक ही प्रकार के ज्ञान का उदित होता तथा साम्य होता तथा बुद्धि के ही ज्ञान का उदित होता एकत्वतापरिणाम है । सम्यक् का अर्थ यहाँ 'सजातीय' किया गया है ।

- 1 - " तथा च व्युत्थानं निरोधस्य योगव्यवसाधारण एवात्र भाव्यम्, किञ्चत्प्राप्तव्यवसाय-व्यनिरोधव्यवसाय मध्ये स सम्प्रदायसमवेद्योऽप्य परिणामकथयमान्भूयता इति ।" — योगवृत्तौ 287 f
- 2 - " तेन सम्प्रदायसमवेद्यस्य संस्कारजनकत्वे हि तत्कालीनसंज्ञानस्य संस्कारस्य निरोधसंस्कारस्य च भूयन्मार्गितम् ।" — वही पृ 288 f
- 3 - " व्युत्थानसंस्कारस्य बुद्ध्यात् क्रमेण इत्यो न तु बुद्धः, निरोधसंस्कारस्य बुद्ध्यात् क्रमेण बुद्धिः, तां निरोधपरिणामो निरोधकालीनपरिणामः ।" — वही पृ 287 f
- 4 - " योगहीनसमवेद्यस्य संपरिणामं अर्थात् ।" — वही पृ 289 f
- 5 - " सर्वार्थतायां तदनुभवेऽपि एकत्वता इति, मायि एकात्मतायां निष्कलितवेकता इति, किं तु एकत्वमेवात्र अर्थात् ।" — वही पृ 289 f
- 6 - " सर्वार्थतापरिणामस्योपरिपरिणामकत्वं उच्यते इति चानुगुणं यत्समवेद्यमेव स समाधिपरिणामः ।" — वही पृ 289 f
- 7 - " इदानीं प्रसंगमात्रेण परिणामान्तरमुक्तं परिणामान्तरमात्रम् ।" — वही पृ 290 f

### योगवीथिका

इस व्याख्या में श्री 'शुक्लान्' और 'निरोध' का प्रथम 'सम्भ्रान्त' और 'सम्भ्रान्त' योग के अर्थ में किया गया है । 'अधिपत्त' और 'प्रादुर्भाव' का अर्थ 'इस' और 'दुर्बल' अर्थ किया गया है । इस प्रकार 'सम्भ्रान्तस्य' शुक्लान्-संस्कार का इस और अवस्थातयोः स्य निरोध-संस्कारों को दुर्बल गति समीप में होने से उसे 'निरोधपरिणाम' कहा गया है । क्योंकि तब ही तब चित्त में जब इस तरह का परिणाम प्रतिफल अर्थात् निरन्तर होता रहता है तभी निरोध-परिणाम होता है । केवल एक बार यदि एक शुक्लान्कृति का प्राप्त और निरोध-संस्कार का उक्त होता है तो उसे निरोध-परिणाम नहीं कहा जा सकता । जब प्रतिफल यह कि वह चित्त में होती रहती है तब ही निरोध-परिणाम होता है । सम्भवतः इसीलिए इस व्याख्या में शब्द के लिए इस तथा प्रादुर्भाव के लिए दुर्बल शब्द का प्रयोग हुआ है । लगातार हीयमान को ही इस कहा जा सकता है और लगातार बढ़ते रहने को दुर्बल कहते हैं ।

समीपपरिणाम :- अंग-समीप को अवस्था में ही समीप-परिणाम होता है । सभी विषयों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नहीन होना ही निश्चितता है । निश्चितताविस्था में साधक सतिरिक्त उपकरणों के प्रति अक्षुब्ध हो उन्हीं में सुख की कल्पना करके उनको प्राप्त करने के लिए लक्ष्य रहता है । परन्तु जब किसी तरह साधक को यह अंग प्राप्त हो जाता है कि निश्चितता का परिणाम सुख है तो वह उसे विमुक्त

- 1 - " शुक्लान् निरोधस्य योगव्यवसायारण्येवान् आह्वयम् । " - योगी ० पृ 6 अ  
 2 - " तथा च शुक्लान्संस्कारस्य अतो दुर्बल निरोध संस्कारस्य दुर्बल निरोध-  
 फलानः परिणामः । " - वही पृ 6 अ  
 3 - " स च निरोधस्यैवैकअभिप्रायैव चित्ते चित्ते इत्यस्यैवसाधैर्वप्रतिपादनाय  
 विसर्गम् । निरोधस्य प्रतिफलमिहाह्वयपरिणामसाधाय निरोधस्यैवमुक्तम् । " - वही पृ 6 अ  
 4 - " अंगसमाधेरवस्थायां विरोधनाह । " - वही पृ 6 अ



हो। समग्रि के लिए धूल करने लगता है। जब सर्वार्थता अर्थात् विशिष्टता का प्रतिरूप निरोधक होने लगता है और एकाग्रता का अतिवर्धन होने लगता है, उस समय चित्त की जो स्थिति होती है उसे 'समग्रिपरिणाम' कहा गया है।

एकाग्रतापरिणाम — अग्र-समग्रि का ही उत्तरकालीन परिणाम एकाग्रता-परिणाम है<sup>2</sup>। जब सर्वार्थता का पूर्ण रूप से अन्त हो जाता है और चित्त में सजातीय-धन ही शान्त होते हैं तथा उचित होते रहते हैं तब जो परिणाम चित्त में होता है उसे 'एकाग्रतापरिणाम' कहा गया है<sup>3</sup>।

पारलज्जयोगसुप्रवृत्ति

निरोधपरिणाम अस्मत्कालयोग का अन्तिम रूप है। अस्मत्कालसमग्रि की तुलना में अस्मत्कालसमग्रि व्युत्थानरूप है, अस्मत्कालसमग्रि में अस्मत्कालसमग्रि का जो निरोध ही जाता है और चित्त में केवल निरोध-संस्कार अविश्रुत रह जाते हैं। जब सभी क्षणों में केवल निरोध-संस्कार ही चित्त में रहें तब निरोध-परिणाम होता है अर्थात् अस्मत्काल का ही चित्त के परिणाम का ही 'निरोधपरिणाम' कहा गया है।

समग्रिपरिणाम — अंगभूतसमग्रि की अवस्था में चित्त में समग्रिपरिणाम होता है। सर्वार्थता का अर्थ इस व्याख्या में भी विशिष्टता किया गया है। विशिष्टता का प्रतिरूप निरोध और एकाग्रता का अतिवर्धन होने पर चित्त में जो परिणाम होता है उसे समग्रिपरिणाम कहते हैं<sup>4</sup>।

एकाग्रतापरिणाम — अंगभूत-समग्रि की ही परिमितरूप वशा एकाग्रता-परिणाम है। इस समग्रि में सर्वार्थता का अन्त अन्त हो जाता है और चित्त में जब सजातीय प्रकाश ही उचित तथा नभ-होते रहते हैं तब एकाग्रतापरिणाम होता है<sup>5</sup>।

1 - "सर्वार्थता विशिष्टता तथा प्रतिबन्ध अयत्ननिरोधो भवति। एकाग्रतापरिणामो भवति। अर्थ समग्रिकालोत्पत्तिपरिणाम इत्यर्थः।"

— योगवीथिका पृष्ठ 63 F

2 - "अंगसमाधेरेकोत्तरपरिणामास्मत्कालीन परिणामस्मत्कालः।" — वही पृष्ठ 66

3 - "ततः सर्वार्थतायां निरोधतः अथे सति शान्तेतिवती चित्तोत्पत्तौ सुखप्रत्ययसंस्कार प्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रताकालीनः परिणामो भवति।" — वही पृष्ठ 63 F

4 - "समग्रितोऽप्युत्थानरूपम्। तत्र व्युत्थानकालीनसंस्काररूपेण च चित्तस्य परिणामः। सर्वज्ञानेषु च निरोधसंस्कारे तत्त्वसंस्कारे चित्तस्य तत्राभेद इत्यर्थः।" — योगवीथिका पृष्ठ 62

5 - "सर्वार्थता विशिष्टता तथा प्रतिबन्ध अर्थः निरोधश्च। एकाग्रतापरिणामो भवति। अर्थ समग्रिकालोत्पत्तिपरिणाम इत्यर्थः।" — वही पृष्ठ 63 F

6 - "ततः सर्वार्थतायां निरोधतः अथे सति शान्तेतिवती चित्तोत्पत्तौ सुख

मणिप्रकाश

मणिप्रकाश सम्प्रदायसमाधि को व्युत्पन्न समझे हैं । इस व्युत्पन्न-समाधि का निरोध परबेराथ से होता है । परबेराथ से सम्प्रदायसमाधि का निरोध होने के उपरान्त सम्प्रदायसमाधि का अविर्भाव होता है ।

शून्य सम्प्रदायसमाधि व्युत्पन्न रूप है अतः इस समाधि में कभी कुछ वृत्तियों तथा उनके संस्कार व्युत्पन्न-संस्कार हुए । परबेराथ व्युत्पन्नस्य सम्प्रदायसमाधि का निरोधक है अतः परबेराथ रूप निरोधक से कभी संस्कार निरोधसंस्कार हुए । इस प्रकार सम्प्रदायसमाधि व्युत्पन्नसंस्कारों पर परबेराथ रूप निरोध संस्कारों से निरोध होने पर चित्त में निरोध-परिणाम होता है । यह निरोध-परिणाम चित्त को निर्बीज-समाधि में डालता है ।

समाधिपरिणाम — चित्त की विविधवृत्तियों में चित्त सभी विधियों के प्रति अलग अलग उन्हीं को प्राप्त करने में व्यस्त रहता है । इस प्रकार की वृत्तियों की सर्वाध्यायिता कहलाती है । चित्त में यह वृत्तियाँ भी रहती हैं अतः ऐसे चित्त का धर्म कहा जाता है । एकाग्रता को चित्त का ही धर्म है । एकाग्रता अवस्था में चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् चित्त में प्रकृत सत्त्विक वृत्तियाँ शेष रह जाती हैं जो ध्यायार्थमात्र में एकाग्र हो जाती हैं और परिणामतः फिर चित्त समाधिस्थ हो जाता है ।

चित्त के उक्त दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय ही समाधि-परिणाम है । 'क्षय' का अर्थ 'तिरोभाव' किया गया है । उदय का अर्थ 'प्रादुर्भाव' अर्थात् न तो सर्वाध्यायिता का विनाश होता है और न ही एकाग्रता की उत्पत्ति होती है ।

प्रादुर्भावो एककारप्रदुर्भावो चित्तस्थैकाग्रता स्थानिकः परिणाम इत्यर्थः । समाधौ एको  
 नश्यति अपर उत्पद्यते इत्येकस्थैत्यर्थः पूर्वधर्मापत्ते धर्मस्तरौत्पत्तिरेव परिणाम इति भावः ।  
 - पारमार्थिकसंग्रहचिन्ता पृ० 63 f  
 1 - " व्युत्पन्नं सम्प्रदायः । स निरव्ययते येन तत्परबेराथस्य निरोधः । तत्र यथा  
 परबेराथ-रूपवृत्त्या सम्प्रदायसमाधिसंस्कारस्य अविर्भावे सति परबेराथसंस्कार एवाविर्भवतः ।  
 सम्निर्बीज " निरोधपरिणाम" इति भावः । " -- मणिप्रकाश पृ० 53 f  
 2 - " चित्तस्य सर्वाध्यायिता मानादर्थाकारणं विविधवृत्तयोर्धर्मः । एकाग्रता  
 यद्यमात्रो धर्मः । तयोर्धर्माणाम् 'क्षयोदयो' तिरोभाव प्रादुर्भावो, न सतो विनाशो नागत  
 उत्पत्तिरस्ती । " समाधिपरिणाम " इत्यर्थः । " -- वदो पृ० 54 f

ये दोनों चित्त के धर्म हैं । जो चित्त में इच्छा विद्यमान रहते हैं । स्वप्न अवस्था में सर्वाधिता बच जाती है, निरोधित हो जाती है और स्वप्नता बचत हो जाती है । इस प्रकार सर्वाधिता का निरोधित होना और स्वप्नता का अतीवृत्त होना ही समीचीन-परिणाम है । समीचीनपरिणाम की स्थिति के विवेचन के अन्तर्गत पर-अस परिणाम<sup>को</sup> सम्बन्धत समीचीन के अन्तर्गत ही होना चाहिए ।

स्वप्नतापरिणाम -- निरन्तर एक ही प्रकार की वृत्ति का उदय होना शक्य होना पुनः उदय होना चित्त की स्वप्नता का द्योतक है । अतः इस तरह का परिणाम स्वप्नतापरिणाम है । यह स्वप्नतापरिणाम सम्बन्धतयोग में होता है ।

### योगसूत्रार्थवेदीधनी

सम्बन्धतसमीचीन को असम्बन्धतसमीचीन की तुलना में 'व्युत्थान' मन्ना गया है । 'परबेदाय' द्वारा सम्बन्धतसमीचीन का भी निरोध हो जाने पर असम्बन्धतसमीचीन होते हैं । इस प्रकार व्युत्थान-संस्कारों का अभाव तथा निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होने पर ही निरोध-परिणाम होता है । यही पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस समय चित्त में दोनों क्रियाएँ साव-साध होती रहती हैं अतः इस समय चित्त व्युत्थान-वृत्तियों के अभाव तथा निरोध-संस्कारों के प्रादुर्भाव से अभाव रहता है । अर्थात् दोनों क्रियाएँ साव-साध होती हैं । ऐसा नहीं कि एक की सम्पत्ति हो जाने पर दूसरे का अभाव हो । जब सभी व्युत्थान संस्कारों का अभाव हो जाता है तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही स्थिर रूप में विद्यमान रह जाते हैं । चित्त की इस अवस्था को ही निरोध-परिणाम कहा गया है । यह असम्बन्धतयोग अथवा निर्दिग्धसमीचीन का परिणाम है ।

1 - " चित्तस्य निरन्तरत्वेन वृत्तिसप्तपदेकीधिसप्तपदेकाप्रताऽऽद्यः परिणाम इत्यर्थः । "

-- मीमांसा पृ० ५४ १

2 - " व्युत्थानसंश्लेषतः । स निरव्ययते येन तत् परं बेदाय निरोधः । "

-- योगसू० बो० पृ० ३६ १

3 - " तत्र यथा व्युत्थानाऽभिभवो निरोधप्रादुर्भावश्च क्वतस्तथा निरोधसंस्काराणां संश्लेषतश्च क्षेपनावलयेन युक्तं चित्तं भवति । "

-- वही पृ० ३६ १

4 - " सर्वात्मना व्युत्थान-संस्काराविषये सति निरोधस्यैवमाह । "

-- वही पृ० ३६ १

समर्थपरिणाम - विक्षिप्तत्वस्था में चित्त अनेकों प्रकार के विकृतियों में आसक्त रहता है । चित्त की इस प्रकार की प्रवृत्ति का क्रम से साथ प्रत्यक्ष तिरोहित हो जना और चित्त में एकप्रता का प्रादुर्भाव होना 'समर्थपरिणाम' है । समर्थ-परिणाम सम्प्रदातसमर्थ का ही परिणाम है ।

एकाग्रतापरिणाम - एकाग्र मन में एक ही प्रकार की वृत्तियों का निरन्तर उदित होना तथा शान्त होना एकाग्रतापरिणाम है । एक ही प्रकार की वृत्ति के उदय और शान्त होने से चित्त की एकप्रता बनी रहती है । अतः इस प्रकार की स्थिति को एकाग्रतापरिणाम कहा गया है ।<sup>2</sup>

### योगसिद्धान्तप्रतीका

निरोधपरिणाम निर्विकसमर्थ कालीन परिणाम है । चित्त की चिन्त, सुषु और विक्षिप्त के चैद से तीन प्रकार की व्युत्थानभूमियाँ कही गयी हैं । अतः अज्ञान की तुलना में सम्प्रदात की व्युत्थान स्थ है ।<sup>3</sup> निर्विक-समर्थ में उन तीनों व्युत्थान-भूमियों का निरोध करने के साथ-साथ सम्प्रदातकालीन अवस्था का ही निरोध किया जाव है । विक्षिप्त तीनों भूमियों का नाश हो जाता है अर्थात् उनका समूल विनाश हो जाता है और सम्प्रदातकालीन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध 'इस' स्थ का होता है ।<sup>4</sup> अर्थात् ये धीरे धीरे क्षीण होती घटती हैं । व्युत्थानकार मे 'अभिभव' का 'वाह' और 'वास' दोनों अर्थ किया है । इस प्रकार इन व्युत्थानवृत्तियों तथा संस्कारों का वाह और इतरस्थ अभिभव होने के साथ परबैराध्यजीनत निरोध संस्कारों का अभिभव होना ही निरोध-परिणाम है ।<sup>5</sup> निरोधकाल में अभिभव और प्रादुर्भाव की क्रिया क्रम से वृष्टि

1 - " चित्तस्य सर्ववर्तिना नानार्थकारत्वं विक्षिप्तत्वस्थो धर्मः । एकाग्रतात्वस्थमनो-धर्मः । तयोर्धर्माकृम कयोर्वयोर्निरोधानप्रादुर्भावौ समर्थपरिणाम इत्यर्थः । "

-- सू० चो० पृ० 36 F

2 - " तुषुप्रवृत्तयोः चित्तस्य निरन्तर्येण वृत्तित्वयमेकविकल्पमेकप्रतास्य परिणाम इत्यर्थः । "

-- वही पृ० 36 F

3 - " विक्षिप्तपृथुर्विष्यन्तारब्धं क्षीमन्तं व्युत्थानम् । तस्य अज्ञाननिरोधस्य सम्प्रदातस्य निरोधः परबैराध्यं सम्प्रदातौ निरन्तर्यते तेनेति व्युत्थ-त्वेः । "

-- योगसि० चो० पृ० 110

4 - " अभिभवः विक्षिप्तविकल्पस्य वाहः संघनातव्य तु इति । "

-- वही पृ० 11

5 - " एतौ द्वौ काले वीर्यवर्तौ निरोधपरिणामः । "

-- वही पृ० 110 F

प्राप्त करती है। इस प्रकार व्युत्थान-संकारों के त्याग तथा निरोध-संकारों का त्याग होने से निरोध-परिणाम एक सर्वमान्य अवस्था की प्राप्ति होती है<sup>1</sup>। निरोध-परिणामकाल में चित्त निरोध-परिणामों से अभिन्न होता है, क्योंकि यह परिणाम जी तो चित्त में ही होता है। अतः चित्त का तत्कालीन निरोध-परिणाम से अभिन्न होना स्वाभाविक है। योगकाल में चित्त स्थिर तथा स्थान्य होता है। चित्त अन्य परिणामों से अयुक्त रहता है<sup>2</sup>।

समाधिपरिणाम - 'योगीश्वरसमीप' का परिणाम 'समाधिपरिणाम' है। विषयों को मग्न करने की अवस्था इच्छा ही सर्वार्थत्व या चित्तित्यता है। चित्त का एक विषय में निष्ठ होना एकत्वता है। इन दोनों प्रकार की स्थितियों का क्रम से अग्र और उदय ही चित्त का समाधिपरिणाम है।<sup>3</sup>

एकग्रतापरिणाम - सर्वार्थता का पूर्ण स्वेष अग्र ही जगत् एक - वस्तु विषयक सङ्गा प्रत्यय का ही उचित ईशित तथा शान्त होना चित्त का एकग्रता परिणाम है।<sup>4</sup> 'एकग्रतापरिणाम' अंगसमाधि की परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है।

1 - " व्युत्थानत्यागेन निरोधसंकाररुद्धधर्म्य तावत् । तत्र धर्म्य वर्तमानावस्था-  
प्राप्तेऽग्रह ।" - योगीश्वरसाम्प्रति ५० ११० १

2 - " निरोधकालीनः परिणामः । स च निरोधकालचित्तत्वव्ययः । निरोध-  
कालेषु कश्चिन्नित्तु स्थिते चित्तैः अभिन्नः इत्यर्थः ।" - यही ५० ११० १

3 - " सर्वार्थतावतवत्त्वान्नाधिधर्ममहवरक्षा चित्तित्यता एकत्वता एकग्रविषयता-  
सर्वोर्था कर्म व्योदयो निरुक्तप्रकारत्वाविशेषप्रादुर्भावो चित्तस्य योगीश्वरसाम्प्रति परिणाम-  
इत्यर्थः ।" - यही ५० १११ १

4 - एतौ कृतवन्तौ तौ तद्गुणानौ तुस्तदव्ययो एकवस्तुविषयकत्वेन सङ्गतौ प्रत्ययो  
चित्तस्यैकग्रतावतकालीनः पुनः परिणामो भवति । तजद्विधः एकैकः प्रत्ययो भवति,  
अप्येकव्यक्तोत्पन्नत इत्येव परिणामो भवतीत्यर्थः ।"

- यही ५० १११ १

भाष्यतो

चित्त की अवस्था जिसमें सम्भवात् रक्ष्य व्युत्थान-संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोध-संस्कारों की वृद्धि होतीहै उस निरोधवृद्धि रक्ष्य चित्त के परिणाम को 'निरोधपरिणाम' कहते हैं ।

चित्त की विविध तथा रूपाग कृमियों में चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहते हैं । इन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध परबेरा रक्ष्य निरोधक प्रयत्न द्वारा होताहै । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध तथा निरोध-संस्कारों की वृद्धि ही, 'निरोधपरिणाम' है । इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार बंध रह जाते हैं । इस अवस्था में चित्त में कोई ज्ञानात्मकवृत्ति नहीं बनती । फलतः ज्ञान संस्कारों का भी अभाव हो जाता है । इस प्रकार निरोधपरिणाम असम्भवात्समाधि की ही अवस्था विरोध है ।

समाधिपरिणाम — इन्द्रियों का एक साथ ही विषयों की तरफ संघर्ष हीना होना सर्वविधा है । सर्वार्थता का अर्थ तथा रूपागता का उचित होना ही समाधि-परिणाम है । समाधि-परिणाम सम्भवात्समाधि में होता है । 'सर्वविधा' शब्द का अर्थ भाष्यतीकार ने युगपद् अर्थात् एक साथ ही सभी इन्द्रियों का विविध विषयों को ग्रहण करने के लिए क्रियतमेव होना किया है ।

रूपागतापरिणाम — रूपागतापरिणाम समाधिवृत्त में होता है । इस समय चित्त के जिसज्ञा प्रत्यय उत्पादक धर्म का अर्थ हो जाता है और सङ्घा प्रत्ययोत्पादक धर्म का उदय होता है । इस समाधि में सर्वार्थतारूप प्रत्ययों के संस्कारों का अर्थ होता है तथा रूपागतारूप प्रत्यय वृद्धि को प्राप्त होती हैं ।

1 - " निरोधेप्रत्ययाभावात् संस्कार-धर्माभावान् परिणाम रूपाग धर्मविविधत्वमेव विदुः । "

— भाष्यतो पृ० 291 ।

2 - " प्रत्यय धर्मिणां संस्कार-धर्माभावान्प्रयावात्, सर्वार्थतामेव समाधिवृत्तमेव समाधिवृत्तान् संस्कारः सम्भवात्प्रत्ययः समाधिपरिणाम एव विदुः । "

— वही पृ० 292 ।

3 - " विसङ्घाप्रत्ययोत्पादधर्मश्च अर्थः सङ्घाप्रत्ययोत्पादधर्मोपपन्न इत्यर्थं चित्तधर्माध्यायश्च, - - - - - समाधी - विसङ्घाप्रत्ययानां सङ्घोत्पत्त्यर्थं तावत् रूपागतापरिणामस्यः समाधिर्भवति । "

— वही पृ० 293 ।

स्वामीनारायणभाष्य

श्रीकृष्णवत्सलाचार्य के अनुसार चित्त की क्षिप्त, भ्रू, विक्षिप्त तथा एकाग्र-भूमि यों व्युत्थानरूप है । एकाग्र-भूमि को भी व्युत्थान इस लिए मानते हैं क्योंकि एकाग्र-भूमि में होने वाली सम्बन्धतसमोधि असम्बन्धत की तुलना में व्युत्थानरूप है । अतः सम्बन्धत काल में चित्त में बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार हुए । इन व्युत्थान-संस्कारों का काम ले अधिकत्व तथा असम्बन्धतसमोधि निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव ही 'निरोधपरिणाम' है । 'अधिकत्व' का प्रयोग इन्होंने तनुभावता के अर्थ में किया है । अर्थात् जब व्युत्थान-संस्कारों का प्रभाव इच्छा होने लगे तब व्युत्थान-संस्कारों की इस तनुभावता को उनका अधिकत्व प्राप्त होना कहते हैं । 'प्रादुर्भाव' का अर्थ वर्तमान काल में अधिकत्व होना दिया है । अतः दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ, व्युत्थानसंस्कारों के तनु होने पर, इसके पक्ष जाने पर निरोधसंस्कारों का अधिकत्व होना ही चित्त का 'निरोध'परिणाम है । निरोधपरिणाम की अवस्था में चित्त में केवल निरोधसंस्कार ही रह जाते हैं । निरोधपरिणाम के लक्षण के अन्तर्गत पर यह परिणाम असम्बन्धतसमोधि में होता है । निरोधावस्था में चित्त स्थिर रहता है ।

समोधिपरिणाम

क्षिप्त-भ्रू और विक्षिप्त भूमियों में ही चित्त विमर्शों के प्रति प्रवृत्त रहता हुआ चलत रहता है । क्षिप्तवि तीनों भूमियों में चित्त की चलता ही सर्वाधिक है । जब क्षिप्त, भ्रू और विक्षिप्तभूमियों का ध्य हो जाता है और चित्त एकाग्र भूमि में स्थित हो सम्बन्धतसमोधिनिष्ठ हो जाता है तब चित्त की इस अवस्था को परिणाम को समोधिपरिणाम कहते हैं । समोधिपरिणाम और सम्बन्धतसमोधि दोनों ही चित्त की

1 - " व्युत्थान - क्षिप्तमूर्धविक्षिप्तमित्ति चित्तभूमिकलायाम्, तथा सम्बन्धतसमोधिनिष्ठ-भूमिकालीन व्युत्थान, तथा असम्बन्धतसमोधिनिष्ठव्या व्युत्थानत्वमित्ति । निरोधो नाम पंचको चित्त-भूमिः । " — स्वामीनारायण-भाष्य - पृ० 270 ।

2 - " अधिकत्वोनाम तनुभावतया, प्रादुर्भावोनाम वर्तमानावस्थाव्यापकव्यक्तित्वम् तथाऽऽधिकत्वम् । " — वही पृ० 270 ।

3 - " यावत्कालं निरोधावस्था तावत्कालं तावत्कालं निरोधपरिणाम इति । " — वही पृ० 270 ।

एकामूर्तियों में चर्चित होते हैं जिनमें समीपपरिणाम को सम्बन्धितमूर्ति भी कहा जा सकता है ।

एकाग्रतापरिणाम :- समीकृतचित्त में सद्गुरुवृत्तिविशेष का उचित होना तथा शान्त होना चित्त को एकाग्रतापरिणाम के अर्थात् एकाग्र चित्त में केवल सतीत्यकवृत्ति का प्रवाह बना रहना है । उस समय जब सजातीय चक्षु-विशेष ही शान्त होकर पुनः उचित होते रहें जब ओ परिणाम होता है उसे 'एकाग्रता-परिणाम' कहते हैं ।<sup>1</sup> चित्त की एकाग्रता वृत्ति विशेष के उचित होने तथा तिरोहित होने समय समस्त शक्ति से धनी रहती है । उसकी एकाग्रता में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि वृत्तियाँ ही एक ही समझ होती हैं ।

1 - " एकाग्रतायस्य चतुर्दशभूमिकाया उदयो वर्तते तथा चित्तस्य समीप-परिणामो वर्तते, चित्तं तस्य समीपकं जायते, मोक्षमेक-आगतस्य स्यात्कथं तस्य सम्बन्धित-समीप परिणाम इत्युच्यते । "

— स्वामीभारतीय-भाष्य पृ० २७० ।

2 - उच्चान्तवृत्तिविशेषो न्यक्षमेव चित्तमेकाग्रं वर्तते यत् तच्चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते । "

— यही पृ० २७० ।



केवळपाठ  
महाराष्ट्र

निर्माणिक्य और निर्माणीचित्त का विवेचन  
 अन्तिम संस्करण, अन्तिम संस्करण, अन्तिम संस्करण, अन्तिम संस्करण, अन्तिम संस्करण

व्यासभाष्य

निर्माण का साधारण अर्थ प्राकृतिक रूढ़ बनाना है । परन्तु निर्माणिक्य और निर्माणीचित्त दोनों के प्रयोग में 'निर्माण' को पूर्णतया इसी अर्थ में नहीं लिया गया है। यहाँ निर्माण का अर्थ है - ब्रह्मरूप के द्वारा भौतिक शरीर से निम्न शरीर या शरीरों का निर्माण करना । जन्म, मौल्यधि, मन्त्र, तप और समधि से सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्ध अपने पूर्व शरीर को त्याग कर सिद्धजन इच्छित, नूतन शरीर को धारण कर सकते हैं । इन सिद्धियों के फलस्वरूप निर्मित इन्हीं शरीरों और चित्तों के लिए क्रमात् 'निर्माणिक्य' और 'निर्माणीचित्त' नामक संज्ञायें हैं ।

सिद्धलोग अपनी सिद्धियों के द्वारा पूर्व शरीर को त्याग कर नूतन इच्छित शरीर का निर्माण कर लेते हैं । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृत्यात्पूर से होता है । 'प्रकृत्यात्पूर' का तात्पर्य है प्रकृति के तत्त्वों का अनुप्रवेश । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृति के ही तत्त्वों से हुआ है अतः मनु शरीर के निर्माण में भी प्रकृति के तत्त्वों का अनुप्रवेश होता है तभी मनु शरीरेन्द्रिय का निर्माण होता है । पथ महापूर्वों से स्थूल शरीर का निर्माण होता है और अस्मितातत्त्व से इन्द्रियों का निर्माण होता है इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न विकारों से शरीरेन्द्रियों का निर्माण होता है ।

सिद्धयोगी के शरीरेन्द्रियों के निर्माण के समय योगप्रवर्तकानि निर्मितकारण बनते हैं । योगी के धर्मसंस्कारों से प्रकृति में जो प्रतिबन्ध लगा रहता है, उन प्रतिबन्धों को धर्म संस्कार ही दूर करते हैं । योगप्रवर्तकानि निर्माणिक्य में प्रकृति के प्रयोजक या प्रेरककारण नहीं बनते प्रत्युत निर्मित कारण ही बनते हैं । क्योंकि,

। - पूर्वपरिणामाया उत्तरपरिणामोपजमस्तेषामपूर्वाविद्यमानुपवेशाद्भवति ।  
 कश्चिन्द्रिय प्रकृत्यात् स्व स्व विकारमनुगृह्यन्त्यात्पूरेण धर्मविकीर्णमित्येषां समागता इति ॥

योगजकार चित्त के कार्य हैं अतः योगजकार प्रकृत्यापूर में प्रयोज्य न बनकर निर्मितकारण बनते हैं । अभिमतारङ्ग प्रकृति, चित्त का कारण है । अतः योगजकार प्रकृति के प्रेरक न हो कर निर्माकण्य और निर्माचिह्न की रचना में निर्मितकारण की भूमिका भवा करते हैं ।

प्रत्येक निर्माकण्य सचिह्न होते हैं । जिस्ने शरीर का निर्माण निरूप लोग करते हैं उतमे ही चित्त का भी निर्माण करते हैं । अनेकों निर्मित चित्तों का प्रेरक प्रमुख चित्त होता है । यह प्रमुख चित्त ही अन्य निर्माक-चित्तों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है । जन्म, श्रेष्ठ्य, मरण, तपस्या से निर्मित चित्त क्रमशः युक्त हैं अतः ये कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं हैं । योग्य चित्त ही प्रयाग्य हैं अतः योग्यचित्त ही कैवल्य के लिए उपयोगी हैं ।

### तत्त्वज्ञानरथी

वाचस्पतिमिश्र ने जन्म से ही सिद्धि प्राप्त वैश्वि वेद को निर्माकण्य नहीं माना है । निर्माकण्य का अर्थ है अपने शरीर को त्याग कर मया शरीर निर्माण करना या उसी के रहते हुए अन्य शरीर का निर्माण करना । वाच्यकार से प्रथक विचार रहते हुए इन्होंने पाँच प्रकार की सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माकण्य नहीं छोड़कर किया है । ये निर्माकण्य और निर्माचिह्न चार प्रकार का ही मानते हैं । श्रेष्ठ्य, जन्म, तपस्या और स मर्ष से ही शरीरेन्द्रिय का अन्य जातीयक परिणाम होता है । एक शरीर का प्रयाग्य होने पर पुनः मर शरीर का निर्माण पूर्व शरीर के अवयवों से ही नहीं हो जाता अतः प्रकृत्यापूर का महत्त्व यहाँ इतिकार किया गया है । प्रकृति के

1 - 'अभिमतारङ्ग' चित्तकारणमुपाशय निर्माचिह्नस्तानि करोति । ततः सचिह्नानि चकन्तीति ।" — ब्यासभाष्य पृ 401 ।

2 - " अथ अतपुषु तिसृष्वशोभयाचित्तघनानु तेषामेव कश्चिन्नयानां जायन्तर-परिचिह्निरथते ।" — तत्वो ५० 398 ।

तलों का अनुप्रवेश आकाशिक रूप से नहीं होता है प्रत्युत एक शरीर का अवशय होने पर दूसरे शरीर के निर्माण के लिए प्रकृति के तलों का अनुप्रवेश होने पर ही निर्माणकत्व समते हैं ।

सभी निर्माण-कण्य संचित होते हैं । चित्त को जहाँ 'जन्म' भी कहा गया है । प्रत्येक निर्माणकण्य का अलग-अलग मन होता है । इन सभी निर्माण चित्त या मन का एक मायक मन होता है जो निर्माणमन को निर्देश देता रहता है । तात्पर्य यह है कि एक मायक मन ही अथ सभी निर्माणकण्यों में प्रसूत रूप में व्याप्त रहता है । शैथिल्य निर्माण कण्यों के निर्माणचित्त की मायक चित्त के ही निर्देशानुसार कार्य करते हैं अतः परावर्द्धरूप से मायक चित्त की सहा सभी निर्माण कण्यों में व्याप्त है ऐसा मानना चाहिए ।

### राजमातृप्रकृति

जितनी सिद्धियों का रूप में उल्लेख है सभी जनेकों प्रकार के 'जन्म' को देने वाली हैं ।<sup>3</sup> साक्ष को जितनी की सिद्धियाँ इस जन्म में प्राप्त होती हैं वे सभी पूर्वजन्म में किए गए समधि के लक्षणा का परिणाम है अर्थात् पूर्व अवस्था समीप से ही साक्ष को अपने जन्म में पाँच सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं । जिनके द्वारा निश्चय अपनी उपायानुसार सर्वमान जन्म में ही अथ आनीयक शरीर धारण कर लेते हैं । ज्ञात्यन्तर परिणामप्रकृत्यापूर से होता है । जिनसे जन्म की प्रकृति ही इस जन्म में विकारों को आपूरित कर लेती है । सिद्धयन्तः एक मायक ही जनेकों प्रकार के कर्मों का

1 - "कदाश्च ष्टैः प्रकृतिः पृथिव्यादेति भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरविमता तदवयवानुप्रवेशात् प्रापूरस्तस्माद्भवति ।" — तदो ५० 398 f

2 - " तस्मात्किमेव चित्तं प्रदीपवद्विद्यशरीरतया वदुनिपि निर्माण कण्यन्व्यान्नेच्छीति प्राह — निर्माणचित्तान्यभिमतमाह्वानम् ।" — यदो ५० 401 f

3 - " तत्र योः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाधिपजन्मवैध कारणधनिपादन - द्वावेतेषु बोधयति ।" — १७० म० सु० ४२० f

4 - " पादवत्स्था एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिन्मर्मीनि विकारतनापूरयन्ति ज्ञात्यन्तरा-कारिण परिणामयन्ति ।" — यदो ५० 423 f

पक्ष योग करने के लिए अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। प्रत्येक निर्मित शरीर के लिए जल-गलन निर्माण-चित्त होते हैं। निर्माण-चित्तों की रचना अधिमातृत्व से होती है। जिस प्रकार सिद्ध योग इष्टानुसार अनेकों निर्माण-कार्यों का निर्माण करते हैं उसी प्रकार अधिमातृत्व से उतने ही निर्माण-चित्तों का भी निर्माण करते हैं। इन अनेक चित्तों के व्यापार विप्लव विप्लव होते हैं परन्तु उनका संघटन एक मुख्य सिद्ध चित्त द्वारा होता है जिसे शेरक चित्त कहा गया है।

विवरण

योगी अपने योगवशा से तथा सिद्ध योग सिद्धियों के मत से बहुत से शरीरों की रचना कर लेते हैं। इस प्रकार से निर्माण किए शरीर को ही निर्माण-कार्य कहा गया है। निर्माण-कार्यों की रचना ये प्रकार से होती है। एक तो पूर्व शरीरोन्मुख के मध्य ही अने पर शरीरान्तर की उत्पत्ति होती है। दूसरे प्रकार का निर्माण-कार्य तब होता है जब सिद्ध, शरीर के रहते हुए अन्य आत्यंतिक शरीर धारण कर लेता है। उस प्रक्रिया को ही अत्यन्तर परिभाषा कहा गया है। यह अत्यन्तर परिभाषा प्रकृत्यापूर के द्वारा ही सम्पन्न होता है। शरीरोन्मुख की रचना प्रकृति के प्रयत्नों से हुई है अतः अब योगी को शरीर की रचना अपेक्षित होती है तब शरीर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के विचारों का अनुपदेश होता है। तभी निर्माण-कार्य की रचना होती है। निर्माण-कार्य जिस परिमाण के होते हैं उतने ही परिमाण में उनके कानि धरते तब अनुपस्थित होते हैं। यदि अन्य शरीर धारण करना होता है तो अत्यन्तरात्म में ही प्रकृत्यापूर होता है और यदि योगशरीरधारण करना होता है तो अधिमातृत्व में प्रकृत्यापूर होता है।

प्रकृत्यापूर के अन्य चर्मीय निर्मित बनते हैं। इनका कार्य एकुति के

- १ - "योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि मुक्तानि शरीरानि अधिमातृत्वानि तद्विद्यता प्रसरन्ति शरीरोन्मुखानि इव युगपद्विचरन्ति" - रा० म० पृ० ४२९ पृ०
- २ - "जन्मसिद्धौ तु पतिसपूर्वोपनिर्गतं कार्यकरणस्य शरीरान्तरमुपारोपयन्त इति नास्ति तत्र श्लेषः। अर्थात् शरीरस्य तु अत्यन्तरपरिणामि किं तत्रैव कार्यकरणमुपादान-मुत्पन्नवर्ति - तत्र कोष्ठीयानामप्यपि परिणतानि - अत्यन्तर परिभाषा प्रकृत्यापूरत्"।

अवयवों को प्रेरित करना नहीं है प्रत्युत शरीर निर्माण के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करना है । अर्थात् स्त्री अवस्था के बाद जन्म पर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के अवयव स्वयमेव ही अनुपस्थित हो जाते हैं ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक निर्माण-कार्यों के लिए योगी अनेक निर्माण-चित्त की रचना करता है या एक ही मन से सभी निर्माण-कार्यों का कार्य चलता है ? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया गया है । हितैश्वर्य के अर्थ में शरीर द्रुतप्राय और निरर्थक है । चिना चित्त के शरीर में क्रिया शक्ति का संसार नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त चित्तने निर्माण-कार्य है उन सभी निर्माण-कार्यों के लिए पुष्प-पुष्प चित्तों की स्थिति अनिवार्य है । एक चित्त जिसे "विष्णु" कहा गया है वही प्रधान चित्त है । वह सभी निर्मित शरीरों के संचालन का कार्य नहीं कर सकता । वह अनेक निर्मित चित्तों का नियंत्रण प्रदाय करता है परन्तु उनके स्थान पर निर्माण-कार्यों का चित्त नहीं चलता अतः प्रत्येक निर्माण-कार्य के लिए अलग अलग निर्माण-चित्त की रचना योगी करता है ।<sup>3</sup>

जन्म, शोषण, मरण, संपत्ति और समाधि द्वारा निर्मित निर्माण-चित्त पर एक-दूसरे के होते हैं । इन निर्माण-चित्तों का नाशक एक प्रधान चित्त होता है । प्रधान चित्त को "योगज-चित्त" को कहा जाता है । यह चित्त अनन्तार्थ अर्थात् अवयवों से रहित होता है इसके मूल में शून्यत्व नहीं रहते अतः यह चित्त अपवर्गभागीय होता है । अन्य निर्माण-चित्त, तत्साध्युषित होते हैं, शारीरिक निर्माण-चित्त कर्मकार्यों और प्रयोजन-वशात् निर्मित होते हैं । अतः ये चित्त अपवर्गभागीय नहीं होते ।<sup>4</sup>

1 - " चर्म प्रकृतीनामावरणवर्त्म किञ्चित् । चर्ममयमेतन्निधि किमस्त्यवरणम् ।"  
— विश्वरूप पृ० 319 F

2 - " हितैश्वर्याभावे च द्रुतवशीलः कायो निरर्थकः स्यात् ।" — वही पृ० 321

3 - " एकचित्तत्वे तु गुणप्रधानभावः प्रकृतिवैशेष्य भावयत्येते । तत्र विष्णुत्वशेष-  
क्षेत्रज्ञत्वोपि बहुकार्यादीन्स्त्वमुपचर्यते । गुणप्रधानैकप्रकृति-निर्माणं तु करणैव  
एकिकम् ।" — वही पृ० 320 F

4 - " पक्षीवर्षं निमन्निचित्तं जन्मोपश्रियन्मृतसमाधिमावस्थीनिर्मितम् । तत्र तेषु  
यदेव प्रधानं चित्तं तदेव अनन्तार्थं क्षेत्रकर्मसाध्यापवर्जितम् ।"

योगवार्तिक

पंचमिष्य सिद्ध्यर्थो से सिद्ध लोग 'निर्मलकण्ठ' बनते हैं । 'निर्मलकण्ठ' के प्रसंग में विश्वामित्र ने एक विशेष विचार प्रकट किया है । जलप्रकारचरित्रनाम गज, तुरंग या अन्य प्रकार के जेबन से भी संबन्धित हो सकता है अर्थात्, सिद्ध लोग अपनी सिद्ध्यर्थों के द्वारा जय जैसे शरीर का निर्माण करना चाहें कर लेते हैं । इसके अतिरिक्त अपने ही शरीर को बढ़ा, घटा भी सकते हैं । सभी प्रकार के 'निर्मलकण्ठ' केवल संकल्पमत्त से नहीं बनते । संकल्प के साथ-साथ प्रकृति के प्रयत्नों का अनुपवेश ऐमि पर हो निर्मलकण्ठ बनते हैं ।

सभी निर्मलकण्ठ अपने अपने निर्मलचित्तों से पुका होते हैं । सिद्ध के संकल्प द्वारा अभिमतसत्त्व से निर्मलचित्तों की रचना होती है । निर्मलचित्तों को निर्मलमन भी कहा जा सकता है । मन कठने से अर्ध में कोई अन्तर नहीं जाता है निर्मलमन की रचना के साथ ही बुद्धि और अहंकार का भी निर्माण हो जाता है । प्रकृति के ही तत्वों से बुद्धिसत्त्व का निर्माण होता है । पुनः बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार निर्मलकण्ठ, निर्मलमन, बुद्धि और अहंकार का ही निर्माण सिद्ध लोग करते हैं । उक्त विवेचन केवल योगवार्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार तत्त्वज्ञानरवीकार तथा भोजकृति की तुलना में इनका विवेचन विशिष्टतापूर्वक है और उचित भी है क्योंकि निर्मलकण्ठ और निर्मलमन की रचना होने पर शारीर शान्तर तत्वों की रचना भी आवश्यक है ।

निर्मलचित्तों के सर्वत्र में एक समुद्रनायक चित्त की स्थिति को इन्द्रिणो ब्रूयकार किया है । निर्मलचित्तों की संख्या सिद्ध्यर्थों की संख्या के अनुसार पथि है । इन चित्तों में केवल ध्यानजीवित ही केवल शान्तेय होता है अन्य निर्मलचित्त कक्षापुक्त होते हैं । अतः ये मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं होते ।

1 - " अनुभवादिब्रह्मज्ञानेन पूर्वपरिभवा विवर्तना अपेक्षितप्रवर्तना कामस्तनासाधार्या यो वैशित्यगोचरज्ञान परिभवाः स प्रकृत्यापराहृषणानि न तु संकल्प मायाविद्यया इति श्रुत्यान्तरम् । अभिमतविरुधपरिभवाभीधेतोश्च प्रकृत्यपगमादिति चेत्त्वम् । अतः च जलप्रकार शब्देन योगिनां गजतुरंगविषयैश्च तथा कदाच्युतिविकर्मापि ग्राह्यम् । अहंकाराभ्येनीय प्रकृतीनां लक्षणमीप ग्राह्यम् । "

— यो 10 व 10 पृ 398 f

2 - असंस्कलेन निर्मलचित्तानि निर्मलचित्तान्युद्यमैः, तत्रैव बहुनि निर्माणदेहसप्तमेत्यनि भवन्ति । "

— यही पृ 401 f

3 - "अतः चित्तानामो भवोभावात् तावो अहंकारप्रकृतिसत्त्वचचनात् । "

— यही पृ 401 f

4 - " यथा अहंकारा भाषि अनेके सप्रकृतिसत्त्वानि अहंकारापरारम्भेन तत्रैव तत्रैव प्रकृतिसत्त्वानि प्रकृतिसत्त्वानि तत्रैव सत्त्वचित्तानां प्रयोगितां करोति । "

— यही पृ 403 f

### योगवीथिका, पतञ्जलयोगसूत्रश्रुति

सिद्धियों का प्रकार भी बताई गई है। इनमें से अधिकांश सिद्धियाँ वेदशास्त्रों की जन्म से ही प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों के द्वारा वेदाधि आवश्यकमनुभव अपने शरीर को घटा, बढ़ा सकते हैं। शरीरनिर्माणकर्म प्रकृति के अवयवों के उपभोग से होता है। वेदेष्विन्द्रिय के निर्माणकर्म प्रकृति के महाभूतों का अनुपवेश अनिवार्य है। महाभूतों के भावपूर्ण से ही ज्ञानान्तर परिणाम होते हैं। ऐसा व्यास, पाचस्वरीतिमित्र, विश्वामित्र, शौनकाचार्य तथा मणिकर्णिकार मानते हैं। योगवीथिकाकार ने 'सत्त्ववि' के उपभोग से शरीर निर्माण होता है ऐसा माना है। सत्त्ववि का सात्त्विक है प्रकृति के तीनों गुण सत्व, रज और तमोगुणों के द्वारा ही शरीररचना सम्भव है।

सत्त्वयोग में प्रकृति का स्वल्प त्रिगुणात्मक है अतः उसके विचार की त्रिगुणों से ही युक्त होगी अतः स-त्त्ववि या 'महत्त्ववि' शब्द के प्रयोग से अर्थ में कोई भिन्नता नहीं आती। 'जन्तुन्तर' पद अधिमा, अधिमा, अधिमा अधि सिद्धियों का सूत्रक है। इन सिद्धियों से ही निर्माणकर्म बनते हैं उनमें प्रकृति के अवयवों का अनुपवेश होता है तभी निर्माणकर्म तैयार होते हैं। निर्माण की इस क्रिया में धर्मद्वारा निर्मित कारण बनते हैं वे प्रकृत्यापूर में प्रयोजक नहीं बनते प्रत्युत ये अधिमा की निर्मित करने हैं।

जितने भी निर्माणकर्म होते हैं सभी के लिए निर्माणकर्मों का निर्माण सिद्ध अपनी संकल्पविधि के द्वारा 'अभिमत' नामक सत्व से करता है। 'निर्मणकर्मों' के लिए निर्माणकर्म भी प्रयुक्त हो सकता है ऐसा योगवीथिकाकार भी मानते हैं। इन सभी निर्माणकर्मों का एक प्रयोजक अथवा धरक चित्त होता है जिसे, 'निर्माणकर्म' कहते हैं। 'निर्माणकर्म' के संकल्प से ही उनकर्मों का सारा कार्य व्यापार होता है।

1 - "वेदाधीनामिन्द्रियसिद्धयो जन्म मन्त्रज इत्येवं पूर्ववत्काराः सिद्धयो  
भवन्तीत्यर्थः ।" — योगवीथिका पृष्ठ 86 ।

2 - "वेदेष्विन्द्रियकारणसत्त्विकाव्यवयवोद्भव्यान्भवति ।" — वही पृष्ठ 86 ।

3 - "जन्तुन्तरपदं च अधिमाव्यवहितसिद्ध्युपलक्षणं प्रकृत्यापूरणसत्त्वविगमसत्त्व-  
व्यवहारः ।" — वही पृष्ठ 86 ।

4 - "निर्माणकर्मसत्त्वैवैव तथासिद्धिव्यापार इत्यर्थः ।"

— वही पृष्ठ 86 ।



मणिप्रभा

जन्म, सौमिध, मन्त्र, तब और समीप नामक पाँच प्रकार की सिद्धियों ने सिद्ध लोग अपने संकल्प से स्वेच्छित शरीर धारण कर लेते हैं । ये सिद्धियाँ पूरा जन्म में योग के अथवा द्वारा प्राप्त होती हैं । जिनके द्वारा सिद्ध लोग अपनी इच्छानुसार जन्मविग्रहण कर लेते हैं । \*पूर्वोपर्यन्त प्रधान की सत्त्वव्याप्त है । मनुष्य के शूल एवं शरीर का निर्माण प्रधान के दो विकारों से हुआ है अतः नर अन्य जालोक्य शरीर का निर्माण भी प्रकृति के दो विकारों के अनुप्रवेश से सम्भव है । वेदविद की रचना में व्यतीतिमित्त कारण बनते हैं प्रयोजक नहीं ।

निर्मायकाओं के साथ निर्मायकियों की भी रचना आवश्यक रूप से होती है । जिस प्रकार प्रकृत्यापूर ने योगी निर्मायकियों की रचना करता है उसी प्रकार प्रकृति के अहंकार नामक विकार से निर्मायकित्त का निर्माण होता है । ये निर्मायकित्त क्षिप्य भोगों के लिए विभ्य विभ्य प्रकार के होते हैं । निर्मित चित्तों का एक नियामक चित्त भी होता है । इस नियामक चित्त में योग की शक्ति होती है अर्थात् यह चित्त योगसिद्ध कर सुख होता है इसीलिए यह निर्मायक चित्तों का मायक चित्त होता है । जन्मविद सिद्धियों के क्षेत्र से निर्मायकित्त भी पाँच प्रकार के होते हैं ।

1 - " पूर्वजन्मव्यक्तयोगज्ज एव जन्मविधिनिमित्तैव व्यजयन्ते । " -  
 --- मणिप्रभा पृ० 74 F

2 - " प्रयानावयः प्रीपिष्यन्ताः प्रकृतयस्सत्तां सर्वत्र सत्त्वान्तरादिदेहावयवेदु  
 नसाम्प्रादाश्चर्मद्विव निमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशात् साध्यन्तरपरिणामे" युयते । "  
 --- बड़ी पृ० 75 F

3 - " योगप्रकाशान्निर्मयन्त इति निर्मायानि चित्तानि योगिसकत्वाधीन प्रकृत्या-  
 पूरात्कायवदहंकारालक्षणेनयन्त इत्यर्थः । "  
 --- बड़ी पृ० 76 F

4 - " निर्मितचित्तानां योगी स्वर्णानुबूल प्रकृतिविशेष नियामकं चित्तं निर्मितेति  
 योगवत्तत्त 'चित्त' 'तेषां मायकं भवति । "  
 --- बड़ी पृ० 76 F

योगसूत्रार्थवैधेयी

पृथ्वी पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं सभी प्रधान या प्राकृति के के सत्त्वादिगुणों से ही निर्मित हैं । अतः पंचविधसिद्धियों के पल्लवस्व जाद्वन्तर परिणाम भी प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही होता है । प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश के लिए यहाँ 'प्रकृत्यापूर' पद का प्रयोग किया गया है । प्रकृत्यापूर के समय धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा होती है । धर्मादि यहाँ प्रयोजक या प्रेरक नहीं बनते शैथिल्य कार्य कभी कारण को प्रवर्तित नहीं कर सकता । धर्मादि योगजलस्कार हैं जिनका कार्य केवल प्रकृत्यापूर के समय मार्ग में आवी/वापामों को दूर करना है । धर्मादि के द्वारा प्रकृत्यापूर के विरोधी तत्त्वों का निरोध हो जाता है जिससे जाद्वन्तर-परिणाम के समय प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश स्वयंमेव हो जाता है । इस प्रकार प्रकृत्यापूर से ही योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है जिन्हें 'निर्माणकक्ष्य' कहा गया है । अब ध्यान उठता है कि क्या अनेक निर्माणकक्ष्य अनेक मन वाले होते हैं या एक ही मन द्वारा सभी निर्माणकक्ष्य संचालित होते हैं ।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया गया है - जिस प्रकार योगी सत्त्वगुणद्वारा प्रकृत्यापूर से अनेक शरीरों का निर्माण करता है उसी प्रकार योग के प्रकृत्य से अष्टकार्म तत्त्व द्वारा अनेक चित्तों का निर्माण करता है जिन्हें 'निर्माणचित्त' कहा गया है । निर्माणचित्त सिद्धियों के अनुसार पंच प्रकार के स्वीकार किए गए हैं । निर्माणचित्तों की रचना योगी शौगान्मुक्त करता है । इन निर्मित चित्तों का एक नायक

-----

- 1 - " प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृत्यस्तत्तां सर्वत्र सत्त्वादिबेदाद्यवयवेषु तत्तामापूराद् धर्मादीनिमित्तानुरोधेनावयवाऽनुप्रवेशाज्जाद्वन्तर परिणामो युज्यते । " --योगसू.वे.१०५० 50 ।
- 2 - " न हि धर्मादीनिमित्तं तत्त्वयोजकं प्रकृतीनां क्वचित्, न कर्तृऽपिकारणं प्रवर्तत इति । " -- वही सू. 51 ।
- 3 - " तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मो विनसति । तस्मिन् स्थिते स्वयमेव प्रकृत्याः स्वं स्वं विकारमाप्तावयति । " -- वही सू. 51 ।
- 4 - " ननु यथा योगी बहुन् कक्ष्यान् निर्मिमीते तथा किमेकज्जाद्वन्ते क्वचित् अवयवा इमेकमनसा इति । " -- वही सू. 51 ।
- 5 - " योगप्रकृत्यान्निर्मितं इति निर्माणचित्तं चित्तानि योगिकसत्त्वाधीनं प्रकृत्यापूरान्तां कक्ष्यवदङ्गकारान् प्रकृतेर्जायन्ते । " -- वही सू. 51 ।
- 6 - " निर्मितीचित्तानं योगी स्वशौगान्मुक्तप्रकृतिविशेषनाम्कं निर्मिमीते । " -- वही सू. 52 ।

चित्त होता है जो उनके ऊपर नियंत्रण रखता है । यह नाटक चित्त इन चित्तों से उत्कृष्ट कैंडिटा का होता है । यह वांग-मल से उत्कृष्टता प्राप्त कर के ही उन अनेक चित्तों का महत्त्व बनता है । इसे ही ध्यानज तथा अनन्तय चित्त भी कहा गया है । यह अनन्तय चित्त ही कौशल्याभागीय होता है ।

### योगीय बुध्दान्तचन्द्रिका

प्रकृति के अवयवों से ही शरीरेन्द्रिय की रचना हुई है । अतः अन्य इच्छित शरीरादि का निर्माण प्रकृति या प्रधान के तत्त्वों के अनुसंधान से ही होता है । योगी अपनी बुद्धानुसार वेदता, पक्षी, शरीर अन्य जलतियक शरीर को धारण करने में समर्थ होता है । यह शरीरधारण 'प्रकृत्यापूर' अर्थात् प्रकृति के अवयवों के अनुसंधान से ही सम्भव होता है । अपनी बुद्धानुसार शरीर को बढ़ा करना तथा अपनी बुद्धानुसार शरीर को छोटा करना यह सब कार्य प्रकृति के तत्त्वों के अनुसंधान तथा अवगम से ही सम्भव होता है । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जलान्तरपरिणाम में धर्महीननिमित्त बनते हैं । निमित्त का अर्थ 'अनुरोक्त' किया गया है । केवल इतना ही वर्णन इस व्याख्या में प्राप्त है ।

### भारतती

मनुष्य के शरीर की रचना प्रकृति के ही अवयवों से हुई है । अन्धकार से मनुष्य-शरीरेन्द्रिय का निर्माण हुआ है जिन्हें मनुष्यप्रकृतिक या करण-वर्तित कहा गया है । इस कारण-वर्तित में उन कारणों से अन्धकार-परिणाम की प्रकृति अन्तर्निहित है जिसके फलस्वरूप ही सिद्धलोग सिद्धियों के मत से तथा, योगी योगफल से एकजलतियक शरीर से अन्य जलतियक शरीर धारण कर लेते हैं । एक जलित से अन्य जलतियक परिणाम को जलान्तर-परिणाम कहा गया है । यह जलान्तर-परिणाम प्रकृति

1 - "योग यत्तत् अचिन्तितं तेषां नाटकं भवति ।" - यशोवन् १०० १० ११ १

2 - " प्रधानादीवृत्तियुक्त्याद्व्युत्पत्तिः कार्येन्द्रियादिप्रकृतयः । तस्मात् प्रापराद् धर्माद्यनुरोधेन मनुष्यादिदेहसंशयकेषु अनुसंधानात् फलमव्ययतायात्प्राप्तिं येषां तदवयवविषय जलान्तरः अयोर्महत्त्वावयवभवति । एवं महत्त्वोऽनुभवः प्रकृत्यपगमादिवर्तियं बोध्यम् ।"

- यशोवन् १०० १० ११ १

के तत्त्वों के अनुप्रवेश से होता है । ये प्रकृतियों विद्यमान हैं । प्रथम तो अनुभूतपूर्व कर्मात्मक शक्ति है, जिससे अनुभूतपूर्व । प्रथम के अनुभूत शरीर में परिणाम, पूर्वसंचित पूर्वानुभूत कर्मात्मकों के क्लेशमय के उद्भव होते पर होती है । जिससे के अनुभूत योगी ध्यान प्रविष्ट द्वारा अनुभूत शरीरों की रचना करना है । अत्यन्तपरिणाम प्रकृत्यापूर वे ही होता है । अत्यन्तपरिणाम के समान धर्मवि निर्मित बनने हैं । यहाँ 'धर्मवि' को प्रकृति का अपना धर्म इस रूप में ग्रहण किया गया है ।

येधर्मवि प्रकृति की कारणात्मिक को वैदिक तर्कों करते अनुप्रवेश के समान उर्वरित वातावरणों को या तत्त्वक गुणों को रोकते हैं जिससे कि प्रकृत्यापूर प्रथम रूप हो जाये । योगी जिस प्रकार श्लेषण से एक से अनेक शरीरों को धारण करता है उसी प्रकार श्लेषण से ही अनेक चित्तों का भी निर्माण करता है जिन्हें निर्माणीकृत फल गया है । ये निर्माणीकृत ही सिद्धचित्त कहलाते हैं । इन निर्माणीकृतों से योगी किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव नहीं करता ।

निर्मित अनेक चित्तों की प्रकृतियों में भेद होता है । इनका संशान्त करने के लिए ही एक प्रधान चित्त का निर्माण किया जाता है जो एक साथ ही सभी निर्मित चित्तों की देख रक्ष करता है । ये निर्माण चित्त जम्ब, मन्त्र, औषधि, तपस्या और ध्यान से निर्मित होते हैं । धर्म से ध्यानअच्छत योगसाधना से उत्पन्न होता है । यह चित्त अनन्त हो के फल ही केकल्प भागीय होता है ।

1 - " विद्वानो कश्चिन्नियथात्मन्युजानिये । परिणामो दृश्यते, तच्च अत्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरणे ज्ञानेन, प्रकृतिः - कार्यान्वित्यात् । एतेन ज्ञानेन चित्तं - कर्मात्मकं तच्च मूर्तानुभूतं शक्तिवया तत्तत्तत्त्वानि श्रयाणां सुख्याभिधायिनः । " -- बर्ही पृ० 393 F

2 - " तच्च विद्यया प्रकृतयः कर्मात्मकस्यायां अनुभूतपूर्वा वातानुखात्कामानुभूत-पर्यां क्लेशपरिणामात्, केनादीद्यवस्तुमेष जतां यानिनादया केनात्तरानुभूतपूर्वा, ध्यानमसिद्धयैः सिद्ध - अनुभूतपूर्वाऽनुभवमनस्य विक्षेपश्च प्रकृत्यान्वित्यित्येति तां विद्वानां भवति । " -- बर्ही पृ० 393 F

3 - " धर्मवि निर्मितं न प्रकृतिं कार्यान्तरजमनस्य प्रणोज्यति विकारस्थानं, स्वीपयोगीनिर्मितस्तन्मनुप्रवेशाणामिर्मितवृत्ता गुणास्तिराभ्यन्ति ततः प्रकृतिः स्वयमेवानु-प्रविशति । " -- बर्ही पृ० 393 F

4 - " निर्माणीकृतमत्र सिद्धचित्तम् । " -- बर्ही पृ० 399 F

5 - " श्लेषणकर्मणोर्वा चित्तं कथं च निर्मितोते । श्लेषणाऽस्वोत्थानं निरोधक-ततो न निर्माणीकृतं बन्धहेतुः । " -- बर्ही पृ० 397

6 - " चित्तचित्तानां शक्तिभेदेऽपि सर्वेषां यथा प्रकृतिप्रयोजकं प्रधानचित्तं निर्मितोते तच्चैव युगपदेव तदनुभूतव्यवधानचित्तं संचरत् ततश्च शक्तिव्यवहारेण चरन्तीति । " -- बर्ही पृ० 398 F

### श्रीमन्नारायणवाच्य

जन्म, बीजादि, मन्त्र, तपश्च इ गौर समष्टि से उत्पन्न सिद्धियों से सिद्ध्युक्त स्वेच्छित शरीर धारण कर लेते हैं। प्रकृति के विकारों से ही शरीर की रचना हुई है अतः नर शरीर का धारण भी प्रकृति के तत्त्वों के अनुप्रवेश से ही होता है। पंचमहाभूतों से शरीर की रचना तथा अहंकार नामकतत्त्व से इन्द्रियों की रचना होती है।

ब्रह्मतात्त्विकों को जन्म से ही श्रीमन्नारायणसिद्धियों प्राप्त रहती हैं। विष्णुभगवान् का वाचन प्रकृतार श्रीमन्नारायणसिद्धि का ही स्वरूपिक है। देवादि अथवा सिद्ध्युक्त जितने भी निर्माण कार्य बनाते हैं, सभी निर्माणकार्य प्रकृति के अनुप्रवेश से ही बनते हैं। एक साथ अनेकों कर्मों का फल भोग करने के लिए सिद्ध्युक्त लोग अनेक शरीर धारण करते हैं। शरीर धारण प्रकृत्यापूर स्वाराज होता है, धर्महीन इसमें निर्मित्त कारण बनते हैं।

योगी के संकल्प से जात्यन्तर परिचय होते हैं। अतः यज्ञों पर यह शक्ति होती है कि योगी के संकल्प से प्रकृति की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है। इस शक्ति का समाधान करते हुए व्याख्यानकार ने यह विवेचन किया है कि - योगी का संकल्प प्रकृति की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता। प्रकृत्युक्त प्रकृति की कर्मात्मिक का उद्बोधक होता है। इस कार्य जन्म क्रिया में धर्महीन निर्मित्त कारण बनते हैं, इन का काम शरीरैन्द्रिय

निर्माण कार्य के सम्यक् अनुपेक्षित अवसरों को दूर करना या हटाना है। इस प्रकार प्रकृत्यापूर तथा धर्महीन निर्मित्त की सहायता से सिद्ध्युक्त लोग स्वेच्छित शरीर का निर्माण कर अपने पूर्व जन्म के कर्मों के फल का भोग करते हैं। जितने निर्माण-कार्यों की रचना होती है उनमें ही निर्माण कर्तव्यों की भी रचना करनी पड़ती है। निर्माण कर्तव्यों की रचना अहंकार से होती है। ये निर्माण-चित्त पांच प्रकार के होते हैं। (1) जन्म-जिसिद्ध्युक्त (2) जीर्णोद्योगिसिद्ध्युक्त (3) मन्त्रजिसिद्ध्युक्त (4) तपोज्योतिसिद्ध्युक्त गौर (5) समीपज्योतिसिद्ध्युक्त। इनमें से पाँचवाँ - समीपज्योतिसिद्ध्युक्त ही केवल के लिए उपयोगी होता है क्योंकि इस चित्त में वासनार्थे नहीं होती।

धर्मसमाधि  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

व्यासवाक्य

निरन्तर विवेकव्याप्ति होती रहने पर जो समाधि होती है उसे धर्मसमाधि कहा गया है । धर्मसमाधिसमाधि में एक ही और पुरुष के स्वस्व का विधिवत-ज्ञान होता रहता है जिसके फलस्वरूप साधक को 'सर्वज्ञातृत्व' नामकसिद्धि की उपमाप्राप्ति होती है परन्तु धर्मसमाधिसमाधि निम्न साधक 'प्रसङ्गान' के प्रति भी रागरहित रहता हुआ किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता । इस अवस्था में प्रत्ययजन्य संस्कारों का भी नाश हो जाता है । संस्कारों का नाश हो जाने से एक प्रकार से भोज का ही नाश हो जाता है फलस्वरूप चित्त में पुनः कोई कलात्मक संस्कार नहीं उत्पन्न होते । इस समाधि में किसी साधक के चित्त के अविद्यमान क्षेत्रों का समूल नाश हो जाता है अतः क्षेत्रों और कर्मों से विनिवृत्त साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की अवस्था का अनुभव करता है अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तत्त्ववेत्तार की

विवेकव्याप्ति प्राप्त चित्त को जब निरन्तर विवेकव्याप्ति होती रहे उस समाधि रसा स्थिति को धर्मसमाधि-समाधि कहते हैं । धर्मसमाधि-समाधि के सम्बन्ध में श्रुत है —  
" प्रसङ्गानेऽप्यकुतोऽप्यसर्वथा विवेकव्याप्तौ धर्मसमाधिः ।" इस सूत्र के तात्पर्य पर वाचस्पतिमिश्र ने धर्मसमाधिसमाधि की विवेचना की है । धर्मसमाधि समाधिनिम्न योगी को अन्य किसी भी प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता उसे सर्वथा विवेकव्याप्ति होती रहती है । जन्म में एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कि योगी का चित्त विवेकव्याप्ति के प्रति भी

- 1 - " प्रसङ्गानेऽप्यकुतोऽप्यसर्वथा विवेकव्याप्तौ धर्मसमाधिः ।" -- व्यासवाक्य पृ० 454।  
2 - " समाधि विदुषतश्च सर्वथा विवेकव्याप्तिरेव भवतीति संस्कारभोजकत्वान्वाप्य प्रत्ययान्तरात्पुरुषसूत्रेन ।" -- वही पृ० 454 ।  
3 - " तत्त्ववेत्तारविवेकव्यापयः क्षेत्राः समूलकार्ण कथिता भवन्ति । - - - क्षेत्र कर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्यन्विभूक्ते भवति ।" -- वही पृ० 455 ।

विरक्त हो जाता है और तब तत्त्वज्ञान के प्रति भी वैराग्य उत्पन्न हो जाय है ।  
उस समय योगी जीवित होता हुआ भी <sup>मुक्त</sup> अर्थात् जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

हाकिम होते हैं कि जीवित होकर हुआ मुक्त किस प्रकार से हो सकता है ?  
वाचस्पतिमिश्र ने इस हाकिम का निदान 30वें सूत्र के अन्वय पर इस प्रकार किया है ।  
जब धर्मिय-समाधि में योगी की स्थिति हो जाती है तब उसके चित्त के समस्त विकार,  
सारे, क्लेश तथा कर्मशेष दम्बहीन हो जाते हैं । त्रिगुणों का भी परिणाम-स्पर्शकारि  
समाप्त प्राय हो जाता है जिसके फलस्वरूप चित्त के समस्त आवरण रस्य रस्य भंग  
हो जाते हैं और चित्त निरालम्ब निर्मलभाव से समीप में लीन हो जाता है और उसे  
निरन्तर विवेकव्यति होती रहती है । इस विवेकव्यति के प्रति भी लिप्ताभाव के  
समाप्त हो जाने में योगी को परचेराय प्राप्त होता है और योगी जीवन्मुक्त कहा  
जाता है । -

उक्त धर्मियसमाधि की पराकल्प्य ज्ञान के अनन्त विस्तार में होती है ।  
जैसा कि व्याख्याकार ने कहा है -- " धर्मियस्य पराकल्प्य ज्ञान प्रसाव भावम् ।"  
अर्थात् धर्मिय-समाधि में ज्ञान का अनन्त विस्तार हो जाता है जिसके समय श्रेय का  
स्वरूप अर्थ हो जाता है । ज्ञान के अनन्त प्रसार से परचेराय को प्राप्त कर योगी  
शुद्धस्वभाव-संस्कारों का समूल नाश करता है इस प्रकार धर्मिय-समाधि में अवस्थित योगी  
के समस्त विकार दूर हो जाते हैं तथा योगी कैवल्य प्राप्त करता है । तत्त्ववेत्तारदीकार  
ने धर्मिय-समाधि की शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार से की है -- "सर्वान्निर्वाण्यस्मिन्मति लपीत  
धकतमेति धर्मियः इत्युच्यते।" "निवृत्तमे" शब्द से श्रेय शब्द की निम्नलिखित होती  
है और 'वृत्त' धर्मिये' शब्द से धर्मिय शब्द की निम्नलिखित होती है । उक्त समाधि की  
विवेकव्यतिस्वरूप धर्म की लक्ष्य करती है अतः इतकनाम 'धर्मिय-समाधि' उचित ही है ।  
इस धर्मिय समाधि के उदित होने से पुरुष के बीगाधधर्म को समाप्त करने वाले गुणों  
का परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप गुणों को कैवल्य प्राप्त हो जाता  
है और वे प्रधान में लीन हो जाते हैं । पुरुष की अपने स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष  
प्राप्त कर लेता है जिसे कैवल्य भी कहा गया है ।

## राजमार्तण्डश्रुति

निरन्तर विवेकव्यतिष्ठति होते रहने पर जो मम तिष्ठ होती है उसे धर्मिय-समधि कहा गया है । विवेकव्यतिष्ठति को ही 'प्रसंख्यान' भी कहा गया है । जिसने भी परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले तत्त्व हैं उनका ध्येयकर्म विविधतन्त्र ही प्रसंख्यान अथवा विवेकव्यतिष्ठति है । विवेकव्यतिष्ठतिप्रसंख्यान जब विवेकव्यतिष्ठति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का प्राप्त के प्रति 'अकुतोव' अर्थात् रागरहित होता है तब उसे निरन्तर विवेकव्यतिष्ठति ही होती रहती है जिससे परम प्रकृत 'धर्मिय - समधि' को ज्ञाति होती है ।

'प्रसंख्यान' से प्राप्त फलों का मय भिन्न ही तत्कारण मय में नहीं किया है परन्तु 'फल' शब्द से 'सर्वकर्म' और 'सर्वभावविधिव्यवृत्त' नामक दोनों सिद्धियों का ही प्रकृत होता है । इन दोनों सिद्धियों के प्रति प्रनासक्ति होने पर साधक निरन्तर विवेकव्यतिष्ठति में निमग्न होकर धर्मिय-समधि में स्थित हो जाता है । धर्मिय-समधि काल में हित में अन्य सामाजिक प्रयत्न नहीं उचित होते । धर्मिय-समधि में प्रता अत्यन्त उन्मुक्त होती है जिससे अधिपत्यादि कौशलों को निवृत्त हो जाती है और हित को अत्यन्त ज्ञान प्राप्त होता है

## विवरण

इस व्याख्या में 'धर्मियसमधि' का विवेचन उक्त सभी व्याख्याओं से किया गया है । 'अकुतोव' का अर्थ इस व्याख्या में 'अकुर्वित्' दिया गया है । विवेकव्यतिष्ठतिप्रसंख्यान के प्रति अन्तःकरण की प्रवृत्तिसत्ता की वृद्धि का न होना तथा 'प्रसंख्यान' के प्रति ही विरक्ति हो जाने पर केवल विवेकव्यतिष्ठति का होना ही 'सर्वधर्म - विवेकव्यतिष्ठति' है जिसे 'धर्मियसमधि' कहा गया है । ।

1 - " सर्वप्रकारिविवेकव्यतिष्ठतिः परिशोभात्प्रमियः समधिभवती । "

— २१० भाष्य ७५०५० । १

2 - " अकुतोवः अकुर्वित् भवति । "

— विवरण पृ० ३६३ ।

3 - " प्रसंख्यानप्रसङ्ग विरोधाधीनम् न किञ्चित् प्रार्थयते । अधिराज्यात् प्रसंख्यानोऽपि न प्रार्थना । तत्रापी प्रसंख्यानं विरक्तः । सर्वधर्म सर्वेषु प्रकारेषु विवेकव्यतिष्ठतिर्नैव स सर्वधर्मविवेकव्यतिष्ठतिरेव भवति । "

— पृ० ३६३ ।



यह समीप केवल नामक परम् धर्म की वर्धा करती है । इसीलिए इसको 'धर्मिय' की संज्ञा दी गई है । यह समीप सत्यवर्तान रूप है क्योंकि इस समीप में ही सर्वथा विवेकव्यतीत होने के कारण प्रत्येक परार्थ का सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है तथा विपर्यय-स्वीकृतज्ञान का महा प्रोक्तता है । इस समीप में केवलधर्मिय से निवृत्त विद्वान् पुरुष जीवन्मुक्त हो जाते हैं ।<sup>2</sup>

### योगवार्तिक

योग के विधियों का हस्तत्व हो जाने पर सर्वथा विवेकव्यतीत होने पर भी समीप होती है उसे 'धर्मियसमीप' कहा गया है । यह समीप मन्महात्मयोग की ही पराकाष्ठ है ।<sup>3</sup> इस समीप में प्रकृतिपुरुष के परार्थ-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है ।<sup>4</sup> इस 'विवेकसाक्षात्कार'के ही द्वारा साधक को दो प्रकार की सिद्धियों की उपलब्धि होती है । ये सिद्धियाँ हैं — सर्वभाव-विच्छादित्व और 'सर्वज्ञानत्व' । 'धर्मियसमीपनिष्ठ' योगी इन दोनों प्रकार के सिद्धियों के प्रति 'अवसीद' रहता है अर्थात् दोनों में से किसी भी सिद्धि को अपनाने की इच्छा नहीं करता हुआ, निरन्तर प्रसन्नान्तर रूप विवेकव्यतीत में ही लीन रहता है ।

यह धर्मियसमीप 'केवलधर्मिय'का समूल विनश करती है और धर्म की वर्धा करती है । इसी आधार पर इस समीप का नाम 'धर्मिय-समीप' दिया गया है । इस समीप में केवल, कर्म और संस्कारों का आत्यन्तिकदाह हो जाने के कारण साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की राह का अनुभव प्राप्त करता है । इस अनुभव के ही कारण उसे जीवन्मुक्त भी कहा गया है ।<sup>5</sup> जीवन्मुक्त साधक के ज्ञानत्व प्रकृत 'ज्ञानम्' तदा 'विदु' होता है । अतः अथ ज्ञानन्त ज्ञान के प्रकृत के समक्ष 'सैद्य' अल्प

- 1 - " केवलधर्मिय पर धर्म वर्धतीति धर्मियः इति संज्ञा । " - धियरण पृ० 36 अ
- 2 - " मूलेः केवैः सतीतिव्या भवन्ति । " - वही पृ० 36 अ
- 3 - " सर्वथा निरन्तरं विवेकव्याप्त्युपयाद्यधर्मियनाम्नी संश्रुतयोगस्य पराकाष्ठं भवतीत्यर्थः । " - योगवर्तपृ० 455 अ
- 4 - " प्रसन्नान्तरं विवेकसाक्षात्कारः । " - वही पृ० 455 अ
- 5 - " केवलधर्मियनिःशङ्कणोन्मूलकं धर्मं मेहीति वर्धतीति धर्मियः । " - वही पृ० 455 अ
- 6 - " अथ जीवन्मुक्तश्च सवसन्तसैताद्यन्तवाङ्गिर्नर्वाह । " - वही पृ० 456 अ

वर्तित होता है अर्थात् उसके लिए अब और कुछ श्रेय नहीं रह जाता । 'धर्मिय-समाधि' में 'सर्वज्ञत्व' नामक सिद्धि के प्रति भी पराधैरव्य द्वारा वैराधैरव्य होने पर ही अत्यन्त ही 'कैवल्य' वाचक योग की प्राप्ति होती है । इस प्रकार धर्मिय-समाधि का कैवल्य को लक्ष्य से अत्यन्त महत्वपूर्ण ज्ञान है ।

### योगवीथिका

धर्मियसमाधि सम्प्रसादसमाधि की ही पराधैरव्य है । इस जगति में योग के विद्यों का सर्वथा अभाव ही गया होता है और निरन्तर विवेकव्यति की उदय होता रहता है । इस समाधि का 'धर्मिय' नाम क्यों रखा गया है, इस संबंध में योगवीथिकाकार ने लिखा है -- 'इस समाधि में उत्तम योग के धर्म की वर्ण्य होती है अतः इस समाधि का नाम 'धर्मिय' है ।

'धर्मियसमाधि' में साधक की प्रकृति, पुरुष के स्वप्न का विविक्तज्ञान प्राप्त होता है, जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है । विवेकसाक्षात्कार के साथ ही उसे 'सर्वभावविभ्रतत्व' और 'सर्वज्ञत्व' नामक सिद्धियों की प्राप्ति होती है । परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के प्रति किसी भी प्रकार से अत्यन्त नहीं होता है तब उसे 'अकुसोव' कहा जाता है । साधक जब सिद्धियों के प्रति 'अकुसोव' होकर उनकी उपेक्षा करता हुआ निरन्तर 'विवेकव्यति' में ही लीन रहता है तब धर्मियसमाधि होती है ।

'धर्मियसमाधि' में ज्ञेय, कर्मणों का निःशेष वृद्ध हो जाता है अतः वे पुनः चित्त में उचित नहीं होती और साधक इनसे विनिर्मुक्त हुआ केवल विवेकव्यतियुक्त धर्मियसमाधि में स्थित होकर जीवन्मुक्त की वशा का अनुभव करता है । इस समाधि के घन के अन्त प्रकटा के समान 'जेय' 'अत्य' वर्तित होता है । अर्थात् इस समाधि में साधक का ज्ञान अत्यन्त त्वाव्यवक होता है ।

1 - " ज्ञानस्य सत्यव्यवसायान्तराधीनो विपुत्वात् ज्ञेयं परब्रह्मण्यं तन्नेवेकव्य-  
भवतीत्यर्थः । " — योगबोधो 457 F

2 - " यथोक्तसर्वज्ञत्वपरधैरव्योपेक्षणान्तरात्परधैरव्यं प्रारभ्यतेऽस्य मधिगत्यं  
वा सुतोयं मुख्यमर्थमाह - । " — वही पृ 458 F

3 - " योगविवेकानुभवेन सर्वथा निरन्तरं विवेकव्यतियुक्तधर्मियसमाधिं एकव्यवसाय-  
परव्यवसायं भवतीत्यर्थः । " — योगबोधो 100 F

4 - " उत्तमं योगजधर्मं भवति धर्मतीति धर्मियः । " — वही पृ 100 F

### प्राज्ञितयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में इस विषय का प्रतिपादन योगवीथिका के ही लक्षण किया गया है । व्याख्या की पंक्तियों शक्यताः मिलती हैं । ततः इस व्याख्या के अनुसार 'धर्ममिच्छसमधि' का स्वभाव वही हुआ जैसा योगवीथिका में प्रतिपादित है ।

### मन्त्रिषवा

सध्यायोग में प्रतिपादित 26 वीं श्लोकों का सन शब्द में जन्मे पर श्रुद्ध गौर पुरन का विधिकतज्ञान ही विवेकध्याति है । इस विवेकध्याति से सर्वप्रथम तत्त्व सवाधिष्वत्रु-  
-त्वादि स्व फलों की प्राप्ति होती है परन्तु जब साधक को इन फलों के प्रति कोई राग नहीं होता तब वह उन्हें नहीं ग्रहण करता है और निरन्तर विवेकध्याति में ही निष्ठ होने पर धर्ममिच्छसमधि की प्राप्ति करता है । विवेकध्याति से प्राप्त फलों के प्रति रागरीहित होना ही अकुसीद है । अकुसीद यद्यपि विवेकध्यातिनिष्ठ साधक का विशेषण है । प्रत्यक्षान के प्रति वैराग्य होने पर ही 'धर्ममिच्छसमधि' होती है । धर्ममिच्छसमधि के प्रति परवैराग्य होने पर प्रत्यक्षान का ही निरोध हो जाता है और तब हित निर्वाज या अन्वयान्तसमधि में स्थित हो जाता है ।

धर्ममिच्छसमधि के उद्धत होने से वैरागिक समूह घिनष्ट हो जाते हैं । ततः धर्ममिच्छ समधि का केवल ही श्रुष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है ।

### योगसूत्रार्थवैशिष्ट्ये

'धर्ममिच्छसमधि' सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठ है । निरन्तर विवेकसाक्षात्कार का होना ही धर्ममिच्छसमधि है । साधक को इस समधि के प्राप्त ज्ञान के प्रति किसी भी प्रकार का राग नहीं होता अर्थात् जब विवेकसाक्षात्कार के प्रति सम्प्रज्ञित-रहित होता हुआ, प्रकृति समधि में स्थित रहता है । इस समधि में शोधव्यावृत्तव्ये तथा संस्कार सभी कुछ योग

1 - " भद्रिक्वैरीतसत्त्वात्प्रत्यक्षयोगतः सत्त्वबुद्ध्यान्वितध्यातिर्या जायते सवाधिष्वत्रुत्वाद्युवा-  
न्तरकला तत्त्व प्रसंख्यायिगु तत्त्व 'अकुसीदव्य' कृत्स्नितेषु विषयेषु सोचतीति कुतोयै राग  
तद्द्वैततथ सर्वान्नाम विवेकध्यातिरैव सम्प्रतिच्छो 'धर्ममिच्छसमधि' 'समधि' भवति ।"

-- मन्त्रिषवा पृ० 89 प

2 - " समधि धर्ममिच्छान्तसम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।"

-- योगसू० पृ० 60 प

के बिना ही नष्ट हो जाते हैं और साधक जोदित रहता हुआ भी, धर्म, प्रार्थना से विमुक्त होकर जोधन्मुक्त को वशा का अनुभव करता है ।

विवेकध्यातिरूप जोधन्मुक्त का ज्ञान अनन्त प्रकाश के कारण इतना तीव्र व्यापक हो जाता है कि उस व्यापक और अनन्त ज्ञान के सामने 'वेद्य' शब्द हो जाता है ।

### मास्वतो

विवेकध्याति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रति रागरीडित होना 'अस्वीय' है । विवेकज सिद्धियों को जब साधक कुतूहल भावकर उनके प्रति प्रसन्न रहित होकर केवल विवेकध्याति में ही लीन रहता है तब उसे धर्मिय-समाधि की प्राप्ति होती है । निरन्तर विवेकध्याति होती रहने वाली समाधि को धर्मिय-समाधि की संज्ञा इसलिये दी गई है क्योंकि इस समाधि में केवल स्वी धर्म की वर्षा होती है । जिस प्रकार वर्षा से तलाव इत्यादि बिना किसी प्रयत्न के जल से परिपूर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार धर्मिय-समाधि के द्वारा बिना किसी अन्य प्रयत्न के ही साधक को केवल का लाभ प्राप्त होता है । धर्मिय-समाधि से सभी क्षेत्रलक्षणीय समूलविनाश हो जाते हैं और साधक जोधन्मुक्त हो जाता है ।

मास्वतोकार ने विवेकध्याति से प्राप्त सिद्धियों का नाम निर्देश नहीं किया है । केवल 'सिद्धियों' ही ज्ञात है अतः यह विचार किया जाता है कि यदि कोई नई बात कहनी होती तो व्याख्याकार प्रवाद ही लिखते, यहाँ केवल 'सिद्धियाँ' शब्द से माध्यकार द्वारा वर्णित सिद्धियाँ ही समझनी चाहिये ।

। - " उक्तवासास्कारात् केनाः संस्कारा अभिव्ययः स्वैयः रागम् । एवं कर्मप्रारम्भविभन् तद्य च योगं विनैव नात् - - - जोकमेव नि विद्यान् तर्वावर्षायां विमुक्तो भवतीति । "

स्वामिनारायणशास्त्र

परस्पर मिलनय विद्यते श्री पदार्थे हे सभी का क्रम से व्यवस्थित ज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' है। इस 'तत्त्वज्ञान' के लिए ही दुबारा शब्द 'ब्रह्मज्ञान' प्रयुक्त किया गया है। 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा साधक को 'सर्वभावविभ्रजत्व' और 'सर्वभ्रतुत्व' महक दो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के परिणामस्वरूप का दर्शन कर उनके प्रति विरक्त हो जाता है तब सर्वथा 'विवेकव्याप्ति' ही होती रहती है। यह विवेकव्याप्ति बृह भूमिवासी होती है, इसमें अविद्यावि क्षेत्रों और संसार रूप क्षेत्रों का प्राथमिक विनाश हो जाता है। इस प्रकार की विनाशनाशों से सम्पूर्ण समाधि ही 'धर्मियसमाधि' कही गई है। इस समाधि में विवेकव्याप्ति उद्यो धर्म की वर्षा होती है। धर्मियसमाधि में क्षेत्रों का अंश और समूह विनाश हो जाने के कारण शुक, कृष्ण शुक कृष्णों के श्रेय से युक्त त्रिविध कर्मों से उद्धार के लिए छुटकारा मिल जाता है और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त की वशा में साधक का ज्ञान अनन्त विस्तार वाला होता है। इस समय वह सारे जगत् को इन्द्रासनक की भाँति देखता है।

1 - " सर्वथा विवेकव्याप्तिरेव बृहभूमिर्भवति, विवेकव्याप्ति कारणीभूतं तत्त्वज्ञानं च निरुद्ध्यते, विवेकव्याप्तिमतस्त्वस्य संस्काररूपस्य बीजस्यऽऽत्मानिकतयावच्छेदोत्पत्तिश्चात्तराणि न ज्ञानेन तथा कर्मिण्यमतीत्यन्वयः भवति । "

— साठमः ३२१ १

2 - " क्षेत्राकर्मोदीनी निःशुभभोग्मुक्तं विवेकव्याप्त्यात्पक्षे धर्मं मेहीत वर्षतीति धर्मियवति । "

— वही पृ 321 १

3 - " एविवेके सत्त्वप्रकृतौ सति यद्द्वयं योगो समष्टं व्यष्टं वा यद्द्वयं विज्ञातुं समीचलभति तत् तत् सर्वगणितव्यवस्थावच्छेदेन इतत्सत्त्वकवत् पश्यति । "

— वही पृ 322 १

## व्यसथा

वर्णों की निरन्तरता अर्थात् वर्णों का निरन्तर बिना किसी बाधा के प्रवाहित होते रहना ही 'क्रम' है। ये वर्णों की सापेक्ष स्थिति अत्यन्त है, उनके बीच क्रम का होना अनिवार्य है। पहले वाले वर्ण के समाप्त होने पर अर्थात् क्रम का अनन्तर स्वर से अविर्भाव क्रमों से ही होता है। क्रम का स्वरूप न तो पूर्ववत् ही होता है न अन्त-तन्त्र में होता है। यह पूर्व वर्ण के मध्य होने और अर्थात् क्रम के अन्तिम के बीच निरन्तरता स्वर का है। अर्थात् वर्णों का निरन्तर ही क्रम है। क्रम का अन्त वर्णों के परिणाम के अन्त से होता है। इसको स्पष्ट करने के हेतु वाक्य का उदाहरण बहुत ही सरल है। यथा - जिस प्रकार गया नगर एकएक घुराना मरी हो जाता <sup>वादी</sup> जिस जिस वर्ण वह खरीदा जाता है उसी वर्ण से क्रमात् उसमें घुरानता अन्तिम लगती है। इस प्रकार वाक्य के 'मोक्ष' नामक परिणाम क्रम की समाप्ति होने पर ही उसके पूर्व के वर्णों से संबंधित 'क्रम' का अनुमान कर लिया जाता है।

'क्रम' निश्चय और अनिश्चय दोनों प्रकार के प्रवाहों में होता है। अनिश्चय प्रवाहों में क्रम की समाप्ति देखी जा सकती है यथा बुद्ध्यादि विकारों में परिणाम के अन्त से ज्ञान होने वाले क्रम की समाप्ति देखी जाती है अर्थात् जब बुद्धि, अज्ञान और अविद्यारूप प्रकृति के विकारों का अन्तर्भाव प्रकृति में हो जाता है तब उनके परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

निश्चयता दो प्रकार की होती है। (1) परिणामनिश्चयता (2) कूटस्थ-निश्चयता। परिणामनिश्चयता गुणों में होती है। अग्नि का स्वभाव हीतकाल परिणामित होते रहना है। अतिसूक्ष्म परिणामनिश्चयता होने पर भी गुणों का अर्थविस्तरण मध्य नहीं होता अतः इन्हीं परिणामनिश्चय की संज्ञा दी गई है। परिणामनिश्चय में क्रम की समाप्ति

1 - "पूर्वमाद् उत्तरवर्धनो यवानन्त्यं कण्ठ्य स क्रमः।" - व्यसथा पृ० 38 31

2 - "अपान्तपर्याया परिणामध्यावराप्तेनावसामेन प्रकृत्ये क्रमः।" - वही पृ० 459

3 - "बुद्धौ हेतु निश्चयता कूटस्थनिश्चयता परिणामनिश्चयता च। तत्र कूटस्थ निश्चय प्रकृत्यः। परिणामनिश्चयता गुणानाम्।" - वही पृ० 459 1

नहीं होती क्योंकि त्रिगुण कर्मों की मध्य नहीं होते । त्रिगुणों का परिणाम 'सकल' और 'विश्व' प्रकारक होता है; विश्व परिणाम द्वारा ही बुद्ध्यादि विकारों की रचना होती है । अतः जब बुद्ध्यादि अत्यन्तभाव को प्राप्त हो जाते हैं, और गुणों के कृतत्व' हो जाने पर गुणों के विश्वपरिणाम को अधिकारधारा समाप्त हो जाती है, तब सत्सपरिणाम की धारा विद्यमान रह जाती है । गुणों के संकल्प में यह शास्त्र है कि इनकी सकल-परिणामशीलता कर्मों की मध्य नहीं होती । अतः परिणामिनस्य में भी कर्म को सम्बन्ध नहीं होती ।

अपरिणामीनस्य अर्थात् कृटकर्मिणस्य में परिणामों का कर्म नहीं होता क्योंकि कर्म परिणामों के अन्त में होता है, पुरुषतत्त्व कृटकर्मिणस्य के उसमें परिणाम नहीं होता अतः उसमें कर्म का महत्व नहीं किया जा सकता । मुक्त पुरुष साक्षरशीलधृत स्थिति को एकदलक नहीं प्राप्त कर लेते । निरन्तर प्रयत्नों के बलावश ही उन्हें अपने अन्तर स्थित कृटकर्मिणस्य-स्वस्य का बोध होता है । यह बोध निरन्तर साधना के द्वारा ही प्राप्त होता है । यह स्वस्य-अस्मिता स्व बोध क्रमशः ही प्राप्त होता है अतः पुरुषों में भी 'कर्म' विकल्पित किया जाता है । परन्तु पुरुषों में कर्म की कल्पना ज्ञान की आ सकती है यथावतः उनमें कर्म का महत्व कर्मों की नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष को सत्ता त्रिगुणों से विभक्त है और इन्हीं कर्मों की बकार का परिणाम कर्मों की धर्म नहीं होता है ।

### तत्त्वप्रकारदी

कर्म क्षण-समूह धर सञ्चित होता है । एक क्षण में कर्म नहीं होता एक क्षण के पश्चात् अनन्तररूप से दूसरे क्षणों का होते रहना ही कर्म है । इसीलिए कर्म को क्षणसमूहत्वयो कहा गया है । परिणाम का पर्यवसान होने पर कर्म सञ्चित होता है। इसीलिए तत्त्वों की परिणाम धारा में बोधार्थ्य को ही कर्म कहा गया है ।

। - " परिणामाक्रमः क्षणप्रतिपद्योः, क्षणः प्रतिप्रसक्तो यद्य स तथेक्षितः । क्षण पञ्चव्यस्यः इत्यर्थः । न जातु कर्मः क्रमवन्तगन्तरेण तथ्यो निस्त्वपिपुम् । न केतथ्येण क्षणस्य कर्मः । तन्मात्वापचयस्यः धीरितीभ्यते ।" - त॥वे०पु० 459 ।

क्रम का स्वरूप स्पष्टानक नहीं प्रकृत में ज्ञात इत्युक्त परिणाम का पर्यवसान होने पर ही क्रम का स्वरूप लक्षित होता है । इस संवेद्य में माध्य में इत्युक्त उदाहरण का इत्येति भी समर्थन किया है । क्षीयत्व पर्यायी में परिणामक्रम विचार्यं वदता है परन्तु नित्य पर्यायी में परिणामक्रम होता है या नहीं इस विषय पर विवेचन प्रस्तुत करने के लिए पहले नित्यता के उच्च विचार किया गया है । नित्यत्व को प्रकार को बताई गई है । कूटस्थ नित्यता और परिणामीनित्यता । कूटस्थनित्यता का अर्थ है "जो अपने स्वभाव से कभी भी नहीं हटे अपरिणामी जो सर्वत्र स्थित रहे उसे ही कूटस्थनित्य कहा गया है । मुख्य ही कूटस्थनित्य है, यह परिणामी है अतः इसमें "परिणामक्रम" नहीं हो सकता ।

'प्रधान' परिणामीनित्य है । यद्यपि प्रधान भी नित्यत्व है परन्तु इसमें निरन्तर रूप से परिणामी का क्रम चलता रहता है क्योंकि यह त्रिगुणात्मक है । त्रिगुण सर्वथा परिणामनीति होते हैं अतः त्रिगुणात्मक पद्वीन को 'परिणामक्रम' यक्त हुए । परन्तु इसमें परिणामक्रम की कमी भी प्राप्यत नहीं होती है ; क्योंकि गुणों में परिणाम के क्रम की कमी भी समीप्य नहीं होती । प्रकृत जब साक्षात्स्वभाव में रहती है तब भी गुणों में परिणाम होता रहता है अतः प्रधान अथवा गुणों में परिणामक्रम की समीप्य नहीं देखी जा सकती ।

### राजमार्तःशुद्धि

ज्ञान का सबसे छोटा भाग ज्ञान है । अनुभूत ज्ञानों में ही क्रम का ज्ञान होता है । अनुभूत ज्ञानों में क्रम का ज्ञान नहीं होता । अनुभूतज्ञानों की निरन्तरता बुद्धि द्वारा उच्च करने पर ही 'क्रम' का ज्ञान होता है । क्रम का प्रकृत ज्ञानों के ज्ञान से होता है अर्थात् एक ज्ञान का अवसान होने पर दूसरे ज्ञान का प्रतीकित क्रम से ही होता है । 'क्रम' के संवेद्य में कुल ज्ञान ही विवेचन राजमार्तःशुद्धि में उपलब्ध है । इस व्याख्या में परिणामीनित्य तथा कूटस्थनित्यता का वर्णन नहीं किया गया है । क्रम के स्वरूप के संवेद्य में परिणामी के 'सोर्वापर्य' शब्द की क्षीयवर्षता को ही मही स्वीकार किया गया है । इस दृष्टि में क्रम के संवेद्य में 'सोर्वापर्य' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है ।

1 - " मनु कूटस्थ स्वभावावच्छिन्नमस्तु नित्यम् । " — तटो ०५० 460 P

2 - " प्रधानश्च तु परिणामक्रमेण न स्वधर्षवसानः । "

" गुणेष्वसवधर्षवसानः परिणामक्रम इत्युक्तम् । "



विवरण

'कर्म' शब्दों के साथ रहने वाला होता है । शब्दों के साथ ज्ञानमूर्त्य का होता ही 'कर्म' है । इस प्रकार अणुसमुह में अभिमत रहने वाला 'कर्म' शब्दों का ज्ञानमूर्त्यरूप है । कर्म के अस्तित्व का अनुमान अतिथ्यवचार्थों द्वारा वस्तुतः में सरलता से परिहार्य ही जाता है । परन्तु अतिथ्यवचार्थों द्वारा पुराने और श्रुतस्थानित्य के उसमें कर्म का अस्तित्व नहीं होता । पुराने अतिथ्यवचार्थों अतिथ्य है, श्रुतस्थानित्य के अतः उसमें कर्म नहीं होता है । इसके विपरीत गुण और अतिथ्य होते हैं उनमें परिणामकर्म हुआ होता है । उनमें परिणाम कर्म का ज्ञानमान नहीं होता । शब्दों के अर्थ यथा महत्त्व में परिणामकर्म का अस्तित्व होता है अर्थात् इनमें परिणामकर्म 'तत्त्व-वर्णनमान' होता है ।

योग वार्तिक

शब्दों की ज्ञानमूर्त्य ही कर्म है । विज्ञानविद्यु मे परिणामकारा के परिणाम्य को कर्म के लिए महत्त्वपूर्ण/माना है । अतिथ्य परिणामकारा में ही कर्म का अनुमान किया जाता है । अतिथ्य वचार्थों में ही कर्म की समीप का अनुमान किया जा सकता है प्रधान में नहीं, कोटिक प्रधान परिणामकारा होते हुए भी अतिथ्य है । इसके विपरीत

1 - " अर्ण अतिथ्य युक्त इति लक्षणतियोगी ।" -- विवरण पृ० 36 5 f

2 - " तस्य अणुस्य अणुस्यः अतिथ्येवो नैरन्तर्त्यं तथा क्वचित् शीलं यद्य अणुस्य प्रगाथीवेद्येव क्वचित् अणुस्य यत् ज्ञानमूर्त्यं सः अणुस्य कर्म ।" -- वही पृ० 309

3 - " तत्रातिथ्येषु वरमार्थेषु कर्मो वृष्टः ।" -- वही पृ० 366 f

4 - " परमार्थतः अतिथ्यपरिणामित्वात्कर्मनिमित्तं कर्म इत्यर्थः ।" -- वही पृ० 367

5 - " अणुप्रतियोगी लक्षणवसरस्य विरोधी अनेनाथ-मन्तरित इति यावत् ।

परमार्थोऽत्र क्रमो विधीयते न तु परिणाम्यं मानविधितं विरोध्यवतार्यः ।" -- योगवार्त० पृ० 461 f

6 - " मन्व्यवरमन्तेनानि अतिथ्येव कर्मः सिद्धो न तु अणुस्येव, तथा अणुस्येव अणुस्येव ।" -- वही पृ० 461 f

मुक्ति प्राप्त करने में काम की समाप्ति देखी जाती है। क्योंकि बुद्ध्यादि अनित्य है। इनका पर्यायसमान भी होता रहता है। इस प्रकार यह सर्वथा निश्चित है कि परिणाम-काम की समाप्ति अनित्य बंधनों में ही होती है, नित्य बंधनों में नहीं। परन्तु बुद्ध में तो परिणाम-काम ही नहीं होता कारण वह 'अपरिणामी' तथा 'वृद्धस्वमित्य' है। वृद्ध-चित्त-बुद्ध में परिणाम का अद्यतनभाव होता है, अस्तुतः वह भी परिणाम-काम से अछूता ही रहता है।

### योगवीथिका, वार्तकतयोगसूत्रकृत

भारतीयक काल के बंधन दूसरे काल का अनुस्मरण से ज्ञाने रहना ही काम का स्वस्व है। बंधनों की अनुस्मरता ही काम का स्वस्व है। काम के स्वस्व में 'बौध्वाचर्य' को नहीं स्वीकार करना चाहिए। ऐसा 'योगवीथिकाकार' का मत है। काम का ज्ञान परिणामों के पर्यायसमान तथा उनकी उत्पत्ति में होता है। काम की समाप्ति अनित्य बंधनों में देखी जाती है। अनित्य बंधनों 'वृद्ध' और 'सुवर्ण' का उदाहरण दिया गया है। इनमें आरम्भ से अन्त तक काम वृद्ध होता है। जगत की वृष्टि का बंधन अधिष्ठाता स्वयं से चलता रहता है अतः इसमें भी परिणाम को अधिष्ठाता द्वारा का अनुमान किया जाता है। वृष्टि की प्रक्रिया गुणों के परिणामस्वरूप ही होती है। वृष्टि गुणों को परिणामानित्य कहा गया है अतः त्रिगुणात्मक जगत में भी वृद्धादि परिणाम-काम वृद्ध होता है परन्तु उनका नशा कभी भी नहीं होता। क्योंकि वृद्ध्यादि के बंधन का अनुस्मरण कभी नहीं होता।

योगवीथिकाकार ने नित्यता का विवेचन नहीं किया है। साथ ही परिणाम-काम की समाप्ति को भी नहीं स्वीकार किया है। इन व्याख्या के अनुसार अनुस्मरण-परिणामद्वारा का ही अनुमान किया जाना चाहिए। वार्तकतयोगसूत्रकृतकार को व्याख्या योगवीथिका ही मिली है अतः इस व्याख्या में इतिहासित विवेचन को यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

1 - " बुद्ध्यादिविभु महर्षादिविभु तन्पर्यायसमानो विनाशित्वातिवत्यर्थः । "

- योगसूत्रिक 462 F

2 - " इत्यन्तीत्योगो धनधनानुभवसंशय विरोधि-कलेनाप्यनुस्मरित इति यावत् । एवं चोक्त्या कर्मो विवक्षितो न तु बौध्वाचर्यमाश्रयित विरोधवत्त्वार्थः । परिणामस्य बंधनमाप्ये चरान्तरात्स्वित्तिरित्युक्तम् । "

- योगवीथिका 102 F

## मभिप्राय

'कर्म' अणुसमूह पर प्रतीयत रहने वाला होता है। अर्थात् के परिणामों का बोधार्थ ही कर्म है। 'कर्म' का है ? इसका स्पष्टीकरण इस व्याख्या में इस प्रकार से किया गया है। यह पूर्वार्थ के और यह उत्तरार्थ के इस प्रकार पूर्व और उत्तरार्थ कर्मों का बोधार्थ ही 'कर्म' है। इस कर्म में समय करने से सुख वदार्थों का भेदज्ञान या विवेकव्याप्ति होती है। यहाँ यह मनो-भक्ति तथा तेजा वादिक कि 'कर्म' 'कर्म' को नहीं कहा जा सकता बल्कि अणुसमूह के अणु अस्मिता या अनन्तरता ही 'कर्म' है। अब हम उठना है कि यह 'कर्म' का 'मित्य' वदार्थों में रहता है या 'अमित्य' वदार्थों में रहता है ?

यस ज्ञान का उत्तर इस प्रकार से दिया गया है। नित्यत्व से प्रकार की बतार्थ यह है। (1) कृतस्व-मित्यता (2) परिणामि नित्यता। कृतस्वमित्य वद्वय है और परिणामि नित्य गुण है। मभिप्रायकार में ही सुविशुद्धि का अमित्यमाना है। इनके अनुसार परिणाम कर्म साक्षिक और निरक्षिक होता है। सुविशुद्ध अक्षि अमित्य वदार्थों में यह परिणाम कर्म 'साक्षिक' होता है। 'परिणामि नित्य' गुणों में यह परिणाम-कर्म 'निरक्षिक' होता है। साक्षिक का अर्थ है एक निश्चित अवधि के परचात् परिणाम की समाप्ति का होता है। निरक्षिक शब्द का अर्थ है - जिसके परिणाम-कर्म की समाप्ति हो न हो। परिणामि नित्य में परिणामकर्म की समाप्ति नहीं होनेके और 'सुविशुद्ध' के परिणाम-कर्म की समाप्ति दुरुभसाकार शब्द हो जाने के परचात् हो जागे है। अतः एक निश्चित अवधि के परचात् परिणाम-कर्म की समाप्ति देखी जा सकने के कारण ही सुविशुद्ध के अर्थ में परिणाम-कर्म को साक्षिक कहा गया है। कृतस्व दुरभ में 'कर्म' का अमित्य नहीं होता है। सुविशुद्ध अक्षि से संवद्वय दुरभ में अमिता कर्म का आरोप करने पर कहा जाये परन्तु अस्तुतः दुरभ कर्म में सर्वथा रहित है कोकि यह परिणामो है तथा कृतस्वमित्य है।

1 - "अने अक्षिगोऽने नित्यको यस स कृतस्वमित्योऽपि ।"  
"कर्म अमित्योऽपि" "कर्म अक्षि स्वस्व मित्योः ।" - मभिप्राय ५० ११ १

2 - "तत्रायमममान्बुधबोधोऽयमुत्तरार्थेन हीत अकार्ण, तेषां कर्मणः, बोधार्थवद्वय  
संयमादक्षिगोऽनेन विवसाकारिणो विवेकते भवति ।" - वही ५० ७१ १

3 - "तत्राक्षि वद्वय बुधवद्वयवधु बोधार्थ- परिणामकर्मणः स्वमित्योऽप्यपरान्तः  
दुरुभसाकारोऽस्मिन् कर्मः तेषु साक्षिकः, गुणेषु परिणामि नित्येषु परिणामकर्मो निरक्षिकः ।"  
- वही ५० १२ १

4 - "कृतस्व मित्येषु दुरभेषु बुधवद्वयपरिणामवद्वयवद्वयवद्वयः कर्मो न थापयत  
हीत सर्वज्ञवद्वय ।" - वही ५० १२ १

योगसुधार्षोथिनी, योगसिद्धान्त-वर्णिका

'कर्म'के स्वल्प का निर्वचन इस वाक्या में 'मणिकर्मा' के ही द्वारा किया गया है ।

भावती

'कर्म' शब्दों का इतिवृत्ति है अतः इसे अल्पसूत्र पर प्रकृत करने वाला कर्म गया है । कर्म का ज्ञान परिणामों के पूर्वनिर्धारण में होता है अर्थात् शब्दों में स्निग्ध परिणामपत्र का निरन्तर ही 'कर्म' है । किसी भी अनिश्च यथोक्त बर्ण्य में पुराजता परिणामक्रम से ही देखी जाती है । परिणामक्रम नियतबर्ण्य में भी जाता जाता है । निश्च बर्ण्य दो प्रकार के बताए गए हैं । ( 1 ) परिणामनिश्च ( 2 ) कूटस्थनिश्च । परिणामनिश्च में परिणामों की अधिकतमपारा प्रकृतित होती करती है अतः इसमें परिणामक्रम स्वाभाविक रूप से पाया जाता है । कूटस्थनिश्च गुणों में परे है । यह शास्त्रनिश्च सत्य है । इसमें कर्म का अनुमान कल्पना से किया जाता है ।

परिणामनिश्च का स्वल्प सत्य, रज और तमोगुणयुक्त होता है अर्थात् प्रकृत क्रिया और इतिवृत्तितत्त्व ही गुणों का समावेश है । त्रिगुण वर्ण्य परिणामनिश्च रहते हैं अतश्च परिणामनिश्च कहा गया है । इनके स्वल्पगत परिणाम का कभी भी ज्ञान नहीं होता है अतः इनमें कर्म को समीपत नहीं देगी जाती है । 'कूटस्थनिश्च' में परिणाम नहीं होता फिर भी कल्पना के अन्तर्गत पर कूटस्थनिश्च में भी कर्म के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है । शून्य भूतत्वम कूटस्थनिश्च है अतः इसमें कल्पना द्वारा 'कर्म' का भी ज्ञान नहीं देया जाता । हस्त में शक्ति-कल्पना के द्वारा ज्ञात 'कर्म' से इसकी कूटस्थ-निश्चता को अधिकतम ही इति नहीं होती ।

अल्पबर्ण्यवसान में उपर्युक्त भाष्योक्तपर ने उक्त व्युत्पन्नताओं के विभिन्न रूप में किया है । त्रिगुण निश्चतत्त्व हैं । उनका स्वल्प अस्व, रज और तमोगुणयुक्त है । सत्वगुण प्रकृत का द्योतक रजोगुण क्रियाशीलता का द्योतक और तमोगुण अज्ञान का द्योतक है ।

- 1 - " लक्षणां सत्वितवसा अल्पसरश्चावोत्पर्या । " - भाष्यती पृ० 449 प
- 2 - " परिणामव्यापिरणं प्रजातः कर्म इत्यर्थः । " - वार्ता पृ० 450 प
- 3 - " अल्पव्यतिर्ना परिणामवर्णा निरन्तरमिह कर्म इत्यर्थः । " - वार्ता पृ० 450 प

ये तीनों गुण कभी भी मष्ट नहीं होते । इनका परिणाम स्वस्थ शरीर विरक्त वेदों वाला होता है । विरक्त-परिणाम से ही सुष्टि की ब्रह्मिया होती है । 'वि रक्त' परिणाम का अन्त होने पर ही सरसपरिणाम उत्पन्न होता रहता है । अतः इनमें परिणामिनिश्चय कहा गया है । दुरुन्मत्तत्व में भी स्वस्थ, क्रिया शरीर स्थिति का उत्कर्ष प्राप्त होने से विद्वत्मान रहता है परन्तु दुरुन्मत्तत्व का यह स्वस्थ त्रिगुणात्मक नहीं होता । दुरुन्मत्त का यह स्वस्थ बहुभूतत्व-से युक्त होता है । बहुभूतत्व के द्वारा दुरुन्मत्तों के दुराचारा में कोई बाधा नहीं पड़ती ।

### स्वामिनारायणवाच्य

क्रम लक्षणमूत्र पर अभिमत होता है । क्रम का ज्ञान तममें परिणामों के ज्ञान से होता है । एक परिणाम का अन्त होने पर तुरन्त नवीन परिणाम का आ जाना अर्थात् परिणामों की अविच्छिन्न धारा को ही क्रम कहा जाता है<sup>१</sup> । जिस प्रकार शीतल में अविच्छिन्न शरीर परिणामधारा का बहकट करते है उसी प्रकार निश्चय पदार्थों में भी क्रम की धारा अविच्छिन्न स्वर से प्रवाहित होती रहती है । निश्चय से प्रकार को होती है ।

(१) कूटस्थानियता (२) परिणामिनीयता । कूटस्थानियता पुरुष में व्याप्त है शरीर परिणामिनीयता गुणों में तत्ता प्रधान में व्याप्त है ।

कूटस्थानिय में स्वस्वस्थियता का ज्ञान कम से ही होता है । यहाँ क्रम का आरोप व्यवहारिक ज्ञान के तिर किया गया है । अर्थात् दुरुन्मत्तत्व गुणों से युक्त रहता है । परिणामों की अविच्छिन्नधारा इनमें नहीं होती अतः इनमें क्रम का प्रवृत्त नहीं हो सकता परन्तु 'स्वस्थानियता' का ज्ञान कम से ही होता है अतः इस ज्ञान के कारण पुरुष-तत्त्व में भी क्रम का आरोप किया जा सकता है । 'दुरुन्मत्तत्व' शरीरत्व, निश्चयमत्त है अतः इनमें क्रम का भी अन्त नहीं देखा जा सकता है ।

अब परिणामिनिश्चय में क्रम का स्वस्थ देखिये । गुणों को 'परिणामिनिश्चय' कहा गया है । गुणों का स्वस्थ ही निश्चयपरिणाममयी होता रहना है अतः गुणों को निश्चय-परिणामो कहा गया है । निश्चय होने के कारण इनमें भी क्रम की स्मरणित नहीं देखी जाती है । गुणों के प्रकार यथा - बुद्धि, इन्द्रिय, अहंकारादी प्रारोभृत होते रहते हैं अतः इनमें परिणाम क्रम की स्मरणित कहीं नहीं है ।

१ - "अध्वनियमत्तत्वे सति लक्षणधाराऽऽद्य इति यावत् ।" - स्वा०म०वा० पू० ३२अ

२ - " परिणामस्य क्रमो नाम - परिणामधाराविच्छिन्ननवीनधारा ।"

केवलय का स्वरूप  
विवेचन-संस्कार-संस्कार

द्वितीय अध्याय

वार्तलयोगवर्त्म में 'केवलय' के स्वरूप का विवेचन चारों अध्यायों में प्राप्त होता है। प्रथम-अध्याय के तीसरे सूत्र के माध्य में पहले द्वयम विवेचन केवलय के संक्षेप में प्राप्त होता है। यहाँ पर भाष्यकार ने केवलय के स्वरूप पर बकता डाला है। केवलय की स्थिति में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इस अवस्था में पुरुष को बुद्धि-साक्ष्य नहीं होता है। इसी अध्याय के 21वें सूत्र के माध्य में निर्वीजसमाधि के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। निर्वीजसमाधि में चित्त में केवल निरोध-संस्कार होय रह जाते हैं। ये निरोध-संस्कारपुत्र चित्त ही केवलय के योग्य है। केवलय प्राप्त योगी अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। जब चित्त की बुद्धियों का निरोध हो जाता है तब केवल निरोध संस्कार ही होय रह जाते हैं तब ये निरोध-संस्कार चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं और तब चित्त को केवलय प्राप्त होता है अर्थात् चित्त मुक्त हो जाता है और इस अवस्था में पुरुष अपने भाव में ही अविद्यमान हो जाता है।

द्वितीय-अध्याय के 22वें सूत्र के माध्य में जीवममुक्त तथा विवेक-मुक्त के विषय में विवेचन प्राप्त होता है। जीवममुक्त तथा विवेकमुक्त का वृक्षरूप बुद्धि से संक्षेप नहीं रह जाता क्योंकि उक्त अधिकारी केवलय प्राप्त कर लेते हैं अतः बुद्धि का इनके साथ कोई संक्षेप नहीं रह जाता। 23वें सूत्र के माध्य में योग और अवर्णन का उल्लेख किया गया है। ब्रह्म और वृक्ष के संयोग की वशा का नाम योग है। इसके विपरीत ब्रह्म जब अपने पदार्थ स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है तब अवर्णन की स्थिति को प्राप्त करता है। इस प्रकार केवल अधिष्ठा का न होना अर्थात् केवल ध्यान ही साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है बलवत अवर्णन का अवलंब होने पर संयोग का अभाव ही जाना ही मोक्ष है।

1. " तथा ब्रह्म स्वच्छेऽवर्णनम् ।" -- योगसू 1/31

विवेकव्यति होने पर बन्धन के कारण अवर्तन का नाश होता है । अतः विवेकब्रह्म को केवल का कारण कहा गया है । 25वें सूत्र के माध्य में केवल का सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होता है । अविद्या का अभाव होने पर पुरुष और बुद्धि का संयोग जो अविद्याकथ्य है, उसका प्राथमिक नाश हो जाता है अर्थात् अज्ञानों में कमी की पुनः दृष्ट संयोग नहीं होता छूटे ही हान कहा गया है । पुरुष का बुद्धि से अलगवा होने पर गुणों से युक्त बुद्धि का केवल्य होता है । जब कारण ही समाप्त हो जाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । बुद्धि और पुरुष दो व्यक्त वृष्णक तत्त्व हैं । इन तत्त्वों का वेद ज्ञान ही विवेकव्यति है । विवेकव्यति ब्रह्म योगी की ब्रह्म बुद्धि तथा निर्मल होती है । निरन्तरविवेकव्यति होती रहने से केवल्य प्राप्त होता है अतः अविद्यावा विवेकव्यति को हान का उपाय कहा गया है ।

चित्तरीय-अध्याय के 18वें सूत्र के माध्य में केवल्य के लिए अवर्तन नामक शब्दा है । अवर्तन का विलोचन इस प्रकार किया है — भीष्णुः स्रष्टव्यकारण अवर्तन, अर्थात् भीष्णा के स्वस्व का अनुभव ही अवर्तन है । यहाँ पर बन्धन तथा 'मोक्ष' का विवेचन भी प्राप्त होता है । बुद्धि जब तक पुरुष के लिए योग का संवादन करती रहती है तब तक पुरुष और बुद्धि बंधे रहते हैं । अतः इस अवस्था में पुरुष बद्ध रहता है, बुद्धि से संबद्ध रहता है और जब बुद्धि कृतकार्य हो जाती है तब पुरुष का बुद्धि से संयोग समाप्त हो जाता है और पुरुषमोक्ष प्राप्त करता है । इसी अध्याय के 27वें सूत्र के माध्य में मुक्तपुरुष के गर्भ में ओम्मुक्त का विवेचन भी प्राप्त होता है । विवेकव्यति-प्राप्त योगी को ब्रह्म उन्मुक्ततम अन्त तातो होती है । उस समय योगी को स्थिति केवल अनुभव करने वाली होती है । उस स्थिति में योगी की ब्रह्म सात प्रकार की होती है, (1) हेय का अर्थात् ताप्य का घान हो चुका है जब पुनः कुछ भी हेय नहीं रह गया । (2) अविद्या ही हेय है इस हेय के कारण का नाश हो चुका है अतः पुनः कुछ भी वेदन्य नहीं है । (3) निरोध सगति द्वारा हान रक्त केतन्य का समाप्ताकार हो चुका है । (4) विवेकव्यतिरूप ज्ञान के उपाय की भावना कर ले गई है । ये चार विमुक्तियाँ बुद्धि की कावीर्यमुक्तियाँ हैं । बुद्धि इस समय कोई कार्य नहीं करती है केवल अनुभव करने की स्थिति में रहती है । कार्य विमुक्ति के बावजूत विल विमुक्ति का वर्णन है । विलविमुक्ति तीन प्रकार की है । (5) बुद्धि का कार्य समाप्त हो चुका है, (6) अतः त्रिगुण अगने कारण में विल के साथ अज्ञ हो जाते हैं, (7) पुनः इन गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता अतीत गुणों का प्रयोजन योग तथा अवर्तन विषय हो चुका है । इस अवस्था में

पुरुष का गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है । वह केवली हो अपने यौक्ति-स्वरूप में प्रतीष्ठित हो जाता है ।

द्वितीय-अध्याय के 18वें सूत्र के बाध्य में जैगिष्य्य मुनि की उक्ति देते हुए मोक्ष में सबसे उत्तम सुख की कल्पना की है । तिसरा सुख को नपेक्षा संतोष अधिक केन्द्र सुख के परम्पु मोक्ष में जो सुख मिलता है वह संतोषसुख से भी उत्तम है । अतः मोक्ष के प्रतिरक्षण जिसमें भी सुख है तब सुख स्व ही है ।

26वें सूत्र के बाध्य में विवेक और इकीतिय के स्वरूप का विवेचन किया है । इनकी न तो वस्तुतः मुक्तावस्था है और न सक्रिय लौकिक स्थिति ही होती है । ये चित्त से केवलवचक का ना अनुभव करते हुए स्व-प्रत्यय असम्भारतसमीप में लीन रहते हैं ।

30वें और 35वें सूत्र के बाध्य में विवेकव्याप्ति सभी ज्ञान से क्षेत्रों का वाह हो जाने पर वक्ष-कीन तृप्त क्षेत्रों के क्षेत्र चित्त में रह जाते हैं जो ज्ञान में चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । चित्त जब प्रकृति में लीन हो जाता है तब पुरुष त्रिगुणात्मक बुद्धि से मुक्त हो जाता है । गुणों से पुरुष का साक्षात्कार विरोग ही केवल्य है । केवल्य की अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है ।

चतुर्थ-अध्याय के 34वें सूत्र के बाध्य में केवल्य का वर्णन माना है । महत्प्रापि प्रकृति के विकार हैं । ये सभी विकार त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणों के परिणाम-क्रम की समीप्य हो जाने पर ये प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार गुण कुमार्थ हो जाते हैं । इससे पुरुष गुणों के सम्मिश्र से रहित केवल अपने स्वरूप में स्थित होता है । पुरुष का अपने स्वस्व में स्थित रहना ही उसका केवल्य है । पुरुष केवल्य के लिए अपने साथ कोई प्रयत्न नहीं करता । जब गुण कुतकार्य होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब यह स्वयमेव ही प्रतीष्ठित होता हुआ केवली हो जाता है । वस्तुतः वह केवल्य प्राप्त नहीं करता और न ही इसके लिए कोई यत्न करता है यौक्ति वह तो स्वभाव से ही स्वस्वप्रतीष्ठित है । उपाधियों का तो शारीर मान उसपर किया जाता है । अतः जब उपाधियों से रहित हो जाता है तब वह अपने शश्वत् केवली रूप में अवस्थित हो जाता है अतः केवल्य की प्राप्ति गुणों का होती है । पुरुष के सर्वत्र में केवल्य का अर्थ बुद्धि ज्ञान उपाधियों से रहित सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहना है । इस प्रकार वास्तव में केवल्य बुद्धिखीपणी प्रकृति को होता है उसके वाह ही पुरुष अकेला रह जाता है अतः उसके लिए भी केवल्य प्राप्त हुआ ऐसा कथन कर दिया जाता है ।



## तन्त्रोत्पत्ति

चित्ताभित्त बुद्ध तथा तन्त्र के मतः कुछ दुरत नामक शक्तिपुत्रों दुरन्त में नहीं होती परन्तु जब बुद्ध के ऊपर चित्ताभित्त का संवेदन होता है तब बुद्ध तत्-तत् विषय के प्रकार की हो जाती है । ब्युत्थान प्राप्त में बुद्ध के तत्कारणपरित होने पर चित्ताभित्त भी बुद्ध के संयोग द्वारा उसी रूप को पित्तती है । दुरन्तार्थवती बुद्धा हो दुरन्त का विषय है । विवेकव्यति तथा विषय का योग बुद्ध का दुरन्तार्थ है । केवल्य की अवस्था में बोनों का निरोध हो जाता है और दुरन्त अपने अतीवार्थिक चेतन-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । दुरन्त का कोई रूप नहीं होता । रूप तो उसके ऊपर आरोपित किया जाता है । आरोपित होने पर ही वह आत्म, योग, मूढ़ आदि रूपों में देखा जाता है । जब कि उपस्थितः दुरन्त का कोई भी नहीं होता । वह अतीवार्थिक तथा कूटस्थानिय है । चित्ताभित्त की मित्यता निरोधकाल तथा ब्युत्थानकाल दोनों में बनी रहती है परन्तु ब्युत्थान काल में बुद्ध के सम्पूर्ण के कारण दुरन्त की विषयों के रूप का ही वास्तव होता है । जब अनोपाध-रूप-विवेकव्यति उद्वेग होती है तब संयोग का निरोध होता है और चित्ताभित्त अपने सात्वत् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है । चित्ताभित्त की इसी वशा को केवल्य कहा गया है ।

प्रथम-पाद के 51वें सूत्र के वाक्य में केवल्य निरुत्थान के प्रसंग में निर्बोज-समाधि का वर्णन किया गया है । निरोध-संस्कारों से ब्रह्मजन्त संस्कारों का भी निरोध हो जाता है । सभी प्रकार के ज्ञान संस्कारों का निरोध हो जाने पर निर्बोज-समाधि होती है । ज्ञान संस्कारों में ही अतन्त्रा ब्रह्म भी सम्मिलित है । अतन्त्रा-ब्रह्म का भी निरोध हो जाने पर निर्बोज-समाधि होती है । यह निर्बोज-समाधि केवल समाधि-ज्ञान ब्रह्म पर ही निरोध नहीं करती बल्कि उसके संस्कारों का भी निरोध करती है । समाधिजन्त ब्रह्म का सर्व अतन्त्रा ब्रह्म किया गया है । निर्बोज-समाधि परदेराश के द्वारा निरोध का कार्य करती है । हिस में निरोध-संस्कारों की स्थिति का ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है । निरोधसंस्कार की अनुभूति योगी को निरोध के क्षण में होती है । निरोध की अवस्था में प्रागन्त हिस में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं । समाहित-समाधि से उत्पन्न संस्कारों का भी निर्बोज-समाधि में निरोध हो जाता है क्योंकि समाहितसमाधि की निर्बोज की प्रवेश ब्युत्थान मना गया है अर्थात् केवल्य की दृष्टि से निर्बोज-समाधि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसीलिए व्युत्थानपर ने लिखा है कि -

'केवल्य भागीया निरोधनाः संस्कारा इत्यर्थाः' ।

द्वितीय-पाद के 18वें सूत्र के बाध्य को व्याख्या में भोग और अपवर्ग के विषय में यह बताया गया है कि ये दोनों दुरुक्त में आरोपित किए जाते हैं दुरुक्त का हमसे कभी भी सम्बन्ध नहीं होता है । दुरुक्त न तो भोगता है और न ही वह भोग प्राप्त करता है । यह तो सर्वथा ही भुक्त है अतः अन्ध और भ्रम का उसमें व्यवहार बाध किया जाता है । बुद्धि का दुरुक्तार्थयुक्त रहना अन्ध के और बकूति और दुरुक्त का अलग-अलग जिसके द्वारा ही वही केवल्य या अपवर्ग है । यथा — 'अपवृत्त्येतेनैवेत्यपवर्गः' 2 ।

29वें सूत्र के बाध्य की व्याख्या करते हुए केवल्य के विषय में यह बताया गया है कि केवल्य के लिए अविद्या का अभाव होना परम आवश्यक है । अविद्या ही संयोग का कारण है अविद्या का अभाव होने पर संयोगभाव होता है और वही ही अर्थात् दुरुक्त का केवल्य है । जैसे महाप्रलय में ही संयोगभाव होता है परन्तु यह संयोगभाव प्राथमिक नहीं है क्योंकि बुद्धि दृष्टि होने पर ये गुण एक ही होते हैं । केवल्य की स्थिति में संयोग का प्राथमिक अभाव हो जाता है । केवल्य तथा महाप्रलयकाल के संयोग-काल में वही अन्तर है । जीवमुक्त के स्वप्न का विवेचन तत्त्ववेत्तारकीकार ने बाध्यकार के ही सपना किया है ।

चतुर्थपाद के 34वें सूत्र के बाध्य की व्याख्या में केवल्य का विद्वान्त विवेचन प्राप्त होता है । गुण जब अन्ध कर्षण समस्त कर चुकते हैं तब वे अन्ध में लीन हो जाते हैं । इस स्थिति का प्रारम्भ ही अन्ध होता है । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध हो जाने के उपरान्त चित्त में केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में ही विद्यमान रहते हैं और चित्त के साथ ही ये अन्ध में लीन हो जाते हैं । चित्त के लिए तत्त्ववेत्तारकीकार ने 'मन' शब्द का प्रयोग किया है । मन अविमता में लीन होता है, अविमता, लिंग में और लिंग का पर्यवसान अलिंग में होता है । यही केवल्य की प्रक्रिया है जिससे गुण केवल्य प्राप्त करते हैं । इस स्था में अन्ध का दुरुक्त से अलग हो जाता है जिसे अन्ध का दुरुक्त के अति भोग कहा गया है । दुरुक्त ही अन्ध अन्ध के अन्ध में प्रतिष्ठित हो जाता है । स्वप्न-प्रतिष्ठित होना ही दुरुक्त का केवल्य है । परन्तु महाप्रलयकाल में दुरुक्त का एकल होना, स्वप्न-प्रतिष्ठित होना, केवल्य नहीं है । कारण महाप्रलय के अन्ध का बुद्धि दृष्टि के प्रारम्भ होने पर दुरुक्त बुद्धि से अलग हो जाता है । केवल्य प्राप्त दुरुक्त का बुद्धि गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है वह सब के लिए मुक्त हो जाता है ।

1 - अन्ध - सूत्र 10 13 F  
2 - अन्ध - वही - सूत्र 19 F

## राजमर्त्यकृत

जब बुद्ध के परिजनों का अवसान हो जाता है तब हित कर्तृत्व के अभिमान से रूढ़ित हो जाता है। इस समय आत्मा की अपने स्वस्थ में स्थिति होती है। आत्मा का स्वस्थ में अस्थिर हो जाना हो केवल है। केवल के अंत में निर्बीज-समधि का महत्वपूर्ण है। सम्राज्यसमधि का भी निरोध हो जाने पर संस्कारमय वृत्ति रह जाती है। पुनः संस्कार स्व. वृत्ति का भी जब निरोध हो जाता है तब निर्बीज-समधि होती है। निर्बीज-समधि में निरोध की क्रिया पूर्ण हो चुकी रहती है और आत्मा अपने स्व में अस्थिर रह जाता है। इस समय आत्मा की स्थिति केवली-वत्त्व की स्थिति होती है। आत्मा का केवली हो जाना हो केवल है।

विवेकव्यति द्वारा अविद्या का अभाव होने पर इच्छा और इय का संयोग/भाव हो जाता है। संयोग का अभाव होना ही केवल है। बुद्धिय केवली के वरन्तु जब इय के संयोग का अभाव हो जाता है तब केवल का व्यवस्था निरस्तपुनःपुनः में कर दिया जाता है। यहाँ यह उचित है कि इय का इच्छा से संयुक्त होकर रहना योग्य है। यह योग अविद्या के ही कारण है। अतः जब अविद्या का विनाश हो जाता है तभी केवल की वशा आती है। केवल की स्थिति विवेकव्यति द्वारा आती है। अतः विवेकव्यति का ज्ञान अथवा केवल का परम उपाय स्वीकार करने में कोई नशील नहीं है। विवेकव्यति के सर्वत्र में यह बताया गया है कि अविद्या विवेकव्यति ही ज्ञान का उपाय बन सकती है। विवेक का अर्थ व्युत्पन्न है। व्युत्पन्न रही विवेक ज्ञान विवेकव्यति में नहीं विद्यमान होते ऐसी विवेकव्यति ही अविद्या-विवेकव्यति कही गई है जो केवल का उपाय है। राजमर्त्यकृतकार ने भी जीवनमूल के स्वस्थ का विवेकन वाच्यकारकेही समझ किया है।

दुतोय-वाच के 26वें सूत्र के अन्त में वाच्यकार ने विवेक और वृत्तितोष साधकों का संज्ञान विवेकन वस्तुतः किया है वरन्तु जीवनमूलकार ने अपनी व्याख्या में इन साधकों के स्वस्थ का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी पाठ के 50वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिर्मुक्तदुःखीनकृत का केवल कहना गया है। बुद्ध के इति गुणों की कार्यसमधि हो जाने पर बुद्ध अज्ञान अपने स्वस्थ में अस्थिर हो जाता है। बुद्ध की यह स्वस्थ-वस्थिति ही उस का केवल है। 55वें सूत्र की व्याख्या में हित का अपने कारण प्रधान में उद्दिष्ट हो जाने को केवल कहा गया है। यहाँ हित अपने कार्य को समाप्त कर अपने कारण में लीन हो जाता है अतः हित को भी केवल की वृत्ति हो जाती है और बुद्ध

अकेला घब रहता है । पुरुष का यह अकेलापन ही उसके केवलय की स्थिति है ।

### विद्यारण्य

चित्तवृत्तियों से निवृत्ति ही मुक्ति है । जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब वृत्तिसङ्घ चित्त ही समीप के योग्य होता है और समीपस्थ चित्त ही ज्ञान में मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करता है । ज्ञान मोक्ष, प्राप्ति के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध ही सबसे प्रमुख तथा आवश्यक उपाय है । वृत्तियों का निरोध होने पर ही चित्त अवसितशक्तिरूप होकर अपने कारण वृत्तियों में लीन हो जाता है और पुरुषसत्त्व स्वस्वभावस्थिति को प्राप्त कर 'केवलय' की भाँति का अनुभव करता है ।

पुरुष 'अपरिणामी' तथा शुद्ध है । वह अधिस्तात्मी ज्ञान से आवृत्त हो जाने पर ही परिणामीरूप, अहङ्गीयैतया तावन्नदज्ज्य बोधों से युक्त विद्यकों में ललक रहता है परन्तु जब विवेकव्याप्ति का उदय होता है तब उसे सत्यस्थान द्वारा सभी पापों के भास्तिक स्वच्छ का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । विवेकव्याप्तिप्राप्त पुरुष इन सभी बोध रूप बोजों का समूह विनशा करके केवल विवेकव्याप्ति में ही निमग्न रहता है । यह विवेकव्याप्ति से प्राप्त 'सर्वज्ञत्व' और सर्वभावतीघञ्जत्व ज्ञान विद्युत्तियों के प्रति भी विरक्त चित्त होकर केवल विवेकव्याप्ति में ही लीन रहता है जिसे परिणाम स्वच्छ पुरुष का गुणों से भाव्यमित्तक वियोग हो जाता है और गुणों से भाव्यमित्तक वियोग प्राप्त कर पुरुष केवलय की स्थिति का साथ प्राप्त करता है ।

केवलय प्राप्त पुरुष गुणों से विद्युत्त हो जाता है जिसे पुरुष का गुणों से 'अभिधीभाव' का होना कहा गया है । चित्तवृत्तियों का बुद्धि तत्त्व से अभिधीत हो जाना ही उसका केवली हो जाना अर्थात् स्वच्छ-हीतीभूत हो जाना है । 'केवली-भाव' को प्राप्त हो जाना ही केवलय है । इस प्रकार पुरुष का केवलीरूप को प्राप्त हो जाना उसका केवलय है ।

- 1 - " चित्तवृत्तितानिवृत्तिरेव मुक्तिः इति । " — विद्यारण्य वृ० 119 ।
- 2 - " पुरुषव्याप्तिमित्तके गुणवियोगः केवलयम् । तथा स्वस्वभावतच्छ चित्तवृत्तितरेव पुरुषः । " — वही वृ० 307 ।
- 3 - " तत् केवलयं पुरुषस्य केवलत्वं गुणरहितोभाववदर्थः । " — वही वृ० 369 ।
- 4 - " बुद्धि सत्त्वानीयसंघमित्री या पुरुषस्य चित्तवृत्तितः तस्मिन् केवलयं तस्याः तथा तस्यैव अवस्थानं केवलायाः भावः केवलयम् । " — वही वृ० 369 ।

## योगशास्त्रिक

दृष्टियों का साक्षात्कार निरोध होने पर बुद्धि का प्राथमिक स्वरूपवर्धित ही मोक्ष है। इन्द्रिय-कल में चिन्तात्मिक को दृष्टिमात्रक होता है परन्तु अस्मत्कालता में तथा केवल ही प्रवृत्ति में चिन्तात्मिक दृष्टियों के साक्ष्य से रचित केवल अपने प्राथमिक स्वरूप में ही अवस्थित रहती है। बुद्धि की केवलता ही उसका केवल है। प्रिगुण उपाधि है, इनसे अलग ही जाना ही केवल है। केवल के लिए मोक्ष तथा अवर्ग नाम की वस्तुतः हुआ है। मोक्ष तथा अवर्ग का अर्थ भी वही है जो केवल का है। केवल के अर्थ में अस्मत्कालतया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चिन्ता के साथ दृष्टियों का प्राथमिक निरोध अस्मत्कालतया में ही सम्भव है। अस्मत्कालतया काल में चिन्तादृष्टियों के साथ अपने कारण वस्तु में सीमा ही जाना है। चिन्ता तथा दृष्टियों का सीमा होने उनका अस्मत्कालतया का प्राप्त होना है। चिन्ता जब अस्मत्कालतया को प्राप्त ही जाना है तब जो स्थिति बुद्धि की होती है उसे ही मोक्ष नाम से अभिहित किया गया है।

मोक्ष की वशा में चर्चा ही गुण-धर्म अस्मत्कालतया को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वे नष्ट नहीं होते क्योंकि अभी अन्य साक्षात्कार बुद्धि तो रहने ही हैं जिन्हे लिए उनकी उपाधि ही अभिहित है। साक्षात्कार में बुद्धि-वस्तु का सिद्धात्मक भाव है। उचित ही एक बुद्धि मुक्त ही जाना है तो भी अन्य बुद्धि अपनी उपाधियों से आवृत्त रहते हैं।

बुद्धि का स्वरूप वस्तुतः वशा से मुक्त है। वह मुक्त नहीं होता है। वस्तु होने तथा मुक्त होने का उस पर आरोध मात्र किया जाता है। वह आरोध ही अभिहित के कारण होता है। इन्द्रिय-कल में ही बुद्धि का प्रवृत्ति वही वस्तु, मुक्त स्वरूप रहता है परन्तु अभिहित के कारण उस समय बुद्धि का उपाधियों से संयोग विच्छेद होता है जब कि उसका चर्चाविवरण वशा से मुक्त है।

विज्ञानविद्यु ने केवल ही परम-मोक्ष बताया है। शक्ति ही प्रवृत्ति में चिन्तात्मिक उपाधि की प्राथमिक निवृत्ति होती है जिन्के कारण बुद्धि ही भी प्राथमिक निवृत्ति होती है। जीवनमुक्ति की वशा का वर्णन करते हुए व्याख्याकार विज्ञानविद्यु ने कहा है कि जीवनमुक्ति की वशा में योगी के साक्षात्कार वस्तु ही जाना है। अतः मोक्ष ही नहीं होता। परन्तु आरोध कर्मणियों के ही होते रहते हैं। अतः मोक्ष ही नहीं होता और न ही नष्ट कर्मणियों का वशा ही जाना है। अतः जीवनमुक्ति की वशा में जो भी जाना है वह भीमान्य है वास्तविक मोक्ष ही नहीं। निरन्तर विवेकव्यति होती रहने पर

धर्मिय-समाधि होता है। धर्मिय-समाधि में साधक की जो स्थिति होती है उसे ही जीवशुक्ति कहा गया है। इसके बाद बर-वेराय द्वारा धर्मिय-समाधि के प्रति भी वेराय हो जाने पर साधक को केवल यह बरम्-देष्ट गुक्ति की दशा ही प्रतिष्ठ होती है।

केवल्य का साक्षात् उपाय असम्भ्रान्तयोग है। असम्भ्रान्तयोग से ही उपधिषों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है जिससे केवल्य भी प्राप्त होती है। केवल्य के सर्वर्ष में सम्भ्रान्तयोग परम्परया सहायक होता है अतः सम्भ्रान्तयोग को केवल्य का साक्षात् उपाय नहीं मन्ना जाता है।

### योग वीरिका, पारंजतयोगसूत्रश्रुति

इन व्याख्याओं में भी केवल्य को परमशुक्ति माना गया है जिसमें दुस्व के औपश्रुतिक रूप की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और दुस्व आत्यन्तिक स्वस्वराश्रयित को प्राप्त करता है। केवल्य के लिए असम्भ्रान्तसमाधि का बहुत महत्त्व है। असम्भ्रान्त-समाधि को ही निर्बोज-समाधि भी कहा गया है। "निर्बोज इस लिए क्योंकि इस समाधि में श्रुतिषों के शोचक संस्कारों का भी निरोध हो जाता है और ज्ञत में श्रुति निरोध संस्कारों के साथ श्रुति में तीन हो जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार की श्रुतिषों का, संस्कारों तथा श्रुति का भी निरोध हो जाने से इस समाधि का नाम निर्बोज समाधि कहा है। इस समाधि में श्रुति दुस्व स्वस्वमात्र निष्ठ-केवली होता है। इस प्रकार केवल्य का अर्थ हुआ केवल स्वरूप मात्र में लवीकृत।

इन व्याख्याओं में योग और जपवर्ग का शिलेन्य बहुत ही सुन्दर ढंग से लिया गया है। त्रिगुण ही योग और योग के चेरक हैं। त्रिगुण को ही इष्ट भी कहा गया है। अतः त्रिगुणों के प्रबन्ध सुख, दुःख इत्यादि का साक्षात्कार करना ही योग है। श्रुति से सुटकारा या जना जपवर्ग है जिसे केवल्य भी कहा गया है।

। - " योगः सुखदुःखान्पतरसाक्षात्कारः । जपवर्गः सर्वारामश्रुतिस्वरूपकेवल्यं तौ शौगण्डवर्गवर्षः प्रयोजनं यद्य तस्मिन्निष्काम्यमेन प्रयोजनमप्योक्तम् । तद्वर्षं गुणवर्षं प्रदक्षकारणं भीवमेक्ष-प्रयोजनकं श्रुतवदार्थ इत्यर्थः । "

## मनिक्रम

चित्त की शक्ति, शोर, और सूक्ष्म वृत्तियों का निरोध रहे जाने पर बुद्धि अपने स्वभाविक रूप में स्थित हो जाता है। बुद्धि का स्वभाविक रूप चेतन्य है। वृत्तियों का निरोध हो जाने पर यह अपने चेतन्य रूप में ही स्थित होता है और बुद्धि को यह स्वरूपाभिप्राय ही कैवल्य है। कैवल्य की स्थिति के लिए निर्बीज-समधि का बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। निर्बीज-समधि से सभी प्रकार के संस्कार स्त्री बीजों का निरोध हो जाता है जिससे चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है और चित्त प्रधान में सीम हो जाता है। कर्म-स्वरूप बुद्धि क्लेश तथा बुद्धि-वृत्तियों से मुक्त होकर अपने ही रूप में स्थित रहता है।

बुद्धि का प्रधान को कहा गया है। प्रधान चेतन स्वस्त है और द्वय अर्थात् बुद्धि जड़ है। चेतन बुद्धि ही उत्तरी शक्ति है क्योंकि बुद्धि में उसके चेतनस्वरूप के कारण ही ब्रह्मत्व को प्राप्तता है। बुद्धि सम्पत्ति के साकार से साकारित होती है उस बुद्ध्याकाराकारित वृत्ति पर चेतन बुद्धि का सामिप्य हो जाता ही बुद्धि का शैव रूप है। बुद्धि को जब अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब बुद्धि को जो स्थिति होती है उसे ही अवलम्ब कहा गया है।

बुद्धि और बुद्धि के संयोग का कारण अविद्या है। अतः अविद्यास्वरूप के कारण ही मोक्ष है। अविद्या का अभाव ही संयोग रूप दुःख का नाश होता है। अभाव का अर्थ इच्छेति विनाशा किरा है। दुःख का अर्थ अविद्या ही है अतः उसका विनाशा ही इच्छा का कैवल्य है। इच्छा नित्यमुक्त है। अविद्या के कारण यह द्वय से संयुक्त सा जाती होती है। अविद्या का विनाशा होती ही वह अपने नित्यमुक्तस्वरूप में स्थित हो जाता है।

कैवल्य का उपाय अविद्या-विवेकप्रति है। अविद्याविवेकप्रति में बरबेराथ से सभी संस्कारों का तथा बावो दुःख का प्राथमिक विनाशा हो जाता है। दुःख का प्राथमिक विनाशा ही मोक्ष का उपाय है। दुःख का प्राथमिक विनाशा हो जाने पर ही वाचक जीवमुक्त हो जाता है। जीवमुक्त साधक का ज्ञान ब्रह्म ज्ञान जाता होता है।

अतः में कैवल्य की स्थिति की प्रतिपादन करते हुए मीनत्रभाषार ने यह लिखा है कि बुद्धि का यथार्थ स्वरूप सर्वथा निरामुक्त है, अविद्यावशात् ही उसके ऊपर शैव का आरोध। क्लेश उसे बद्ध और पुनः मुक्त कहा जाता है। अतः यह कहना ठीक ही है कि उसके ऊपर अविद्यात्म्य कथन, दुःखों का उच्चारण मात्र ही

यथास्ति, यह निश्चय ही स्वभाव वाला है ।

### योगसुत्रार्थवेधनी

इस व्याख्या में प्रथम पाद के तृतीय-सूत्र की व्याख्या में कैवल्य नाम का कर्त्तों की निर्देश नहीं किया गया है । अस्तित्वनि निरोध हो जाने पर दुस्त्व का क्या स्वरूप होता है इसी विषय का वर्णन यहाँ प्राप्त है । यह वर्णन इस प्रकार है ३— कृतिगों का निरोध हो जाने पर दुस्त्व अपने स्वभाविक स्वरूप में रह जाता है । कैवल्य नाम ही दुस्त्व का स्वभाविक स्वरूप है । इसी प्रधाय के ५में सूत्र की व्याख्या में भी, कैवल्य के संख्य में कोई विवेचन नहीं प्राप्त होता है ।

चतुर्थी-पाद के २४में, २५में सूत्र की व्याख्या में मोक्ष का वर्णन किया गया है । यथा — जीवत्या का अभाव होने पर दुःख क्लम संयोग का विनाश हो जाता है । संयोग का विनाश ही दुस्त्व का कैवल्य है । बुध्य और बुध में अवेद की प्राप्ति ही संयोग का कारण है । जब यह प्राप्ति दूर हो जाती है तब अहित प्रधान में लीन हो जाता है और दुस्त्व अपने निश्चयक स्वरूप में अस्वीकृत हो जाता है अतो दुस्त्व का कैवल्य कहा गया है । मोक्ष का कारण अधिप्यवधिबेक्यव्यति है । इस सिद्धान्त की इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है । अधिप्यवधिबेक्यव्यतिभिः साधका को जोयन्मुक्त नामक सिद्धि प्राप्त होती है अतः कारण यह जोयन्मुक्त हो जाता है ।

कैवल्य के संख्य में पूर्व पूर्व वर्णित विवेचन सुपूर्वपाद के ३४में सूत्र की व्याख्या में किया गया है । यहाँ बुद्धि तथा अस्तिविकि दोनों के कैवल्य का निश्चय बतोरहित किया गया है । दुस्त्वार्थ रूप्य हो जाने के कारण अहित तथा उसके विकारों का प्रधान में आद्यन्तिक तथा ही बुद्धि का कैवल्य है । इसी को प्रधान का भी कैवल्य कहा जा सकता है क्योंकि उदा तमय प्रधान अपने निश्चय अस्वा में रहता है । दुस्त्व से असंयुक्त हो जाने के कारण प्रधान का दुस्त्व के प्रति अलग हो जाता है । अलगव की वशा को ही प्रधान का दुस्त्व के प्रति कैवल्य कहा गया है । बुद्धि जब अपने कारण में लीन हो जाती है तब दुस्त्व बुद्धि की उपाधि से रहित अपने आप में ही अस्वीकृत हो जाता है । दुस्त्व को यह स्वस्वाधीव्यति ही दुस्त्व का कैवल्य है ।



## कैवल्य

कैवल्य की राता में दुस्व में आरोप्यमान-विकिधता नहीं रह जाती । जब चित्त प्रधान में लीन हो जाता है तब निर्दिकार चिन्तासि अर्थात् दुस्व अपने स्वल्प में अवस्थित हो जाता है । चिन्तासि का निर्दिकार स्वल्प व्युत्पन्नफल में भी रहता है परन्तु बुद्धियों के तारक्य कारण व्युत्पन्नकाल में दुस्व अपने स्वल्प से विभक्त हो प्रतीत होता है ।

असम्भवात्समाधि को 'कैवल्य-सांगोप' कहा गया है । असम्भवात्समाधि को ही 'निर्वीज-समाधि' भी कहते हैं । यह निर्वीजसमाधि ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का निरोध करती है । निरोध की क्रिया के फलस्वरूप चित्त में केवल निरोध-संस्कार प्रतीति रह जाते हैं । यह निरोध-संस्कार अज्ञ संस्कारों का निरोध कर दुःख ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संस्कारों को उत्पन्न नहीं होने देते । परिणामतः चित्त ज्ञान में केवल निरोध-संस्कार ही रूपा रह जाते हैं निश्च प्रकृति में लीन हो जाता है । इस समय दुस्व केवल अपने साथ में स्थित रह जाता है । दुस्व का अपने स्वल्प में अवस्थित होना ही कैवल्य कहा गया है ।

दुस्व का जब बुद्धि सही प्रकृति के बिजारों से तारक्यिक प्रयोग हो जाता है तब दुस्व केवली हो जाता है । दुस्व का एककीपन ही उसका कैवल्य है । कैवल्य का अर्थ वास्तविकार ने द्वाैतद्वैतत्व की है । तृतीय-सध्याय के ५४वें सूत्र के मध्य की व्याख्या में इसी तरह का वर्णन कैवल्य के संबन्ध में किया गया है । सत्सु-पाद के अन्तिम सूत्र में द्वाैत वर्णन इस प्रकार है । गुणों के बुद्धिसहीव . कार्य का द्वाैता के तिर प्रकृति में लीन हो जाना गुणों का कैवल्य है । दुस्व का बुद्धि से असम्बन्ध हो जाने पर उनका स्वल्प कीतिष्ठत हो जाना ही दुस्व का कैवल्य है । इस समय दुस्व की स्थिति 'अद्वैत' स्था की होती है । अद्वैत का अर्थ यहाँ कैवल्य किया गया है । एक दुस्व इस समय बुद्धिसहीव संबन्धों से रहित अज्ञेता, केवली रहता है । दुस्व को इस स्थिति को अद्वैत की स्थिति या कैवल्य कहा गया

स्वामिनारायणशब्ध

इत व्याख्या में पुरुष की 'स्वभावस्थिति' को 'परमेवत्य' की तर्फ ली गई है । जब इन्हीं पुरुष अपने निर्दिष्टकालमें स्वस्व में प्रतीति हो जाता है तब वह परमेवत्य को प्राप्त हो जाता है । 'परमेवत्य' को प्राप्त हुए निरोध-समय ही स्वाच्छेदोक्ति है । जब परमेवत्य द्वारा सभी प्रकार की कृतियों एवं लोकारों का निरोध हो जाता है तब अतन्त्रात्म-समधि का प्रादुर्भाव होता है । अतन्त्रात्मसमधि में केवल निरोध-लक्षण ही विल में अवशिष्ट रह जाती हैं, ये निरोध-लक्षण ही विल में सत्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब बुद्धि से विद्युक्त पुरुष शेष ही शरीर से भी विद्युक्त होकर अपने मित्य शून्य, बुद्ध, मुक्त रूप में स्थित होकर महाभूति को प्राप्त करता है ।

द्वितीय पाद में केवत्य का निरूपण करते हुए व्याख्याकार ने केवत्य को 'परमभूति' कहा है । कर्तृ-त्रय का आत्यन्तिक प्रभाव ही केवत्य है वय अवस्था में पुरुष को केवल अपने व्यर्थ स्वस्व का अनुभव होता है, तब प्राप्त ही पुरुष परमेवत्य की उपासना के द्वारा परमभूति रूप केवत्य की वशा को प्राप्त हो जाता है ।

-----

1 - " इन्द्र - देवतस्य पुरुषस्य । स्वस्य रूपे ऽ निर्दिष्टकाले तस्य स्वात्मन्येव 'अवस्थानम् - प्रतिभ्य - स्थितिः , विद्यते, यथा परम् केवत्य इति ।"

— सर्ग 10 पाठ 190 21 ।

2 - " बुद्धिबोधयोगे च सति शरीरवियोगस्तु मुनरागैव । तथा च निश्चायव्युत्थं मुनिं स्वभावः पुरुषो स्वात्मवर्तनं परः परमेवत्ववर्तनं परात्मो वा महाभूतिो भवतीति ।"

— सर्ग 10 पाठ 199 ।

3 - " तत्त्वज्ञानिनो वेदाद्यवगते योगिना आद्यन्तिकसु च्छब्दवाऽत्यन्त्याभाव एव केवत्य - मित्युक्तम्, इदं च केवत्यं केवलस्वात्मस्वस्वमात्राऽनुभवदर्शनीयं, अतस्ततोऽप्यर्थं परमेवत्वोपासनया जगत्पदव निवासस्तं केवत्यं परमा भूति-रित्युच्यते । "

— सर्ग 10 पाठ 220 ।

इस प्रकार पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाना ही कैवल्य है ।  
 अतः जब गुण अपने पुरुषार्थ समाप्त कर अपने कारण वक्रीत में लीन हो जाते हैं  
 तब चित्त के अन्य संस्कार भी अपने कारण चित्त में लीन हो जाते हैं । चित्त वा मन  
 अधिमत्त में लीन होते हैं और अधिष्ठातामहतत्त्व में और महत्त्व वक्रीत में लीन हो  
 जाते हैं । इस प्रकार वक्रीत के जितने भी कार्य होते हैं सभी अपने कारण 'अपान' यह  
 'वक्रीत' में लीन हो जाते हैं । 'वक्रीत' में गुणों का लीन हो जाना गुणों का कैवल्य  
 कहा गया है । गुणों से विद्युत चित्तानित सभी से चिन्मिद्वल होकर केवल पुरुष-मन  
 में प्रतिष्ठित हो जाती है । चित्तानित का स्वयं प्रतिष्ठित हो जाना ही इसका मंत्र  
 है । इस अवस्था को ही योग का परमफल तथा परमकैवल्य तथा, परममुक्ति कहा  
 गया है ।

। - " तथा पुरुषस्य " आत्यन्तिको गुणवियोगो " कैवल्यमिति श्रुतिः । "

आ० भा० पा० पु० ३० ३ १

व्यक्तियों का प्राथमिक मूल्य  
व्यक्तियों का प्राथमिक मूल्य

योग का लक्षण प्रतिपादित करने में सभी व्याख्याकारों ने वाच्य स्वीकृत अर्थ के साथ ही स्वरथ प्रकट किया है। स्पष्टीकरण की परिधिवा और प्रतिपादन प्रकार में शक्य षोडा बहुत अन्तर सभी व्याख्याओं में उपलब्ध होता है। अर्थ की दृष्टि से योग के लक्षण/संबन्ध में प्रायः सभी व्याख्याकार एक-मत हैं। 'योगविद्यतवृत्तिनिरोधः' सूत्र के अन्वय पर सभी व्याख्याकारों ने विरतवृत्तियों के निरोध को ही 'योग' स्वीकृत किया है। 'वृत्तिनिरोध' के संबन्ध में शक्य कुछ मतभेद विज्ञाप्य प्रकृत है। वाच्य में 'निरोध' का अर्थ 'रोकना' किया गया है। जब कि तत्त्ववेत्तारथी के अनुसार 'निरोध' का अर्थ वृत्तियों का अभाव होता है। राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार 'प्रतिताम्यपरिणाम' द्वारा विरत की वृत्तियों को उनके कारण से तीन कर देना 'निरोध' है। विवरण-कार ने 'निरोध' शब्द का तात्पर्य अर्थ नहीं किया है। वार्तिककार की दृष्टि में वृत्तियों का अन्वय अधिकरण में तीन ही जना ही 'निरोध' है। योगवीर्यका के अनुसार वृत्तियों तथा तत्त्व्य संस्कारों का अत्यन्तबन्ध 'निरोध' है। 'वार्तिकयोगसूत्रवृत्ति' के अनुसार ब्रह्म तथा प्रलोकित-संस्कारों का निःशेषबाध 'निरोध' है। शेषश्रवा के अनुसार वृत्तियों का अवसितधिकार ही जाना ही निरोध का अर्थ है। सुमार्त्यबोधिनी और योग-सिद्धन्तबन्धिका में शेषश्रवा के निरूपण को ही प्रकृत किया है। वास्तविकार ने निरोध के अर्थ का निरूपण करने में राजमार्तण्डवृत्ति का अनुसरण किया है। आश्विनारायणबाण में वृत्तियों के उनके कारण विरततत्त्व में अत्यन्तबन्ध तय को 'वृत्ति-निरोध' कहा गया है।

इस अनेक व्याख्याओं में प्रतिपादित 'निरोध' के अर्थ का वर्णन देखकर यह कहना उचित ही है कि 'निरोध' के अर्थ का अन्वय सभी ने किया है और किसी का अन्वय ही वृत्तियों के अन्वय नहीं है। जब यहाँ यह देखना है कि निरोध संबन्धी उक्त व्याख्याओं में से कौन सी व्याख्या सर्व-संगत है।

- 1 - इन्द्रिय - व्यासवाच्य पृ० 1 32 f
- 2 - इन्द्रिय - तद्व्योम 10 f
- 3 - इन्द्रिय - रतोगोपु 8 f
- 4 - इन्द्रिय - योगवीर्यका पृ० 7 f
- 5 - इन्द्रिय - योगवीर्यका पृ० 33 f
- 6 - इन्द्रिय - वास्तविकार योगसूत्रवृत्ति पृ० 34 f

'निरोध' के स्वच्छ के संबन्ध में विचार करते समय वाच्यकार एकवचन से मैन है। तत्त्वज्ञानारपीकार ने कृतियों के अभाव को ही निरोध माना है। तत्त्वज्ञानारपीकार का निरोध विषयक यह तत्त्व श्रवणार्थों के लिए शक्तिस्वरूप हो सकता है। इस तत्त्व से विषय का स्वच्छ स्वच्छ होने के क्षण पर अस्वच्छ ही रह जाता है। यौव 'निरोध' का अर्थ अभाव मान लिया जस्ये तो संयोगान और अतच्छक्त दोनों प्रकार की सम्भावियों का निषेध हो जस्येगा। अतः 'निरोध' की यह व्याख्या समुचित नहीं है। इसी तरह विचारकार द्वारा द्रव्यत की गई व्याख्या भी 'निरोध' के तन्वी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है। विचारकार ने इसी तथा वस्तुत-संस्कारों के प्राथमिक तय को निरोध कहा है। यह परिभाषा 'निरोध' की न होकर 'केश्य' की हो सकती है शक्ति केश्य में ही यही प्रकार के ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का प्राथमिक तय हो जाता है और पुरुष स्वच्छस्वच्छस्वच्छ में अवस्थित हो जाता है। अतः विचारकार का 'निरोध' विश्वक विवेचन अपने विषय से हट कर अन्य विषय का प्रतिपादन करता है। इसी तरह स्वामिनारायण-वाच्य में भी निरोध का विवेचन करते समय व्याख्यानार ने श्रवण्य अभावसिद्धि गती का विस्तृत विवेचन किया है। मनिवना, राजमार्त-कृति, योगदीपिका और योगसिद्धान्तसिद्धि-क ही सभी का वर्णन यद्यु के उपरान्त केवल योगमार्तिक में प्रतिपादित 'निरोध' का स्वच्छ ही कालि हवृ तक विषय का शब्द करने में सहायक है।

वर्तितके अनुसार कृतियों का अपने अतिफरण में लीन हो जाना ही 'निरोध' है। अतिफरण में लीन होने के कारण कृतियों अत्यन्तमात्र को नहीं प्राप्त होतीं द्रव्यत अपने फारमस्व बुद्धि या चित्त में मौजूद रहती हैं। इस विवेचन के तत्पर पर सम्भवत, अतच्छक्त दोनों प्रकार के योग में फिर गए कृतिनिरोध पर ध्यान पड़ता है।

व्युत्पन्नकालिक 'कृतिसाख्य' के वर्णन में भी हम सभी व्याख्याओं में वर्णित ज्ञान है। वाच्य के अनुसार पुरुष का प्रतीचम् ही बुद्धिकृतियों का ज्ञान प्राप्त करना है और चेतनरुद्ध चित्तसिद्धि अवरिचामिमी तथा अवरितेजमा होती हुई भी बुद्धिकृति में जब प्रतीचाम्यत होती है तब वह बुद्धिकृति से अविभक्त होनी हुई ज्ञान रही कृति वाली कही जाती है। तत्त्वज्ञानारपीकार ने 'स संबन्ध में एकविधवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यथा — पुरुष अवरिचामिमी है, उसको ज्ञान के लिए तत्त्वज्ञानारकारित नहीं होना पड़ता है। वह तो अपने प्रतीचाम्यमात्र से ही बुद्धिकृति को देखता है तथा

उसके ज्ञान का प्रतीक बनता है। इस प्रकार वाचस्तीतिव्यव ने द्वाप्रतिविम्बभाव के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है। इस संबन्ध में अर्थाय विज्ञानविशु का मत उक्त दोनों व्याख्याकारों से विभन्न है। विज्ञानविशु ने द्वाप्रतिविम्बभाव के सिद्धान्त को सिद्धान्तित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार पहले पुरुष का प्रतिविम्ब जड़ - बुद्धि में पड़ता है जिससे बुद्धि चेतनबन्धु होती है। चेतनबन्धु बुद्धि विषय में अस्फार से अस्फारित होती है। इस विषयाकाराकारित बुद्धि का प्रतिविम्ब जब पुरुष में पड़ता है तब पुरुष बुद्धिप्लुत ज्ञान का ज्ञाता, श्रेयता भयवा इमता बनता है। इस प्रकार विज्ञानविशु ने पुरुषप्रतिविम्ब और बुद्धिप्रतिविम्ब को स्वीकार कर द्वाप्रतिविम्बभाव को स्थापना की है।

राजमार्कण्ड-शक्ति में तत्त्ववेत्तारथी के ही सिद्धान्तों का अनुसोदन किया गया है। विश्वरूप के अनुसार 'श्रुतिसारस्य' व्युत्पत्तकाल में पुरुष के ऊपर प्रारंभिक की जाती है। 'योगवीथिका' में इस विषय के संबन्ध में कुछ विचार उल्लेख नहीं किया गया है। 'पारतन्त्रायोग सूत्रशक्ति' में विज्ञान-विशु के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। 'मणिप्रभा' में 'श्रुतिसारस्य' के विषय में लिखा गया है कि श्रुतिसारस्य होने पर ही पुरुष बद्ध होता है। परन्तु श्रुतिसारस्य से पुरुष के पथप्रतिपदस्य पर कोई सुप्रभाव नहीं पड़ता। 'सूत्रार्थवेधीनी' और 'योगसिद्धान्तशक्ति' में 'मणिप्रभा' में व्याख्यात मत का ही उद्घाटन किया गया है। 'वासुदेवकार' के अनुसार व्युत्पत्तकाल में बुद्धिप्रतिविम्बों से संयोग होने पर पुरुष उन्नीं श्रुतियों के रस का भासित होता है। 'स्वामिनारायणभाष्य' के अनुसार बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही श्रुतिसारस्य होता है। इस संबन्ध में द्वाप्रतिविम्बभाव को इन्होंने भी स्वीकृत किया है। पुरुष में बुद्धि का विम्ब बढ़ने पर वह विम्ब से असम्बद्ध होने पर ही उसका चोदना बनता है।

'श्रुतिसारस्य' के संबन्ध में वर्णित सभी व्याख्यातों का अनुसोदन करने पर

- 
- |     |          |   |                            |
|-----|----------|---|----------------------------|
| 1 - | इन्द्रिय | - | पृ 10 से 0 पृ 20 f         |
| 2 - | इन्द्रिय | - | योगशा 0 पृ 21 f            |
| 3 - | इन्द्रिय | - | विश्वरूप पृ 14 f           |
| 4 - | इन्द्रिय | - | मणिप्रभा पृ 4 f            |
| 5 - | इन्द्रिय | - | वासुदेवी पृ 19 f           |
| 6 - | इन्द्रिय | - | स्वामिनारायण भाष्य पृ 46 f |

उन व्याख्याओं के बार-बारिक वेद तथा साध का ज्ञान प्राप्त होता है । अनुभव विषय को लेकर तत्त्वज्ञान-वीकार और योगव्यतिकार के मध्य तीव्र मतभेद है । तत्त्वज्ञान-वीकार ने 'वृत्तिसारण्य' के संघर्ष में 'एक वृत्तिनिश्चय' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है । इनके अनुसार चित्तलक्षणव्यक्ति के कारण ही जब बुद्धि चेतनवत् होती है चेतनवत बुद्धि ही वचनकाराकारित होकर वचन-रूप से प्रकृत होती है । इस समय पुरुष वृत्तिनिश्चय उस बुद्धिवृत्ति का इन्द्रिय या बोधका बनता है । यहाँ वर केवल चित्त-लक्षणव्यक्ति एक एक-वृत्तिनिश्चय ही स्वीकार किया गया है बिना-वृत्तिनिश्चय का सिद्धान्त कहा गया है ।

इसके विपरीत योगव्यतिकार ने द्विवृत्तिनिश्चयवाद के सिद्धान्त को माना है । इनके अनुसार चित्तलक्षणव्यक्ति के उपरान्त बुद्धिवृत्ति क्षमते के बाद सम्निहित पुरुषतत्त्व में बुद्धिवृत्ति का प्रतीकत्व होता है तब पुरुष ही ज्ञान का बोधका बनता है । साध-कार व्यास का इस सिद्धान्त के संघर्ष में विचार उक्त दोनों व्याख्याकारों से निम्न है । साधकार ने चित्त की उपरान्त बुद्धि से लेकर 'वृत्तिसारण्य' को समझाने का प्रयत्न किया है । जिस प्रकार बुद्धि में लोहे के प्रति प्रसन्नता होता है इसके कारण लोहे का सम्निहित होने पर बुद्धि स्वतः लोहे को अपनी तरफ आकर्षित है उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति भी सम्निधिमान होने पर ही पुरुष का प्रतिबिम्ब करता है । यतः पुरुष बुद्धिवृत्ति दोनों का ज्ञान, बोधका, बनता है ।

उक्त तीनों व्याख्याकारों तथा अन्य भी व्याख्याकारों की वृत्तिसारण्य विषयक व्याख्या को देखने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विश्वानन्द का प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक सर्वत्रय तथा वैज्ञानिक है । क्योंकि यह तो सर्वथा सिद्ध है कि बुद्धि जब है वह अपने आप कुछ नहीं कर सकती । जब पुरुष वृत्तिनिश्चय बुद्धि पर रहता है तभी वह चेतनवत् होती है और चेतनवत् होने पर ही वह विषय का ज्ञान प्राप्त कर विषयकाराकारित होती है । ऐसी बुद्धि का वृत्तिनिश्चय जब पुरुष में रहता है तब पुरुष उस बुद्धिवृत्ति का बोधका बनता है । विश्वानन्द ने यही ही सूत्रमन्त्र के माध्यमसे बोध की वृत्तियाँ ही समझाया है । इसका सूत्र विवेकानन्द जना किन्हीं की व्याख्या में नहीं किया गया है । जना 'वृत्तिसारण्य' का विवेकानन्द विश्वानन्द का ही अधिक मन्त्र उद्धाराया गया है ।

समस्त-चित्त वाले सत्त्व के लिए योग प्राप्त के दो उपायों का निर्दिष्ट मिलता है । उन उपायों की व्याख्या लगभग सभी व्याख्याकारों ने समान रूप से किया है । कहीं



कोई मतवैध नहीं द्विष्टीगोचर होता है । इति योग के दो तर्कों का उल्लेख करते हुए सम्प्रदाययोग के दोष वैध 'अधिमत्तानुगत' सम्प्रदायसमर्थि के विषय में कुछ मतवैध द्विष्टीगोचर होता है । यथा - बाध्यकार ने दुरन्धरप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि को ही 'अधिमत्तत्व' माना है ।<sup>1</sup> साथक ही जब 'अधिमत्तत्व' का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है तब अधिमत्तानुगत - सम्प्रदायसमर्थि होती है । तत्त्वज्ञानरक्षीकार ने बुद्धि में उल्लिखित दुरन्धर प्रतिबिम्ब ही को 'अधिमत्तत्व' माना है ।<sup>2</sup> योगसार्थिककार ने बुद्धि और दुरन्धर की एकस्यता को 'अधिमत्त' माना है ।<sup>3</sup> बुद्धि और दुरन्धर की एकस्यता ही तभी होती है जब कि वह दुरन्धर प्रतिबिम्ब से युक्त होती है । उक्त विवेचन में यद्यपि कथन का प्रकार भिन्न है । परन्तु दोनों व्याख्याकारों ने मान्यता एक ही सिद्धान्त को दी है । 'राजमार्गवृत्ति' का ही विषय के संबंध में सबसे भिन्न मत है । इन्द्रेणि 'महत्-तत्त्व' को 'अधिमत्त' माना है ।<sup>4</sup> जब कि तत्त्व में केवल महत्-तत्त्व को ही सत्ता प्राप्त रहने में रह जाती है तब अधिमत्तानुगत सम्प्रदायसमर्थि होती है ।

मणिप्रसादर का इस संबंध में विचार राजमार्गवृत्ति से विद्वुःसन्निभ है । इन्द्रेणि महत्तात्त्विक के साथ एकीभूता बुद्धि के साक्षात्कार को 'अधिमत्त' माना है । इसका यह विचार तत्त्वज्ञानरक्षी से मिलता जुलता है । योगसूत्रवीथिका में ही 'अधिमत्त' का वर्णन भिन्न रूप में किया गया है । इन्द्रेणि एक अज्ञान को ही ध्येय रूप में स्वीकार कर उसमें चित्तानुगत, विचारानुगतविध चारों समर्थियों का वर्णन किया है । जब ध्येय रूप आत्मज्ञान में जोषेत्कार रूप दुरन्धर का साक्षात्कार होता है तब अधिमत्तानुगत-सम्प्रदायसमर्थि होती है । वास्तवयोगसूत्रवृत्ति में ही विद्वुःप्रतिबिम्ब इस संबंध में ज्ञान होता है । इन्द्रेणि दुरन्धर के अपने उपार्थरूप के ज्ञान से अज्ञात ही जाना रूप को 'अधिमत्त' माना है । 'अधिमत्तानुगत' को ही धर्मियसमर्थि की पराकलन कहा गया है । स्वामिनारायण-बाध्य में दुरन्धर और बुद्धि के संयोग की स्थिति में त्रैविध्य का ही स्थिति को ही अधिमत्त माना गया है । इस स्थिति की पूर्ण साक्षात्कार को ही 'संनिभ' सम्प्रदायसमर्थि माना गया है ।

|     |              |   |                |    |     |
|-----|--------------|---|----------------|----|-----|
| 1 - | द्विष्टीगोचर | - | व्यासबाध्य     | ५० | ५४  |
| 2 - | द्विष्टीगोचर | - | तदवैध          | ५० | ५९  |
| 3 - | द्विष्टीगोचर | - | योगवैध         | ५० | ५७  |
| 4 - | द्विष्टीगोचर | - | राजमार्गवृत्ति | ५० | ४१  |
| 5 - | द्विष्टीगोचर | - | मौलिकता        | ५० | ९१  |
| 6 - | द्विष्टीगोचर | - | राजमार्गवृत्ति | ५० | १५१ |
| 7 - | द्विष्टीगोचर | - | स्वामिनारायण   | ५० | ८५१ |

इन्मेनि अस्मितानुगत के स्थान पर 'सामिभू' शब्द का प्रयोग किया है । विवरणकार ने चारों समीपियों के साथ 'स्व' शब्द को संयुक्त किया है । यथा वितर्कस्थानुगत सम्भ्रत-समीपि, विचारस्थानुगत, ज्ञानम्बरस्थानुगत और अस्मितास्थानुगत । यहाँ 'स्व' शब्द भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । विवरणकार ने अस्मिता शब्द को महोकार के अर्थ में लिया है । जब महोकार मात्र ही चित्त में प्रवेशित होता है तब 'अस्मितास्थानुगत' उपादानसमीपि होता है । गण्यतोकार ने सभी बौद्धिकवृत्तियों में अहम् को 'अस्मिता' माना है चित्त का अहम् वृत्ति के साथ परिपूर्ण रूप से तदाकारकहित होता अस्मितानुगत सम्भ्रत-समीपि है ।<sup>1</sup>

'अस्मितानुगत' सम्भ्रतसमीपि की व्याख्या सभी व्याख्याकारों ने कीयों है । इस संक्षेप में भाष्यकार की व्याख्या अतिशोचनीय है । 'स्वामिभूतसमिपिअस्मिता' केवल इतनी ही व्याख्या देकर भाष्यकार ने इस विषय का विवेचन समाप्त कर दिया है । इतनी संक्षिप्त व्याख्या से विषय का स्वच्छ अर्थ नहीं हो जाता है । भाष्य के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं का वर्णन करने के उपरान्त वही विषय पर सर्वोपरिव्याख्या तर्किककार की ही प्रिय है । इनके अनुसार अस्मितानुगतसमीपि में छेय रूप में एक मात्र ही रहता है । इस समय वह अनुभव अस्मिताकारक होता है । इस समीपि में ही सुदृक् चिन्तुिन्मात्ररूप आत्मा का साक्षात्कार होता है । इस समीपि में चित्त महोत्तु पुरुष के साकार से साकारित होता है ।<sup>2</sup>

इसी तरह जसम्भ्रत योग के दो चोनों में से किसी में चोनों को योग माना है और किसी व्याख्याकार ने केवल उपादानव्ययजसम्भ्रत में ही योग माना है । यथा -- भाष्यकार ने 'व्ययव्ययजसम्भ्रत' को 'योग' नहीं माना है । तत्त्ववेत्तारोकार और राजमार्तव्युत्तिकार ने भी 'व्ययव्ययजसम्भ्रतसमीपि' को योगवास माना है दो नहीं । गण्यमात्रकार ने भी इस समीपि को योग प्राप्त करने के बहुत योगियों के लिए व्यय्य बतलाया है । योगप्रार्थनेवैदिकी और योगीयस्थान्मन्त्रिका चोनों में इस समीपि को अतिव्यय्य माना गया है । ज्ञानान्मेष ने अपनी योगवीथिका में इस विषय पर कोई स्पष्ट विवेचन

1 - अष्टक्य - विवरण पृ० 47 प

2 - अष्टक्य - भाष्यनी पृ० 34 प

3 - " एक एवास्मांशां प्रियत्वे नस्ति वयेकस्मिन् तथा योगम् । स्वल्पम्ने वा क्तिन्ने केवलपुरुष्माकारा समित् साक्षात्कारोऽस्मि वयेतल्लम्माकारत्वास्मिन्नेऽर्थः सा च जीवात्कीलभ्या परमात्कीलभ्या वेति द्विधा लक्ष्यते, तेमानुगतो युक्तो निरोपोऽस्मिता अनुगतमात्र योग उच्यते । "

मर्ही दिया है । भारतजययोगसूत्रवृत्तिकार नागोजीबट्ट के अनुसार भवब्रह्मण्य-असम्भ्रान्तसमाधि जन्मकारणक है । अतः यह समाधि 'योग' नहीं हो सकती । शक्यता में ही इस समाधि को कैवल्या के लिए उपयोगी नहीं माना गया है । केवल योगवार्तिककार ने ही इस समाधि को भी 'योग' माना है ।<sup>3</sup> इस संक्षेप में वार्तिककार ने यह लक्ष्य दिया है कि विवेक और वृत्तित्तोम उपासक भी ब्रह्म-योग के बरवात् मुक्त हो जाते हैं अतः इस समाधि को भी 'योग' के अन्तर्गत ही स्वीकार करना चाहिए ।

अथ व्याख्यातों तथा योगवार्तिक में यहाँ केवल स्वप्न ही परिचयित हो जन्म है । अन्य व्याख्यातों के अनुसार ब्रह्म-योग के बरवात् विवेक तथा वृत्तित्तोम पुनः जन्म लेते हैं अतः भव-ब्रह्मण्य असम्भ्रान्त समाधि योग नहीं है । योगवार्तिककार के अनुसार ब्रह्म-योग के अनुसन्ध बरवात् ये उपासक मुक्त हो जाते हैं । इस संक्षेप में स्वामिनारायणभाष्य का निवेदन कुछ असम्भ्र तथा अनुसन्ध है । इसके निवेदन से भवब्रह्मण्य - असम्भ्रान्तसमाधि के स्वप्न का तीव्र भी स्पष्टीकरण मर्ही होता है । स्वामिनारायणभाष्य के अनुसार भवब्रह्मण्य-असम्भ्रान्तसमाधि विवेकी और वृत्तित्तोमों को प्राप्त होती है क्योंकि उन्हें जन्म से ही असम्भ्रान्तयोग की सिद्धि प्राप्त होती है । इसके लिए उन्हें किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती है ।<sup>4</sup>

उक्त निवेदन से सभी व्याख्याकारों का 'भवब्रह्मण्य-असम्भ्रान्तसमाधि' विषयक मत स्पष्ट हो गया । असम्भ्रान्तयोग चित्त की संकाररोषावस्था का नाम है । इस समाधि में निश्च योगी के ब्रह्म प्राप्त करता है । भवब्रह्मण्य-असम्भ्रान्तसमाधि विवेकी और वृत्तित्तोम साधकों को होती है । ये साधक ब्रह्म-योग के समय कैवल्या के समान मुक्ति की सी स्थिति का अनुभव करते हैं और यही ब्रह्म-योग समाप्त होता है पुनः के संसार में जन्म ले लेते हैं । इन साधकों की इस स्थिति को देखकर इनकी समाधि को 'योग' नहीं कहा जाता चाहिए । अतः इस संक्षेप में व्यासभाष्य, तत्त्ववेत्तारणी, राजनार्त्तवृत्तिक भाष्यना, स्वामिनारायणभाष्य और विवरणी के सिद्धान्त ही यथ्य ठहराये जा सकते हैं । इस विषय से संबंधित योगवार्तिक का निवेदन उचित तथा सही नहीं वृत्तित्तोम होता है । 'उपाय ब्रह्मण्य' असम्भ्रान्तसमाधि के संक्षेप में सभी व्याख्याकार रुकमत हैं ।

- 
- |     |           |   |                   |
|-----|-----------|---|-------------------|
| 1 - | ब्रह्मण्य | - | पृ० 16 पृ० 16 पृ० |
| 2 - | ब्रह्मण्य | - | पृ० 57 पृ०        |
| 3 - | ब्रह्मण्य | - | पृ० 61 पृ०        |
| 4 - | ब्रह्मण्य | - | पृ० 86 पृ०        |

ईश्वर के स्वस्व के संकल्प में सभी व्याख्याकारों के मत कुछ न कुछ मयी-मयी विचित्रताएँ लिए हुए हैं। "श्वेतलक्ष्मीव्याख्याकारों" से प्रचारायुक्त दृश्य विशेष 'ईश्वर' है। ईश्वर संकल्पों इस विशेषता को ही मयी मानते हैं। परन्तु ईश्वर के स्वस्व के विषय में किसी विशिष्ट धारों का उल्लेख ही प्राप्त होता है। यथा -- योगवार्तिककार ने ईश्वर को जगत का स्रष्टा और संहार-कर्ता माना है। राजवार्तिकवृत्ति में भी ईश्वर को सृष्टि और संहारकर्ता के स्वरूप में ध्योकार किया गया है। अभिरामकार ने ईश्वर को प्रकृत का प्रयोजक ही मान लिया है। ईश्वर के अन्वय इस प्रकार के गुण का विशेषण केवल अभिराम में ही किया गया है। स्त्रीकाराद्यव्याख्य में भी ईश्वर के स्वस्व का वर्णन कुछ मयी-मयी लिए हुए है। इन्होंने ईश्वर को 'जानप्रदक' माना है। ईश्वर के लिए 'परब्रह्म' शब्द का प्रयोग ही इस व्याख्या में किया गया है। ईश्वर के अन्वय 'सर्वत्र स्वता' सवीमिच्छकता और सर्वोत्पत्तिवत्ता इत्यादि विशेष गुणों का प्रथम कर इन्होंने ईश्वर को 'ब्रह्मात्मा', ब्रह्मेन्द्र और 'उत्तमदुस्व' माना है। विवरणकार ने ईश्वर को विशेषता का निरूपण सबसे विचित्र तरीके से किया है। उनके अनुसार साक्षात् शय से विभिन्न, प्रधान/दृश्य से अतिरिक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' है। ईश्वर को इस जगत का स्रष्टा, निर्माता और संहारकारक भी माना गया है। योगवार्तिक तथा वार्तिकयोगसूत्रवृत्ति में योगवार्तिक को ही मयी ईश्वर के स्वस्व का निर्बन्धन किया गया है। भाष्यों में ईश्वर का स्वस्व वर्णन व्याख्य के ही अनुसार किया गया है।

ईश्वर के स्वस्व संकल्पों सभी व्याख्याकारों की व्याख्या को बढ़ने के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि योग में प्रतिपादित ईश्वर के स्वस्व का वर्णन व्याख्यार में ही किया है। लक्ष्मीकार, योगवार्तिककार, अभिरामकार, राजवार्तिकवृत्तिकार और विवरणकार आदि ने ईश्वर के स्वस्व का जो वर्णन किया है वह योग के अतिरिक्त वैश्व-स्तरीय वर्णनों से प्रभावित है। अतः यदि यह प्रश्न किया जाय कि योगवार्तिक के अनुसार ईश्वर का स्वस्ववर्णन किस व्याख्या में प्राप्त है तो इसका सरल उत्तर यह है कि व्याख्य में प्रतिपादित ईश्वर का स्वस्व ही योगसम्मत है।

1 - दृष्टव्य - स्यात्प्रागुक्तं पृ० 97 f

2 - दृष्टव्य - विवरण पृ० 34 f

समाप्ति के संबंध में वाच्यकार ने स्पष्टतः सविशेषीय चार प्रकार की समाप्तियों का वर्णन किया है। तत्त्ववेत्तारदीकार के अनुसार ७ प्रकार की समाप्तित्वा मानी जानी चाहिए। योगवर्तिककार ने वाच्यवर्तिककार के समाप्तिसिद्धयन्त्रिका के ज़रूरत से वर्णन किया है और योगवर्तिक में ५ प्रकार की समाप्तियों का उल्लेख किया गया है। समाप्तियों के बीच प्रकारों का उल्लेख करते हुए वर्तिककार का कहना है कि प्रथम और प्रथम का अन्तर्भाव, निर्वातर्क और सविधारा, निर्वातारा में हो जाता है। परन्तु अन्तर्भाव अन्तर्भाव इन स्थूल, सूक्ष्मत्वों में नहीं हो सकता मतः इसके लिए प्रतीतिविषयक समाप्ति को मत्पता अनिवार्य है। राजमार्तण्डवर्तिक/वी समाप्ति के चार ही वेदों का उल्लेख किया गया है। अन्तर्भाव, योगवर्त्यान्वयिका, वाच्यता, विवरण और स्वामिनाराधनवाच्य में भी वाच्यविमत समाप्ति के चार वेदों का ही वर्णन किया गया है।

सैद्धांतिक दृष्टि से भी समाप्ति के चार वेद ही अधिक तर्क-संगत तथा उचित हैं। अव्ययवेदों की कल्पना भी इनही चारों में समाहित है। मतः सुततः चार वेद ही तर्क-संगत हैं और इसी लिए समाप्ति के संबंध में वाच्यकार का निर्णय ही अधिक उचित जान पड़ता है।

सामान्यतः में वर्तिक विषयों में क्रियायोग का वर्णन ही प्रारम्भिक वर्णन है। वाच्यकार तथा अन्य सभी व्याख्याकारों ने क्रियायोग के संबंध में यह स्पष्ट कहा है कि क्रियायोग का साधक व्युत्थित-चित्त वालों के लिए अनिवार्य है। 'क्रियायोग' से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के विषय में सभी व्याख्याकार एक मत हैं। सभी ने यह स्वीकृत किया है कि क्रियायोग से केवल तत्कृत किए जाते हैं। क्रियायोग के वर्धन में वर्तिककार ने साधकों को चेष्टाबद्ध किया है। इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के वेद से तीन प्रकार के साधकों की श्रेणियों का उल्लेख किया है। अध्याय और वेदाध्यय उत्तम या समीकृतचित्त वाले साधकों का साधन है। मध्यमेष्टी वाले साधक मध्यमतः क्रिया-योग का साधन करते हैं तत्पश्चात् अध्याय और वेदाध्यय द्वारा योग प्राप्त करते हैं। अध्यायकारी को योग के साठ तर्कों की साथ क्रियायोग तथा इसके पश्चात् अध्याय और वेदाध्यय का साधन करना अनिवार्य होता है। साधकों के बीच इस प्रकार का वर्गीकरण तिल्लामिसु के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्याख्याकार ने नहीं किया है। दो प्रकार का वर्गीकरण ही सभी को व्याख्याओं में उपलब्ध है और यह है समीकृतचित्त वाले साधक द्वारा व्युत्थित-चित्त वाले साधक। इन दोनों साधकों के लिए उक्त साधनों का वर्णन सभी व्याख्याओं में प्राप्त है।

योग के सन्नों का पूरा वर्णन देखते हुए शास्त्रों को लेखीय दृष्टता का ध्यान प्राप्त होना अनिवार्य भा लगता है । इस दृष्टि से विश्वनाथिक का वर्णन अधिक संक्षेपशुद्ध है ।

'कर्मसिद्धान्त' के विवेचन में शब्दीय सभी व्यवस्थाकारों ने बुद्धक-बुद्धक शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु विषय का स्वस्व नहीं परिचरित हुआ है । इस संक्षेप में बाध्यकार आ विवेचन पर्याप्त है । शैली को सरलता के कारण बाध्य में अंतर्लक्षित विवेचन सुगम तथा सुशोध्य बन गया है । बाध्यकार ने कर्मसिद्धान्त के संक्षेप में अष्टादशम-शेकनीय-निवर्तकवर्णक-कर्मसिद्धान्त को एक जन्म रसो रस देने वाला भाग है ।

द्वितीय-बाध्य के । अंतर्मुख में स्थित 'गुणवृत्तिविरोधत्' बाध्य को लेकर व्याख्याओं में मतभेद मिलता है । बाध्यकार के अनुसार विषयसुख विगुणात्मक है अतः यद्यपि योग के मुख्य सुख की अनुभूति होती है परन्तु यद्यपि: सभी विषय सुख मुक्त एक ही है । जब विषय सुख प्रदान करते हैं उस समय भी तीनों 'गुण'वर्तमान रहते हैं । जब विषय सुख देते हैं उस समय भी तीनों 'गुण'वर्तमान रहते हैं । केवल 'गुणों' में 'प्रधानभाव' और 'गौणभाव' का अन्तर होता है । तीनों गुण समान ही साथ रहते हैं एही आधार पर बाध्यकार ने 'गुणवृत्तिविरोधत्' बाध्य को स्वीकृत किया है । तत्त्ववेदा-रहितकार ने भी 'गुणों' में 'अविरोध' के सिद्धान्त को ही स्वीकृत किया है । योगशास्त्र-कार को इसी मत से सहमत होकर 'गुणों' में अविरोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और इन्होंने 'गुणवृत्तिविरोधत्' बाध्य को प्रमादिकवाक्य कहा है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति में उक्त व्यवस्थाओं के विषयोत्त बाध्य को स्वीकृत किया गया है । इनके अनुसार कल्प, रज और तमोगुण से उत्पन्न वृत्तिपरि परस्पर विरोधी होती हैं । अतः 'गुणों' में 'विरोधवृत्ति' को ही स्वीकार करना चाहिए । इसी अन्तर्गत पर राजमार्तण्ड-वृत्तिकार ने अपनी व्याख्या में 'गुणवृत्तिविरोधत्' बाध्य को स्वीकार किया है । अन्वय-कार ने राजमार्तण्डवृत्ति को ही स्वीकृत इस विषय का इतिहास किया है । विषयकार और योगसिद्धान्तसिद्धकार ने बाध्य के ही समान गुणों में 'अविरोध' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । स्वभिन्नाभाव-बाध्य में 'गुणवृत्तिविरोधत्' बाध्य स्वीकृत किया गया है इस संक्षेप में इस व्याख्या में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि परिणामसुख, गणसुख और संसार सुख तीनों ही परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । अतः इन भिन्न-भिन्न भावों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे कारण भी परस्पर भिन्न ही होंगे । अतः 'गुणों' में 'विरोध' बाध्य ही स्वीकार्य होना चाहिए ।

इस विवेचन के प्रसार पर 'मुनूव्यतिरोधान्' पाठ ही अधिक तर्कयुक्त जान पड़ता है अतः उसी पाठ स्वीकृत ही देना चाहिए ।

द्वय पदार्थों के संबन्ध में सभी व्यङ्ग्यकारों ने गुणों की ही द्वय माना है । 'द्वय' के लिए 'द्विव्यसम्ब' शब्द का भी उपयोग किया गया है । सभी व्याख्याओं में 'द्वय' तब का विवेचन सम्भव समान रख से ही किया गया है । योगवर्तिक में अथवा कुछ विशेष उल्लेख प्राप्त होता है तथा -- 'गुण' तो 'द्वय' है ही साथ में उनके विचार की 'द्वय' ही है क्योंकि जिस प्रकार 'ईस' के 'वर्ष' नाम भाग की 'ईस' ही कहना है उसी प्रकार गुणों का विचार भी गुणों से पूर्व ही नही प्रकृत गुण के ही विचार के अंतः अर्थ भी द्वय कहा जाना चाहिए ।

'प्रामाण्यम्' शब्द का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है -- त्रिविधाभा-  
विवेकव्यतिरोधान् से युक्त योगों की प्रथम पदव्यङ्ग्यकारों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृत नहीं गर्व है । उसी उक्त्यनुसार तात्-प्रकार की होती है । जिसका उल्लेख भाष्यकार, तत्त्ववेत्तारधीकार, योगवर्तिककार, राजमार्तण्डवृत्तिकार, विवरणकार, वास्तविकार मणिवक्त्रकार तथा अन्यत्र व्याख्याकारों ने समान भाव से किया है । सभी व्याख्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चित किया जाता है कि मणिवक्त्रकार ने अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन उपयुक्त शब्द तथा व्युत्पत्तिमिस्तक किया है । सर्वप्रथम इस व्याख्या में 'दान्त' शब्द की व्याख्या की गई है -- तथा प्रकृत भवसान-  
रक्ष क्त वाली जो है वह 'दान्त' अथवा 'वरम' है । 'मूमि' शब्द का अर्थ 'नवस्था' किया गया है । 'त्रिविधाभावविवेकव्यतिरोधान्' का अर्थ 'स्वर-धात्व्यतिरोधान्' किया गया है । इस प्रकार पूरे पद की व्याख्या प्रकृत करने हुए मणिवक्त्रकार ने इस पद का अर्थ इस शब्दों में किया है । 'स्वरधात्व्यतिरोधान्' होने पर योगों की प्रथम सात-प्रकार की प्रकृत अर्थों से युक्त चरमणीयों वाली प्रतीति है ।<sup>2</sup> इस विषय के संबन्ध में तथा अर्थ भाष्य के ही सङ्का है ।

1 - द्रष्टव्य - योगवर्तिक 194 F

2 - द्रष्टव्य - मणिवक्त्र पृ 38, 39 F

योगियों के स्वच्छ और उनकी उपयोगिता के संकल्प में सभी व्यवहार्यताएँ बहुत शीघ्र में एकत्र हो और बाध के शब्दों का यथावत् उपयोग हो करते हैं। किन्तु 'ज्ञान' और 'ज्ञानाभाव' के स्वच्छ शब्द, उनके दोनों के संकल्प में पर्याप्त मत-भेद देखने को मिलता है। बाधकार के अनुसार स्वाधी सुख देने वाली शरीर को स्थित धारण ही 'ज्ञान' है। 'यथासुखं' शब्द में कर्मधारय-नामनि निर्दिष्ट है जिसका अर्थ है - जिसमें सुख का अतिक्रमण न होने लगे वत अनतिक्रम सुख ही 'स्विर'-सुख<sup>1</sup> है। तत्त्ववेत्तार-वीकार ने 'स्विर' शब्द को पशुशुद्धि-तमसा के अर्थ में प्रयुक्त किया है तथा - 'स्विर' सुख<sup>2</sup> येन तत्।<sup>3</sup> जिसका अर्थ उक्त प्रकार है। निश्चल सुख देने वाली बहुरूप का ज्ञान 'स्विर-सुख' है। राजमार्तण्डकृति में भी वेदने के प्रकार को ही 'ज्ञान' कहा गया है। जिस प्रकार वेदने में 'स्विरसुख' को प्राप्ति होती है उस वेदने के प्रकार को 'स्विरसुखज्ञान' कहा गया है। मणिभवा में राजमार्तण्डकृति के ही दृष्टा व्याख्या की गई है। अन्य व्याख्याओं तथा योगदीपना, पारमार्तण्डकृति, योगसुप्रार्थवेदिनी, बाधको और स्वर्गीय-नारायण-शास्त्र में 'वेदने के प्रकार' को 'ज्ञान' कहा गया है। विशरण में इन व्याख्याओं से विधित् किन्तु स्व में वर्णन प्रस्तुत किया गया है तथा - जिस प्रकार के ज्ञान में मन तथा शरीर के अक्ष विपर रहते हैं यथात् मन और शरीर दोनों में लक्षणता प्राप्ति हो तथा जो सुखवाचक हो उक्त प्रकार के ज्ञान का अभाव करना पहिडर और उक्त प्रकार के वेदने को 'ज्ञान' कहा गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो बाधकार और योगवर्त्मिककार ने इस विषय का वर्णन समान रूप से किया है। किन्तु तत्त्ववेत्तार-वीकार का वर्णन उक्त विधित् को स्पष्ट करने में अधिक सहायक बन पड़ा है।

'ज्ञानाभाव' की सामान्य परिभाषा देने में सभी व्यवहार्यताएँ एकमत हैं। उसके अभावपर तत्त्वों की व्यवस्था में अन्वय कुछ न कुछ विन्न विचार मिलते हैं। यथा - ज्ञानाभाव के लक्षण में अत्र हुए 'उद्घात' शब्द की व्याख्या 'बाधकार' ने नहीं की गई है। तत्त्ववेत्तार-वीकार ने भी 'उद्घात' के विषय में कोई विवेचन नहीं किया है।

- .....
- |     |       |   |                     |
|-----|-------|---|---------------------|
| 1 - | इच्छा | - | आत्मभाष्य पृ० 261 f |
| 2 - | इच्छा | - | तदर्थे० पृ० 261 f   |
| 3 - | इच्छा | - | रा०मा०पृ० 255 f     |
| 4 - | इच्छा | - | विशरण पृ० 225 f     |



योगवर्तिककार ने 'उद्घात' शब्द का अर्थ इस प्रकार से दिया है - वायु का ऊपर  
 टकराना 'उद्घात' है । इन्हे नि 'दूरक' को ही 'प्रथम-उद्घात' माना है । 'कुम्भक' को 'द्वितीय-  
 उद्घात' माना है तथा 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' माना है । निमेषोन्मेषक एक मात्र नामक  
 पदार्थ द्वारा 16 बार श्वास का विशेष 'दूरक-उद्घात' है और 64 बार 'कुम्भक' को  
 'द्वितीय-उद्घात' कहा गया है । 32 मात्रा में 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' कहा गया है ।  
 शब्दकार स्वयं ने मात्राओं की संख्या को नहीं दिया है । केवल इतना गिना है कि कम  
 मात्रा तक के उद्घात को 'द्विउद्घात' कहते हैं, उससे अधिक मात्रा वाली को 'मध्यम-उद्घात'  
 और सबसे अधिक मात्रा वाले को 'तोज्ञ-उद्घात' कहते हैं । लक्ष्येश्वरदीकार ने 36 बार  
 श्वास, श्वास की टकराहक को 'प्रथम-उद्घात' कहा है, 72 बार की टकराहक को  
 'द्वितीय-उद्घात' और 108 बार को 'तृतीय-उद्घात' कहा है । राजयज्ञसंह्युक्ति में ही  
 केवल 'उद्घात' शब्द की बतलाया ही गई है । उद्घातविषयक मात्राओं का उल्लेख नहीं  
 किया गया है । 'उद्घातशब्द की बतलाया इन शब्दों में ही गई है ।' नतीके के मुल से देरित  
 वायु का धार से टकराना 'उद्घात' है । जिसको बार वायु धार से टकराती है, उतने  
 ही 'उद्घात' बनते हैं ।

शिवकथा में 'उद्घात' शब्द का नामलेख भी नहीं किया गया है । शालतोषार  
 ने ही 'उद्घात' शब्द की बतलाया नहीं की है किन्तु तीनों उद्घातों की मात्राओं का  
 उल्लेख किया है । इन्हे नि 12 मात्रा तक को प्रथम या द्विउद्घात, 24 मात्रा तक को  
 द्वितीय या मध्य-उद्घात और 36 मात्रा तक को तृतीय या तोज्ञ-उद्घात कहा है ।  
 विनरन्धकार ने संख्याओं के द्वारा परीक्षित करने पर इतनी संख्या तक श्वास, श्वास की  
 किया करने पर प्रथम-उद्घात होता है जिसको 'द्विउद्घातनाम' दिया है । इसी तरह  
 द्वितीय-उद्घात या मध्यम-उद्घात और तृतीय या तोज्ञ-उद्घातों से ब्राह्मणियों की मन्त्र  
 स्थिति, मध्यम स्थिति तथा तोज्ञ स्थिति का पता चलता है ।

प्राणाधारों के वैदिक संस्य में पूर्व के तीन प्राणाधारों को सभी ब्रह्मण्यकारों ने  
 सूत्र को ही मंडित स्फोकार किया है । यद्यपि प्राणाधार के विवेचन में थोड़ा बहुत अन्तर  
 विद्यार्थ पड़ता है । शब्दकार ने चतुर्धराणाधार का कोई नाम नहीं दिया है । इसके  
 संस्य में केवल इतना कहा है कि वायु तथा प्राण्यन्तर प्राणाधारों का अतिग्रहण करने  
 वाला चतुर्ध-प्राणाधार होता है । 'रेचक' और 'दूरक' को श्रुतियों के विरुद्ध होने पर दोनों  
 का पूर्ण विरोध ही चतुर्ध-प्राणाधार है । इत्यन्त-प्राणाधार वाली तृतीय-प्राणाधार और  
 चतुर्ध-प्राणाधार में भेद यह है कि तृतीय में प्रलोचन प्रवृत्त रहता है और चतुर्ध

प्राणाधार में श्रुतियुक्त ही प्रवृत्त होता है । - - - '3' - 'इच्छ' - 'विकल्प' कुं 869 f  
 1 - इच्छ - योगयोग 868 f  
 2 - इच्छ - रणयोग 861 f

तत्त्ववेत्तारवीकार ने चतुर्थप्राणायाम का विवेचन साध्यकार को ही प्रतिष्ठित किया है । तृतीय और चतुर्थ-प्राणायाम का वैशिष्ट्य बताने हुए लिखते हैं — तृतीय में वेद का तार्किक द्वारा वेद विना स्वरकार के ही प्रयत्न में श्वास और प्रवस की गति को अवरोध किया जाता है । चतुर्थप्राणायाम में अतोच्चम पूर्वक अधिक प्रयत्न से रेचक, पूरक का पूर्ण-निरोध होता है । योगवार्तिक में स्तम्भबुद्धि-प्राणायाम को 'कुम्भक' नाम दिया गया है । रेचक, पूरक और स्तम्भ-प्राणायामों का वर्णन साध्यकार से मिलता जुता है परन्तु 'कुम्भक' के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में अनुपलब्ध है । 'कुम्भक' के बारे में वार्तिककार ने लिखा है कि — यह रेचक, पूरक का प्रतिक्रमण कर स्वयमेव रहता है इस प्रकार का प्राणायाम ही चतुर्थप्राणायाम है जिसे 'केवल-कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम 'वैशिष्ट-सहित' से लिया गया है । केवल-कुम्भक-प्राणायाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह 'रेचक' और 'पूरक' की गति न तो वेद के परिच्छिन्न है न फल से परिच्छिन्न है और न ही श्वासे से परिच्छिन्न है । प्रत्युत अपनी इच्छा से यह महत् कर्म और अव्यक्त रहता है । तृतीय-प्राणायाम जिसका नाम इन्धेनि 'श्लोककुम्भक' दिया है इससे चतुर्थ-प्राणायाम में वेद का निरूपण साध्य से मिलता जुता है ।

राजमार्तण्डबुद्धि में ही प्राणायाम के चार चैवों का उल्लेख किया गया है । इन्धेनि प्रथम चैव के साथ 'बुद्धि' शब्द को संयुक्त किया है । यथा 'रेचक-बुद्धि', 'पूरक-बुद्धि', 'कुम्भकबुद्धि' और 'केवल-कुम्भकबुद्धि' । शीघ्रमा में ही प्राणायामों के नाम के साथ 'बुद्धि' शब्द संयुक्त है परन्तु प्राणायामों का नाम राजमार्तण्डबुद्धि से किन्ना है । यथा — 'वाह्यबुद्धि', 'आध्यात्मबुद्धि', 'स्तम्भबुद्धि' और 'चतुर्थप्राणायाम' । योगसूत्रार्थवेधिवी और योगसिद्धान्तमिच्छका में शीघ्रमा के ही सङ्गा वर्णन किया गया है । स्वामिनारायणसाध्य में 'रेचक', 'पूरक', 'स्तम्भबुद्धि' और 'केवल-कुम्भक' के चैव से चार चैव प्राणायाम के किये गए हैं । विद्यारण्यकार ने भी प्राणायामों का नाम शीघ्रमा को ही प्रतिष्ठित किया है । चतुर्थ-प्राणायाम के वर्णन में वेद का निरूपण सभी व्याख्याकारों के अनुसार इस प्रकार है — साध्यकार ने प्राण की गति के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थप्राणायाम' माना है । तत्त्ववेत्तारवीकार ने अधिक प्रयत्न से रेचक और पूरक के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है और राजमार्तण्डबुद्धि-कार ने रेचक, पूरक के सङ्गा निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है । नीचों ४५ व्याख्याओं में निरोध के प्रयत्न में अन्तर शब्दतः परिलक्षित होता है । योगवार्तिककार ने इस प्राणायाम का वर्णन किन्ना ही शैली में किया है । इन्धेनि 'रेचक' और 'पूरक' के अतिक्रमण को 'चतुर्थ-प्राणायाम' कहा है ।

शास्त्रकार ने दोनों प्राणायामों के क्रम-वर्तक अथवा को-चतुर्थ-प्राणायाम स्वीकृत किया है। इन्होंने 'चतुर्थ-प्राणायाम' को 'साम्बुत्तिविशेष-स्थ-प्राणायाम' भी कहा है। विश्वरूपकार ने शब्द की ही नीति विवेचन किया है। उक्त सभी व्याख्याकारों की व्याख्या का परीक्षण करने के उपरान्त योगवार्तिक में व्याख्यात विवेचन ही अधिक पूर्ण तथा समुचित है। वेदों विषय का निरूपण सभी व्याख्याओं में ठीक ही किया गया है परन्तु विषय का विश्लेषणात्मक निरूपण योगवार्तिक में ही प्राप्त होता है। इस व्याख्या में सर्वप्रथम प्राणायाम की परिभाषा ही गई है तत्पश्चात् प्राणायाम का वर्गीकरण और उसके परवर्त्तु उनका यथोचित विवेचन दिया गया है। तृतीय प्राणायाम को 'मिममुष्क' नाम दिया गया है। यह नाम इस व्याख्या में ही उपलब्ध है अन्यत्र नहीं है।

कुछ द्रष्टव्यों से अन्य व्याख्यायें भी जलना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यथा - राजमार्तण्डवृत्ति में 'उद्यात' शब्द की व्याख्या ही गई है जब कि योगवार्तिक, शास्त्राचार्य, शास्त्रती, विश्वरूप, श्रीमन्नारायणशास्त्र, योगवीर्यकाण्ड में 'उद्यात' की परिभाषा नहीं दी गई है। यज्ञांगों का निरूपण अथवा विष्णु-निकम व्याख्याकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। तत्त्ववेत्तारथी और शिष्यका में उद्यात की परिभाषा ही गई है। जतः केवल योगवार्तिक को ही इस विषय के निरूपण के लक्ष्य में सबसे उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता है श्रेष्ठ बल्कि व्याख्याओं में कुछ न कुछ नयी व्याख्या प्राप्त है जिसके द्वारा सूत्र में निरूपित प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट होता है।

धारणाविषय को सभी व्याख्याओं में सम्प्रज्ञान का 'अन्तरंग' और असम्प्रज्ञत का 'धीरंग' माना गया है। 'अन्तरंग' शब्द का अर्थ अथवा कुछ व्याख्याओं में विष्णु-निकम रूप में किया गया है। शास्त्रकार ने 'अन्तरंग' शब्द की व्याख्या नहीं की है। तत्त्ववेत्तारथीकार ने धारणाविषय को सम्प्रज्ञानसमीप का 'अन्तरंग' 'समानविषयत्व' ध्येयत्व के रूप में स्वीकार किया है। राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार 'अन्तरंग' शब्द स्वस्व का निष्कारक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। योगवार्तिक के अनुसार 'अन्तरंग' का तात्पर्य है 'साक्षात्कार' अर्थात् धारणाविषय सम्प्रज्ञानसमीप के साक्षात्कारक हैं। शिष्यकार ने तत्त्ववेत्तारथी के ही मत का अनुसरण किया है। शास्त्रतीकार ने शब्द के अनुसार ही व्याख्या की है। जतः शास्त्रती में ही 'अन्तरंग' शब्द का विवेचन नहीं किया गया है। योग-विद्वान्मत्तचिन्महा में

- १ - इष्टव्य - १०५०५० २६४ F  
 २ - इष्टव्य - ११०५०५०५० २६६ F  
 ३ - इष्टव्य - ११०५०५० ५० २६४ F

'अन्तरंग' का अर्थ साक्षात्-रूप से सहायक या उपकारक माना गया है । योगवीथिका और पारंगतयोगसूत्रश्रुति के अनुसार चारणाविषय सम्प्रदायसमाधि में सर्वथा विद्यमान रहने के कारण ही सम्प्रदायसमाधि के 'अन्तरंग' कहे गए हैं । स्वस्मितारायणपञ्चम्य के अनुसार साक्षात्सम्भावक के अर्थ में 'अन्तरंग' शब्द का प्रयोग हुआ है । चारणाधि सम्प्रदायसमाधि का साक्षात्-रूप से सम्पादन करते हैं इसी लिए इनमें सम्प्रदायसमाधि का 'अन्तरंग' कहा गया है । चारणाधि सम्प्रदायसमाधि के 'अन्तरंग' हैं इस विषय का समुचित विवेचन योगशास्त्रिक में ही प्राप्त होता है । योगशास्त्रिक में चारणाविषय को सम्प्रदायसमाधि का 'बोज' कहा गया है । चारणाविषय के द्वारा ही सम्प्रदायसमाधि की स्थिति होती है । चिन्त इनके सम्प्रदायसमाधि नहीं हो सकती । अतः इनमें सम्प्रदायसमाधि का 'भूतकारण' अथवा 'बोज' कहा गया है । ये ही चारणाविषय सम्प्रदायसमाधि के 'बीडरंग' हैं क्योंकि अन्तःकालसमाधि 'निर्बोज' होती है । यह समाधि धैर्याभ्यास-समाधि है अतः चारणाधि-अथ सम्प्रदाययोग के 'बोज' अथवा 'अन्तरंग' नहीं हो सकते । ये चारणाविषय परम्परया सम्प्रदायसमाधि की प्राप्ति में सहायक होते हैं अतः सम्प्रदायसमाधि के 'बीडरंग' हुए ।

योगसाधनाशास्त्र में होने वाले चित्त के परिणामों के वर्णन के दृष्टांत में श्री व्याख्याकारों ने मतभेद है । 'निरवेय-परिणाम' को अधिकारी व्याख्याकारों ने अन्तःकालसमाधि के अन्तर्गत स्वीकार किया है । 'समाधि-परिणाम' और 'एकान्तपरिणाम' के विषय में मतभेद द्विभेदबोधक होता है । भास्कराचार्य ने 'समाधि-परिणाम' को 'अंगकृतसमाधि' में और 'एकोग्रता-परिणाम' को 'सम्प्रदायसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया है । लक्ष्मणेश्वर शिष्य ने 'समाधि-परिणाम' को 'सम्प्रदायसमाधि' में अथवा 'योग' के प्रारम्भिक काल में और 'एकान्तपरिणाम' को 'परिनिष्ठित-सम्प्रदायसमाधि' में स्वीकृत किया है । राजमातङ्गश्रुति के अनुसार तीनों परिणाम एकान्तबुद्धिसन्निकर्षित में ही होते हैं । इन तीनों परिणामों की स्थिति सम्प्रदायसमाधि में होती है । राजमातङ्गश्रुतिकार का मत यहाँ लक्ष्मणेश्वर तथा चिन्त है इन्होंने तीनों परिणामों को सम्प्रदायसमाधि के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है ।

- 
- |     |          |   |              |
|-----|----------|---|--------------|
| 1 - | दृष्टव्य | - | योगसूत्र १०१ |
| 2 - | दृष्टव्य | - | योगसूत्र १०२ |
| 3 - | दृष्टव्य | - | योगसूत्र १०३ |
| 4 - | दृष्टव्य | - | योगसूत्र १०४ |
| 5 - | दृष्टव्य | - | योगसूत्र १०५ |

योगवर्त्मिक के अनुसार अस्तव्यस्त और सम्प्रदाय दोनों समाधिपूर्वों में 'निरोध-परिणाम' होता है । 'समर्थपरिणाम' को 'योगांगकृत-समाधि' की पारम्परिक अवस्था में स्वीकार किया गया है । 'परिनिष्ठित-योगांगसमाधि' में 'एकाग्रता-परिणाम' को स्वीकृत किया गया है । मधिराजकार ने 'निर्वीज-रूप' 'असम्प्रदायसमाधि' में 'निरोधपरिणाम' को स्वीकार किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'सम्प्रदायसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकृत किया है । 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रदायसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है । योगदीपिकाकार ने 'निरोधपरिणाम' को 'असम्प्रदायसमाधि' में स्वीकृत किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'वृत्तसमाधि' की अवस्था का परिणाम माना है । एकाग्रतापरिणाम को ज्ञानसमाधि का उत्तरकालीन परिणाम माना है । भारतवर्षयोगसूत्रकृति में योगवर्त्मिक की ही मति विवेचन किया गया है । स्वामिनारायणनाथ ने 'निरोधपरिणाम' 'सम्प्रदायसमाधि' में स्वीकार किया गया है और 'समाधिपरिणाम' 'असम्प्रदायसमाधि' में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रदायसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है ।

सुनार्थवैधिमो के अनुसार 'निरोध-परिणाम' 'असम्प्रदायकालीन' तथा 'निर्वीज-समाधि' का परिणाम है । 'समादेह-परिणाम' और 'एकाग्रतापरिणाम' को 'सम्प्रदायसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है । योगसिद्धांतसमीक्षका के अनुसार 'समाधिपरिणाम' 'योगांगसमाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' 'वृत्तसमाधि' को परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है । विवरण के अनुसार 'निरोध-परिणाम' 'सकार-ज्ञानावस्था' का परिणाम है । 'समर्थपरिणाम' 'सम्प्रदायसमाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' भी समाधिस्थिति का ही परिणाम है ।

उक्त विवेचन का अनुशीलन करनेके उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जित्त के परिणामों की स्थिति के संबंध में सभी व्याख्याओं में मिश्रित विचार उचित हैं परन्तु योगवर्त्मिक के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं में कुछ कमो रह गाने है । यह यह है कि सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आधार पर निरोध-परिणाम को स्थिति सम्प्रदाय और असम्प्रदायसमाधि दोनों में ही होने चाहिए । क्रौंठिक वृत्तियों का निरोध जो दोनों ही समाधिपूर्वों में होता है । इस आधार पर केवल योगवर्त्मिककार का ही निरवधान सुमानुकुल है याही कियों और व्याख्याकार का नहीं । सुमानुकुल होने के कारण

1 - इष्टव्य - योगांग पृ 289 f

2 - इष्टव्य - - बही पृ 290 f

योगवार्तिककार का निश्चय अधिक सही प्रतीत होता है । यों उद्यो तेष मयी का मत है परन्तु दृष्टिकोण में किञ्चित् कमी रह गयी है जिसको पूर्ण केवल योगवार्तिक से ही होती है ।

अथ अन्त में चतुर्थांश में वर्णित विधियों के संक्षेप में विचार किया जा रहा है । -- 'निर्माणकथ' और 'निर्माणचित्त' के वर्णन के संक्षेप में सभी व्याख्याकारों का यहाँ तक एकमत है कि योगो तथा विश्व संबंधित-सिद्धियों से संबंध प्रकार के निर्माणकथ बनाने हैं । यहाँ तत्त्ववेधारवोकार का मत शरीरों से निम्न है । तत्त्ववेधारवोकार ने क्रम से ही सिद्धि प्राप्त वैशेषिकके 'योग' निर्माणकथ नहीं माना है । ये 'निर्माणकथ' और 'निर्माणचित्त' सार प्रकार का मानते हैं । 'निर्माणकथ' और 'निर्माणचित्त' के संदर्भ में विद्वान्मनु का विचार विशिष्टतापूर्ण है । जलान्तरपरिणाम मत, तुरंग या अन्त प्रकार के वैशेष से जो संबंधित हो सकता है अर्थात् विश्व योग अपनी सिद्धियों के द्वारा जब जैसे शरीर का निर्माण करता चाहते हैं कर लेते हैं । प्रत्येक निर्माणकथ, चित्त होने हैं । 'निर्माण - चित्तों' को इन्होंने 'निर्माणमन' भी कहा है । 'मन' कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है । निर्माणमन की रचना के साथ ही 'सुदृष्ट' और 'संस्कार' का भी निर्माण हो जाता है । संक्षेप में यही वार्तिककार का इस विषय से संबंधित विशेष विवेचन है । यह विवेचन केवल योगवार्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार, तत्त्ववेधारवोकार तथा राजमार्कण्ड्य सुतकार को व्याख्यातों की तुलना में इनको व्याख्या का विवेचन विशेषतापूर्ण है और उचित जो है श्रेष्ठ 'निर्माणकथ' और 'निर्माण-मन' की रचना होने पर बड़ी अज्ञानता-तत्त्वों की जो रचना अवश्य है । इस दृष्टि से इनको व्याख्या अन्य व्याख्यातों की तुलना में अधिक उचित तथा सार्थक है । निर्माण-चित्तों के संदर्भ में एक 'नारायण-चित्त' को वर्णित जो सभी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है ।

धर्मिक-समाधि का विवेचन भाष्यकार व्यास ने जीतव्यसिद्धि किन्तु स्वप्न रूप में किया है । भाष्यकार की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए योगवार्तिक तत्त्ववेधारवो और भास्वती नामक व्याख्याओं का परिशीलन सर्वत्र अनुशीलन आवश्यक है । 'धर्मिकसमाधि' के संदर्भ में शब्द हुए 'अनुशील' शब्द के अर्थ का सत्य-ज्ञान उक्त व्याख्याओं से ही प्राप्त होता है । निरन्तरविवेकप्रति होने के उपरान्त 'सर्वत्रस्थान' तथा 'सर्वत्रस्थानिभ्यामुत्सृज्य' एक अवलम्बियों की प्राप्ति होती है किन्तु अब योगी इन सिद्धियों के प्रति अनासक्त भाव हो (अनुशील) होकर केवल विवेकप्रति में ही गीत रहता

हे तर्को धर्ममैत्र-समाधि' होतो हे । 'धर्ममैत्र-समाधि' सम्प्रदाययोग को परात्मज्ञान हे । इस विषय का प्रतिपादन सभी व्याख्याकारों ने किया तथा पर्याप्त किया है । अतः यह निश्चित करना कि कौन सी व्याख्या इस विषय का सर्वथा में सत्य है कदाचित् बहुत मुष्कर कार्य है ।

क्रम के स्वभाव का वर्णन यदि तुलनात्मक दृष्टि से किया जाये तो विधायाध्यात्मिकता को दृष्टि से कई व्याख्याएँ उचित जाल पावती हैं । भाष्यकार ने इस विषय का बहुत सुन्दर तथा समुचित वर्णन किया है । भाष्य को बहुत लेने के बरबाद इस विषय का खोर्द भी और अस्पष्ट नहीं रह जाता है । अतः अन्य दृष्टियों को सम्पादना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । सभी दृष्टियों का अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाष्यकार के प्रतिरक्षण मीमांसककार ने ही वस्तुतः विषय का वर्णन अत्यन्तसुस्पष्टता के साथ किया है । मीमांसक में वर्णन को शैली ही प्रभावपूर्ण तथा श्रेष्ठ है ।

अतः में केवल्य के स्वभाव का विवेचन किया गया है । भाष्यकार ने सूत्र के अन्वय पर केवल्य का विवेचन चारों-पादों में किया है । समाधिपाद में केवल्य के स्वभाव का तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है । साधनपाद में प्रकृति, पुरुष के मधोमात्रिक का केवल्य माना गया है । तृतीय अर्थात् विकृतिपाद में केवल्य की स्थिति का निरूपण किया गया है और चतुर्थपाद में केवल्य का परिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थपाद में गुणों को दृष्टि से केवल्य का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि किस प्रकार 'गुण' अपने कारण 'विकृति' में लीन हो जाते हैं । गुणों के प्रकृति में लीन होने के उपरान्त गुणों से विचित्र पुरुष ही 'केवल्य' की स्थिति का नाम प्राप्त करता है । इस प्रकार चतुर्थपाद में ही 'केवल्य' का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है । भाष्यकार की तो नरक अन्य व्याख्याकारों ने भी चारों-पादों में केवल्य विषयक निरूपण प्रस्तुत किया है ।

अतः में 'सर्व-योग' वर्णन का सौम्य तुलनात्मक विवेचन अभिहित है । 'सर्व' और 'योग' में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । अतः 'सर्व' और 'योग' की अलग-अलग मानना अनिष्टपूर्ण तथा अधिकपूर्ण है । इस संस्य में ही यह कहा गया है - 'सर्वयोगात् प्रथमं न पश्चिमतः' । योगवर्णन को संक्षेप के सर्व 'उत्तरवर्ती' या 'उत्तरसर्व' क हा जाये तो अनुचित न होगा । 'सर्व-वर्णन' के 25 तर्कों की योगवर्णन में भी माना गया है । एक विविधता और गुण वर्णन है और यह है 'ईश्वर' रस 26 में तत्त्व को भी माना गया । 'योग' वर्णन में 'ईश्वर' की भी

माना गया है इसके लिए 'पुरुष-विवर्ध' 'बध' का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार 'सख्य' और 'योग' दोनों शब्द समान हैं ।

'सख्य' और 'योग' दोनों ही पारम्परिकी वर्तन हैं । इन वर्तनों के अनुसार उत्पत्ति और विनाश नहीं होता । योगवर्तन के अनुसार पुरुष में शान, शान्त, सुख, दुःख धर्म और अर्थमर्तव्य कुछ भी नहीं होते । पुरुष सुख्य होता है परन्तु बन्धुन के साथ तात्कालिक के कारण वह अपने वास्तविक स्वस्थ को भूल कर बुद्धिधर्मियों के रश्म का ही बन्धित होता है । जब विवेकवर्तन द्वारा पुरुष को प्रकृत और पुरुष का विधिकत प्राप्त होता है तब चित्त की समस्त क्रियाएँ वक्ष्योक्त-मावापन्न हो जाती हैं तिनसे चित्त निश्चितक अथवा श्रुतिस्वरूप हो जाता है और तब वास्तविक योगों से विपुक्त पुरुष अपने स्वस्थ में अवस्थित होकर मोक्ष प्राप्त करता है । 'मोक्ष' संख्यी यही विवेकम योगवर्तन में प्राप्यते है ।



राष्ट्रीय ग्रन्थों की सूची  
 १९६९-७०

- 1 - आधुनिक विज्ञानियों और भारतीय धर्म में उनका स्थान । ले० डा० सुरेशचन्द्र जीवास्वामी । लोकभारती प्रकाशन, प्रतापगढ़ - 1969 ।
- 2 - धर्म-दर्शन । ले० बीमानन्द । प्रकाशन संस्था - सुवर्णा विभाग, उत्तर प्रदेश 1958 ।
- 3 - धर्म - विधर्म । ले० राहुल सांकृत्यायन । पुस्तक - जे०के०शर्मा, प्रतापगढ़ तथा जर्मनप्रेश, प्रतापगढ़ 1947 ।
- 4 - भारतीय द्वापारयुगकाली - ले० व० श्रीकृष्णबलरावचार्य । योनिप प्रकाश प्रेश विश्वेश्वरगंज, बनारस दि० 1940 में प्रकाशित ।
- 5 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रम् - सत्यावक, रामानन्दकवचद्वारा । भारतीय द्वापार - कथन से 1969 में प्रकाशित ।
- 6 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रम् - व्याख्याकार स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनि । प्रकाशक चोखम्बा सङ्ग्रहालय सीरीज । वाराणसी ।
- 7 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रों की तुलना-योगलोक - सत्यवक, विश्वानन्द विदेह । जगधर से 1969 में प्रकाशित ।
- 8 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रविवरणम् - ले० शंकरदेवकावचनपीठम् । मद्रास से 1952 में प्रकाशित ।
- 9 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रम् - आधुनिक विचारधारा - मन्मथेश्वर जी - विज्ञानविश्वकुल योगधर्मिकीय प्रतिष्ठान - व्यासभाष्यसमेतम् । भारतीय विश्वविद्यालय प्रकाशन । वाराणसी से 1971 में प्रकाशित ।
- 10 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रम् - श्रीमद्देव प्रणीत राजमार्तण्डतुलसीदास । सत्यावक स्वर्गीय व० रुद्रदेव शर्मा । प्रकाशक सुरेन्द्र कुमार शर्मा । 1960 ।
- 11 - धर्मतत्त्वज्ञानसूत्रम् - मंडीर्क व्यासदेव प्रणीत भाष्य तथा राजीर्क श्रीमद्देव प्रणीत तुलसीदास । प्रकाशक श्री मदनमाल लक्ष्मीनिवास चण्डक । सन् 1961 में जगधर से प्रकाशित ।

- 12- ब्रह्मसूत्रों के वैभव - पाथों का तुलनात्मक अध्ययन । ले० रामकृष्ण । 1960 में प्रकाशित ।
- 13- भारतीय तन्त्र-विद्वान् - ले० जगदीश चन्द्र जैन, प्रकाशक राजकमल विश्वविद्यालय लखनऊ । बम्बई ।
- 14- भारतीय दर्शन । ले० बाबुसाहेब गैरोला । लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
- 15- भारतीय दर्शन भाग-1 - ले० डॉ० राधाकृष्णन अनुवादक ए० नन्दकिशोर गौरीशंकर । 1969 में चेन्नई से मुद्रित ।
- 16- भारतीय दर्शन, ले० श्री० के० मातल । भारतीय ज्ञान, इलाहाबाद । 1961 में प्रकाशित ।
- 17- भारतीय दर्शन की भूमिका - ले० रामचन्द्रकाष्ठेय । प्रकाशक - जोतीशाल बनारसीवास सन् 1969 ई ।
- 18- भारतीय विचारधारा, ले० मधुकर । भारतीय ज्ञानपीठ कक्षा ।
- 19- भारतीय दर्शन - ले० आचार्य डॉ० मनमोहन उपाध्याय । मुद्रक - सुर्यशान ।
- 20- भारतीय दर्शन में वेदान्त का स्थान । ले० डॉ० श्री कृष्ण लक्ष्मी । डॉ० आचार्य विद्याभवन वाराणसी ।
- 21- शिवाय - ले० रामानन्दजी । दामोदरदास गोस्वामी द्वारा सन् 1903 में डॉ० आचार्य संस्कृत सीरीज से प्रकाशित ।
- 22- योगसूत्र व्याख्यान - ले० आचार्य डॉ० सुबोध चन्द्र शिवाय । प्रकाशक संस्कृत भवन - 1971 ई इलाहाबाद ।
- 23- योग दर्शन - सत्यावक वेदमूर्ति संपोषिष्ठ । प्रकाशक डॉ० श्रीरामदास आचार्य प्रथम स्वरूप - 1964 ई ।
- 24- योगदर्शनम् - योगसूत्रार्थवेदिकी और योगसिद्धान्तसम्बन्धक माणिक व्याख्यानो से संकलित । ले० नारायणचर्करी - प्रकाशक डॉ० आचार्य सीरीज बनारस से - 1911
- 25- योगदर्शनम् - भाषागोपाल - नागोजी कृष्णकृष्णसिंह । निर्णयसागर बम्बई लुकराज नागोजी द्वारा प्रकाशित - 1917 ई ।

- 26- योगसूत्र - वाच - कोश, ले० बलानवास - 1938 ।
- 27- योगदर्शनम् सर्वोच्च कृत्तिकम् - पं०श्यामि हरिप्रसाद परमहंस ।
- 28- तौकिक संस्कृत साहित्य - ४०वी०श्रीय - जगन्नाथ श्री धारवात शास्त्री -  
बौद्धिक सौरीज बनारस - 1967 ।
- 29- वात्स्यायिन शब्द संहिताम् - मयादर्शनम् - ले० श्यामे द्वापरिकावत शास्त्री ।
- 30- अर्थयोगदर्शन - गेष्वाग्निदासोवर शास्त्री द्वारा २०१० 999। बसन्त संवत् १९०१ में प्रकाशित ।
- 31- भाष्यनारायणशब्द - ले० मत्स्य कृष्णवत्सनाचार्य - योनिभक्तशा वेद विवेकवरगज बनारस सिटी से सन् 1939 में प्रकाशित ।
- 32- साहित्य शिरका - ले० ईश्वरकृष्ण ।
- 33- साहित्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार - ले० साध्या हरिप्रसाद जेशी । प्रकाशक पौड्या संस्कृत सौरीज बनारसी ।
- 34- <sup>श्री विश्वनाथिकम् - श्रीधरनाथ चरणान्तरीय, इलाहाबाद, बनारसवासी ।</sup>  
साहित्यदर्शन की ऐतिहासिक परिचर - लेखक - डॉ० अश्वमेधनाथ मिश्र
- 35- सरस्वतीकाव्यकरण - भोजवेषप्रणीत
- 36- साहित्यदर्शन - सत्यानन्द - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ - पं० श्रीरामनाथ साध्या - प्रकाशक संस्कृत संस्थान वरेली - 1964 ।
- 37- साहित्यदर्शन का इतिहास - ले० विद्यासागर वेदरत्न, श्री पं० उदयवीरशास्त्री मयासिर्ष, साहित्ययोगलेखी, विद्वान्साध्या । मुद्रक - श्री पं० रामचन्द्र जी श्री०४०, संभासक - सांख्यिक भेष, बाटोबी हाउस, हरियाणज, देहली ।
- 38 - साहित्यतन्त्रकोशमुदी - प्रभा की डिम्बी व्याख्या । व्याख्याकार - डॉ० साध्यावत्सनाथ मिश्र । प्रकाशक - सत्य प्रकाशन - बलरामपुर हाउस, बलरामपुर - 1966 ।
- 39- साहित्यदर्शन की ऐतिहासिक परिचर । डॉ० अश्वमेधनाथ मिश्र । प्रकाशक सत्य प्रकाशन, बलरामपुर - 1967 ।

- 40- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - ले० रामजी उपाध्याय, एम०ए०  
डी०एल० । प्रकाशक - रामनारायणलाल बेनीवाल ।
- 41- पूर्वयोग - श्री नीलनोकरल गुप्त - जून 1946 ।
- 42- पारंगतयोगवर्षान्न - भारतीय विद्या प्रकाशन - 1969 ।
- 43- लौकिक संस्कृत साहित्य - ले० ए०बी०श्रीवा - अनुवादक - श्री हारचन्द्र शर्मा  
बोलाभा संस्कृत सीरीज - 1967 ।
- 44- 'मित्र बानी' (वाचस्पति विरोचक) जयराजकी दरबन्हा ।

\*

45. A Study of Yoga. By Jajneshar Ghosh, Published 1933.
46. A History of Indian Philosophy By S.N. Das Gupta V.I
47. A Dictionary of Philosophy . Published in 1967.
48. A History of theSanskrit Literature. By Dr. V. Vardachari, Publisher Ram Narain Lal Beni Press, 1960.
49. An Introduction to Indian Philosophy by Satishchandra Chatterjee, and Dhirendra Mohan Datta. Published By Sibandrenath, Calcutta University Press, May 1960.
50. Biographies and Philosophies of a few eminent Philosophers. Gauhati.
51. Bases of Yoga. By Sri Aurebindo, Publication- Arya Publishing House 1941.
52. Bibliography of Encyclopedias of Indian Philosophy. Moti Lal Banarsi Das Publication Vol. I, 1961.

53. Classical Samkhya. By Anima Sen Gupta.  
Published Lucknow, 1961.
54. History of India and Philosophy. Vol. II P.U.  
Misra.
55. History of Poetics Vol. I. By S.K.De.
56. History of Philosophy Eastern and Western Vol. I  
Editorial Board Sarva Palati Radhakrishnan, 1952.
57. Indian Epistemology By Jwala Prasad.
58. Indian Philosophy Vol. II, By Dr. Radha Krishnan.
59. Indian Literature .By Winternits.
60. Introduction to Indian Philosophy. By, Dutta  
Chatterjee.
61. Indian Philosophy. (A popular introduction) with a  
Foreword By Walter Ruben. Writer Debi Prasad  
Chattopadhyaya. May 1964
62. Lectures on Patanjali's Mahabhasya Vol. I  
By P.S. Subramanyam.
63. Lectures on Yoga and Vedanta. By. Sivanand.  
Publication The Sivanand Publication League. 1942.
64. Out Lines of Indian Philosophy By Hiriyanna.

65. Preface to the Samkhya Sutra Vritti. By Garve.
66. Philosophy of India. By Heinrich Zimmer. Printed in 1951, 1953.
67. Secrets of Patanjali Yogas. Published from Farrukhabad in 1969.
68. Sanskrit And Maha Rashtria . Asymposium, Edited by R.N. Danekar. Poona , 1972.
69. Samkhya System By A.B.Keith
70. Studies in Indian Literary History Vol. I,By P.K.Gode. Published Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1955
71. Sarva Darshna Sangraha. By Sayana- Madhava. Published By, The Bhendarkerkar Oriental Research Institute, Poona, 1951.
72. Samkhya Aphorism of Kapila. Translated by James R. Ballantyne.
73. The Yoga Aphorisms of Patanjali, By R.Mitra. Published by the Asiatic Society of Bengal Calcutta, 1883.

74. The Yoga Sutures of Patanjali By M.N.Drivedi,  
Published from Madras, 1954.
75. The Six Systems of Indian Philosophy by Max Muller  
Re-print, 1962.
76. The Nature of Mind, By G.P. Shukla.
77. The History and Culture of the Indian People.  
General Editor R.C. Majumdar, Published Bhartiya  
Vidya Bhavan, Bombay.
78. The Bhogas By B. Western Dossan.
79. The Aufrecht Catalogus Catalogorum Part I.
80. Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts  
Madras. Printed by Madras Government Press , 1927.
81. Raja Yoga By Yogi Ramacharka. By Yogi Publication  
Society.
82. The Essentials of Indian Philosophy. By M.Hiriyama.
83. The Study and Practice of Yoga. By Hurvey Day.
84. Yoga System of Patanjali. By Woods. Moti Lal  
Banarsai Das Publication 1920.

(8)

85. Yoga Philosophy, By S.N, Das Gupta, Published by  
The University of Calcutta, 1930.
86. Yoga Uniting East and West. By Yesudian and Hsieh.
87. Yoga Yajnavalkya, Edited by Sri Prehlad G. Divanji,  
Bombay, 1954.
88. Patanjali Yoga Sutra By Hengali Baba.

LIST OF JOURNALS:

89. Ganga Nath Jha Institute Journal.
  90. Calcutta University Journal.
  91. The Poona Orientalist.
  92. The Journal of the Bihar, Darbhanga.
  93. Journal of Oriental Research, Madras.
-